संतवाणी सटीक

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज

अखिल भारतीय संतमत-सत्संग-प्रकाशन

प्रकाशक
अखिल भारतीय संतमत-सत्संग-प्रकाशन-समिति
महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट,
भागलपुर : ३ (बिहार)

[सर्वाधिकार सुरक्षित]

प्रथम संस्करण : ३,००० प्रतियाँ (२०२४ वि० सं०)
द्वितीय संस्करण : ३,००० प्रतियाँ (२०३१ वि० सं०)
तृतीय संस्करण : ३,००० प्रतियाँ (२०३६ वि० सं०)
चतुर्थ संस्करण : ३,१०० प्रतियाँ (२०४३ वि० सं०)
पंचम संस्करण : ३,१०० प्रतियाँ (२०४६ वि० सं०)
षष्ठ संस्करण : ३,००० प्रतियाँ (२०५० वि० सं०)
सप्तम संस्करण : ३,१०० प्रतियाँ (२०५३ वि० सं०)
अष्टम संस्करण : ३,१०० प्रतियाँ (२०५८ वि० सं०)
नवम संस्करण : ३,१०० प्रतियाँ (२०६५ वि० सं०)

मूल्य—४० रुपये

मुद्रक :
शांति-संदेश प्रेस
महर्षि मेँहीँ आश्रम, कुप्पाघाट,
भागलपुर : ३ (बिहार) पिन-८१२००३
दूरभाष-०६४१-२४२७४९८

भूमिका

गुरु महाराज ने दृढ़ता के साथ यह ज्ञान बतलाया कि सब संतों का एक ही मत है। मैंने सोचा कि यदि बहुत-से संतों की वाणियों का संग्रह किया जाए, तो उस संग्रह के पाठ से गुरु महाराज की उपर्युक्त बात की यथार्थता लोगों को उत्तमता से विदित हो जाएगी। इसी हेतु मैंने यत्र-तत्र से उनका संग्रह किया। पहला संग्रह 'सत्संग-योग' के दूसरे भाग में छपवा दिया। उस संग्रह के बाद और भी संग्रह होता गया। 'सत्संग-योग' के छपवाने के बाद कुछ प्रेमी सत्संगीगण कहने लगे–'संतवाणी का संग्रह हुआ, बड़ा अच्छा हुआ; परन्तु इन वाणियों का अर्थ भी आप कर दें, तो और भी अच्छा हो।'

मुझको भी यह बात अच्छी लगी; परन्तु मैं उस काम को उस समय कर नहीं सका। सत्संग की ओर से 'शांति-संदेश' मासिक पत्र निकाला गया, जो अभी तक निकल रहा है। उस पत्र के प्रत्येक अंक में संगृहीत संतवाणी का अर्थ-सहित एक-एक भजन निकलना शुरू हुआ। यह काम सन् १९५० ई० से अनवरत रूप से अबतक होता आ रहा है। सम्भवतः १९६६ ई० में मेरे अति प्यारे और विश्वासी सत्संगी श्रीबाबू विश्वानन्दजी, एम० ए०, उपप्राचार्य, कोशी महाविद्यालय (जिला-मुंगेर, स्थान-खगड़िया) ने यह सुझाव दिया कि अबतक जितनी अर्थ-सहित संत-वाणियाँ 'शांति-संदेश' में निकल चुकी हैं, सबका संग्रह कर एक पुस्तकाकार में छपवा दिया जाए कि लोग उस पुस्तक से विशेष लाभ उठावें। 'शांति-संदेश' में वे अर्थ भिन्न-भिन्न अंकों में होने के कारण बिखरे पड़े हैं, जो लोगों के लिए अल्प लाभकारी हैं। इस हेतु से ही 'संतवाणी सटीक' नाम्नी पुस्तक छपवाई गई है।

संतों की वाणी संतों की अनुभूतियों और अनुभवों का अगम और अपार सिन्धु है। संतों का अनुभव योग-समाधि का अनुभव है, जो योग-अभ्यास की अन्तिम प्रत्यक्षता है, न कि केवल सोच-विचार का साहित्यिक अनुभव। ऐसे समुद्र में उसके ऊपरी

तल में भी गोता लगाना अति दुर्लभ है, फिर उसके अन्तर की तह के अंत तक पहुँचकर उसका पूर्ण ज्ञाता बनना विकट से भी विकट, दुर्लभ से भी दुर्लभ और अद्वितीय महान कार्य है। मैं तो अपने को उसके ऊपरी तल में भी गोता लगाने के योग्य नहीं बना सकता हूँ, केवल उस तल को शायद कभी-कभी छू भर पाता हूँ। तब संतवाणी का अर्थ कैसे कर सकूँगा, सो पाठक स्वयं समझकर जान लें। केवल प्रेमी सत्संगियों के आग्रह को मानने के लिए मुझसे संतवाणी का जो अर्थ हो सका है, सो लिख दिया। विज्ञजन कृपया मेरी ढिठाई और भूलों के हेतु मुझे क्षमा करें और सुधारकर पढ़ें। यदि विज्ञजनों में से दूसरे प्रकार का अर्थ कार्यापेक्षित विज्ञ पुरुष प्रकाशित करने का कष्ट करेंगे, तो मैं उनका आभारी अपने को मानूँगा और यह जानकर अति हर्षित होऊँगा कि उन्होंने जन-समूह पर विशेष कृपा करने का कष्ट उठाया है।

संतों ने ज्ञान और योग-युक्त ईश्वर-भक्ति को अपनाया। ईश्वर के प्रति अपना प्रगाढ़ प्रेम अपनी वाणियों में दर्शाया है। उनकी यह प्रेमधारा ज्ञान से सुसंस्कृत तथा सुरत-शब्द के सरलतम योग-अभ्यास से बलवती होकर, प्रखर और प्रबल रूप से बढ़ती हुई अनुभूतियों और अनुभव से एकीभूत हो गई थी, जहाँ उन्हें ईश्वर का साक्षात्कार हुआ और परम मोक्ष प्राप्त हुआ था। उनकी वाणी उन्हीं गम्भीरतम अनुभूतियों और सर्वोच्च अनुभव को अभिव्यक्त करने की क्षमता से सम्पन्न और अधिकाधिक समर्थ है। 'संतवाणी सटीक' में पाठकगण उसी विषय को पाठ कर जानेंगे।

संतवाणी को संग्रह कर लिखने में सत्संग-प्रेमी श्रीआनन्दजी 'विशारद' ने और इसके छपवाने में श्रीशिवकुमार तुलसी ने अथक परिश्रम किया है। मैं इनको धन्यवाद देता हूँ।

मकर पूर्णिमा
२०२४ विक्रम संवत्

सत्संग-सेवक
मेँहीँ

विषय-सूची

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
१.	योगी जालन्धर नाथ	१
२.	योगी मत्स्येन्द्र नाथ	१
३.	महायोगी गोरखनाथ	१-१२
४.	संत कबीर साहब	१३-१२५
५.	गुरु नानक साहब	१२५-१५२
६.	संत दादू दयाल	१५३-१६३
७.	संत चरणदास	१६३-१६५
८.	संत दरिया साहब (मारवाड़ी)	१६५-१६६
९.	संत दरिया साहब (बिहारी)	१६६-१७१
१०.	संत जगजीवन साहब	१७१-१७२
११.	संत पलटू साहब	१७२-१७८
१२.	संत गरीबदास	१७८-१७९
१३.	संत दूलनदास	१७९-१८०
१४.	संत सुन्दरदास	१८०-१८२
१५.	गोस्वामी तुलसीदास	१८३-१९५
१६.	संत सूरदास	१९५-१९८
१७.	संत तुलसी साहब	१९८-२०३
१८.	संत रैदास	२०३
१९.	संत धन्ना भगत	२०४
२०.	संत मलूक दास	२०५-२०७
२१.	संत भीखा साहब	२०८-२१०
२२.	संत राधास्वामी साहब	२१०-२११
२३.	जैन संत श्रीसिंगाजी	२११-२१२
२४.	बाबा कीनाराम	२१२-२१३
२५.	समर्थ स्वामी रामदास	२१३
२६.	संत शाह फकीर	२१३-२१४

क्रमांक	विषय	पृष्ठांक
२७.	संत सेवग दास	२१४-२१५
२८.	स्वामी निर्भयानन्द	२१५
२९.	संत स्वामी हरिदास	२१५-२१६
३०.	गुरु तेगबहादुर	२१६
३१.	संत बखना	२१७-२१८
३२.	परम भक्तिन मीराबाई	२१८-२२१
३३.	महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज	२२१-२२५

संतवाणी सटीक

योगी जालन्धर नाथजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

थोड़ो खाइ तो कलपै-झलपै, घणो खाइलै रोगी।
दुहुँ पखाँ की संधि विचारै, ते को बिरला जोगी॥

अर्थ—थोड़ा खाने से कष्ट होता है, झुँझलाता है और बहुत खाने से रोगी होता है। दोनों पक्षों के बीच का विचार करे अर्थात् न थोड़ा खाय और न विशेष खाय, ऐसा कोई बिरला योगी होता है।

योगी मत्स्येन्द्र नाथजी महाराज की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

अवधू रहिबा हाटे बाटे, रूख-बिरख की छाया।
तजिबा काम क्रोध और त्रिस्ना, और संसार की माया॥

अर्थ—हे अवधूतो ! हाट-बाट में और गाछों की छाया में रहना; काम, क्रोध, तृष्णा और संसार की माया का त्याग करना।

महायोगी गोरखनाथजी महाराज की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

बस्ती न शुन्यं शुन्यं न बस्ती, अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिखर मँहि बालक बोलहिं, वाका नाँव धरहुगे कैसा॥१॥
सप्त धातु का काया प्यंजरा, ता माहिं 'जुगति' बिन सूवा।
सत्गुरु मिलै त उबरै बाबू, नहिं तौ परलै हूवा॥२॥
आवै संगै जाइ अकेला। ताथैं गोरख राम रमेला॥
काया हंस संगि ह्वै आवा। जाता जोगी किनहुँ न पावा॥
जीवत जग में मुआ समाण। प्राण पुरिस कत किया पयाण॥
जामण मरण बहुरि बियोगी। ताथैं गोरख भैला योगी॥३॥
गगन मंडल में औंधा कूवाँ, जहाँ अमृत का वासा।
सगुरा होइ सो भर-भर पीया, निगुरा जाय पियासा॥४॥
गोरख बोलै सुणहु रे अवधू, पंचौं पसर निवारी।
अपनी आत्मा आप विचारो, सोवो पाँव पसारी॥५॥

ऐसा जाप जपो मन लाई। सोऽहं सोऽहं अजपा गाई ॥
आसन दिढ़ करि धरो धियान। अहनिसि सुमिरौ ब्रह्मगियान ॥
नासा अग्र निज ज्यों बाई। इड़ा प्यंगुला मधि समाई ॥
छह सै सहँस इकीसौ जाप। अनहद उपजै आपै आप ॥
बंक नालि में ऊगै सूर। रोम-रोम धुनि बाजै तूर ॥
उलटै कमल सहस्त्रदल वास। भ्रमर गुफा में ज्योति प्रकाश ॥६॥
खाये भी मरिये अणखाये भी मरिये। गोरख कहै पूता संजमि ही तरिये ॥७॥
धाये न खाइबा, भूखे न मरिबा। अहिनिसि लेबा ब्रह्म अगिनि का भेवं ॥
हठ न करिबा, पड़े न रहिबा। यूं बोल्या गोरख देवं ॥८॥
कै चलिबा पंथा, कै सीवा कंथा। कै धरिबा ध्यान, कै कथिबा ज्ञान ॥९॥
हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धीरे धरिबा पावं ॥
गरब न करिबा, सहजै रहिबा, भणंत गोरख रावं ॥१०॥
गोरख कहै सुनहु रे अबधू, जग में ऐसे रहणा।
आँखे देखिबा, काने सुणिबा, मुख थैं कछू न कहणा ॥
नाथ कहै तुम आपा राखौ, हठ करि बाद न करणा।
यहु जग है काँटे की बाड़ी, देखि दृष्टि पग धरणा ॥११॥
मन में रहना, भेद न कहना, बोलिबा अमृत वाणी ॥
आगिका अगिनी होइबा अबधू, आपण होइबा पाणी ॥१२॥

शब्दार्थ—बस्ती=निवास, भरती, भाव, सत्। शुन्यं=शून्य, खाली, रिक्त, रीता, अनिवास, अभाव, असत्। सिखर (शिखर)=चोटी, सिरा। गगन-सिखर=आकाश की चोटी, आकाश के ऊपर का अन्त, आकाश की सूक्ष्मता का अन्तिम अंश। बालक बोलहिं=बालक बोलता है, बालक के स्वर का शब्द या ध्वनि होती है। कैसा?=यह शब्द निषेधार्थक प्रश्न के रूप में है। सप्त=सात। धातु=शरीर को बनाये रखनेवाले पदार्थ—रक्त, रस, मांस, मेद, अस्थि (हड्डी), मज्जा और वीर्य। प्यंजरा=पिंजरा। काया=शरीर। सूवा=सुग्गा (जीवात्मा)। परलै (प्रलय)= विनाश, अत्यन्त दुःख। हंस=चैतन्य आत्मा। प्राण पुरिस (प्राणपुरुष)=चैतन्य आत्मा। पयाण (प्रयाण)=यात्रा। कत=कहाँ। बियोगी=त्यागी, सम्बन्ध छोड़नेवाला। ताथैं (तातैं)=इसलिए। भैला=हुआ। औंधा=उलटा; मुँह नीचे, पेंदा ऊपर। अमृत=जीवनी शक्ति, चेतन। सगुरा=गुरु के सहित। भर=पूरा। अबधू=साधु, योगी। पसर (प्रसार)= गहरी की हुई हथेली (गहरी की

हुई हथेली माँगने का चिह्न है)। पंचौं पसर=आँख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा; पंच ज्ञानेन्द्रियों के रूप, शब्द, गंध, रस और स्पर्श की माँग। निवारी=रोककर। सोवो पाँव पसारी=निश्चिन्त रहो। नासा=नाक। अग्र=आगे। ज्यों=जिस प्रकार। बाई (वायु)=हवा। इड़ा=बायीं ओर की वृत्ति। प्यंगुला (पिंगला)=दाहिनी ओर की वृत्ति। मधि (मध्य)=बीच। छ सै सहँस इकीसो=इक्कीस हजार छह सौ। अनहद=अन्तर के बहुत-से ध्वन्यात्मक शब्द। बंक=टेढ़ा। नालि=नल। बंक नालि=वह नल, जिसमें कठिनाई से प्रवेश किया जाय, सुषुम्ना। सूर=सूर्य। धुनि (ध्वनि)=ध्वन्यात्मक शब्द। तूर=तुरही बाजा। कमल सहस्त्रदल (सहस्त्रदल कमल)=सूक्ष्म जगत् का मण्डल, सहस्त्रार। भ्रमरगुफा=ब्रह्मरन्ध्र; वह सूक्ष्म मार्ग, जिसमें सुरत को ज्योति और भौंरे का गुंजार क्रमशः देखने और सुनने में आवे; जिस होकर गति हो तो ब्रह्म की ओर जाना हो। अणखाये=बिना खाये। संजमि=परहेजी। धाये=अघाकर, पेट पूरा-पूरा भरकर। अह=दिन। निसि=रात। ब्रह्म अगिन=ब्रह्म-ज्योति। भेवं=भेद। कंथा=गुदड़ी। हबकि=हड़बड़ा कर, जल्दी-जल्दी। ठबकि=उतावलेपन से, झटपट-झटपट। गरब=अहंकार। सहज=स्वाभाविक। भणंत=कहते हैं। आपा=होश-हवास, सुधबुध। बाद=तर्क, बहस। आगिका अगिनी=अत्यन्त क्रोधित। होइबा पाणी=पानी होना, ठण्ढा होना, नम्र होना।

पद्यार्थ—बुद्धि के परे और इन्द्रियों के ज्ञान के परे परम प्रभु परमात्मा ऐसा है, जो न भरती है और न खाली है। और उसका शब्द आकाश की चोटी पर बालक के स्वर के सदृश सुरीला होता है; उसका किस प्रकार नाम धरोगे? अर्थात् उसका किसी प्रकार नाम नहीं धर सकोगे।

अन्य संतों का भी विचार है कि उस परमेश्वर का नाम ही कैसे रखा जा सकता है? देखिये—

'जाका नाम अकहुआ भाई। ताकर कहा रमैनी गाई ॥'

—कबीर-बीजक

'जो कोई चाहै नाम, सौ नाम अनाम है।
लिखन-पढ़न में नाहिं, निःअच्छर काम है ॥'

—संत पलटू साहब

'तुलसी तोल बोल अबोल बानी, बूझि लखि बिरले लई ॥'

—संत तुलसी साहब

'एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानन्द परधामा॥'
—गोस्वामी तुलसीदासजी

'अघोषम् अव्यञ्जनम् अस्वरं च अकण्ठताल्वोष्ठम् अनासिकं च ।
अरेफ जातम् उभयोष्ठ वर्जितं यदक्षरं न क्षरते कदाचित् ॥'
—अमृतनाद उपनिषद्

परमात्मा केवल चैतन्य आत्मा से जाननेयोग्य है। वह ऐसा है कि न उसे हम बस्ती कह सकते हैं और न शून्य। न यह कह सकते हैं कि वह कुछ है (बस्ती) और न यह कि वह कुछ भी नहीं (शून्य) है। भाव (बस्ती), अभाव (शून्य), सत् और असत् दोनों से परे है। वह अलौकिक है। उसका शब्द अर्थात् नाम आकाश की चोटी–सृष्टि के आदि-अंश से अत्यन्त मधुर स्वर में ध्वनित होता है। अतएव वह वर्णात्मक नहीं है। वह ध्वन्यात्मक है और अकह है। आकाश-मण्डल में बोलनेवाला इसलिए कहा कि शून्य अथवा प्राकृतिक तत्त्वों से हीन भाव के पद में ही ब्रह्म का निवास माना जाता है। वहीं पहुँचने पर ब्रह्म का साक्षात्कार हो सकता है। वहीं आत्मा को ढूँढ़ना चाहिए। बालक इसलिए कि जिस प्रकार बालक पाप-पुण्य से अछूता होता है, उसी प्रकार परमात्मा भी है। शब्द की साधना करते हुए साधक अपने ब्रह्मरन्ध्र में ही क्रम से स्थूल ध्वनियों के मण्डल से होता हुआ सूक्ष्मतर ध्वनियों की चरम सीमा पर पहुँचता है और अंत में वह परमात्मा का साक्षात्कार कर पाता है॥१॥

यह शरीर-रूपी पिंजड़ा सात धातुओं से बना हुआ है। इसमें जीवात्मा युक्ति के न जाननेवाले सुग्गे के समान रहता है। यदि इस जीव को सद्गुरु मिलें, तो इसका उद्धार हो सकता है, नहीं तो यह जीव अत्यन्त दुःख भोगता रहेगा।

एक सुग्गे की कथा—एक पिंजड़े में एक पालतू सुग्गा बन्द था। राम-राम रटा करता था। संयोगवश एक भक्त योगी पुरुष वहाँ आया। उस सुग्गे को राम-राम रटता देखकर कहा कि रे सुग्गे! राम-राम के भजन से जीव संसार-रूपी पिंजड़े से छूट जाता है, तू इस पिंजड़े से क्यों नहीं छूट जाता? बात यह है कि तू युक्ति जाने बिना ही राम-नाम जपता है, इसलिए इस पिंजड़े से नहीं छूटता है। सुग्गे ने कहा—'हाँ बाबा! मैं युक्ति नहीं जानता हूँ। कृपया इसकी युक्ति मुझे

बता दो।' उस महापुरुष ने सुग्गे को प्राण-स्पन्दन बन्द करने की युक्ति बता दी और उससे कहा कि उसका थोड़ा-थोड़ा अभ्यास कर। जब इसका विशेष अभ्यास हो जाए, तब बहुत देर तक अपने प्राण-स्पन्दन को रोककर पिंजड़े में पड़ा रहना। तब तू इस पिंजड़े से निकाल दिया जाएगा। सुग्गे ने ऐसा ही किया। और एक दिन जब उसके मालिक ने देखा कि सुग्गा बिना हिले-डुले पिंजड़े में पड़ा है, तब उसने समझा कि सुग्गा मर गया है। उसने उसे पिंजड़े से निकालकर बाहर फेंक दिया। सुग्गा अपने को पिंजड़े से बाहर पाकर उड़ गया तथा सदा के लिए पिंजड़े के बन्धन से छूटकर स्वतंत्र विचरने लगा।

बाबा गोरखनाथजी महाराज कहते हैं कि हे शरीर में बद्ध जीव! तू प्राण-स्पन्दन रोकने का—बंद करने का अभ्यास करते हुए परमात्मा का भजन कर। तू शरीर के बंधन से रहित हो जाएगा। नहीं तो इस शरीर में रहते हुए अनेक जन्मों तक अत्यन्त दुःख भोगेगा। इसकी युक्ति जानने के लिए सद्गुरु की खोज कर और उनकी शरण ले। यदि सद्गुरु की कृपा होगी, तो दया करके वे कोई ऐसी युक्ति बता देंगे, जिससे बेड़ा पार लग जाएगा। प्राण को स्पन्दन-रहित करने की दो युक्तियाँ हैं। हठयोग में वर्णित प्राणायाम की युक्ति सापद (विघ्न, विपत्ति और कष्टवाली) है—

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥

—शाण्डिल्योपनिषद्

'जैसे सिंह, हाथी और बाघ धीरे-धीरे काबू में आते हैं, इसी तरह प्राणायाम अर्थात् वायु का अभ्यास कर वश में करना भी किया जाता है। प्रकारान्तर होने से वह अभ्यासी को मार डालता है।'

संतमत में संतों ने दृष्टियोग-साधन की जो युक्ति बतलायी है, उसके अनुसार प्राण-स्पन्दन का जो निरोध होता है, वह निरापद (विघ्न, विपत्ति एवं कष्ट से रहित) युक्ति है। शाण्डिल्योपनिषद् के कुछ श्लोकों को देखिये—

द्वादशाङ्गुल पर्यन्ते नासाग्रे विमलेऽम्बरे ।
संविद्दृशि प्रशाम्यन्त्यां प्राणस्पन्दो निरुध्यते ॥

'जब ज्ञान-दृष्टि (सुरत, चेतन-वृत्ति) नासाग्र से बारह अंगुल

पर स्वच्छ आकाश में स्थिर हो, तो प्राण का स्पन्दन रुद्ध हो जाता है।'

भ्रूमध्ये तारकालोकशान्तावन्तमुपागते ।
चेतनैकतने बद्धे प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।।

'जब चेतन अथवा सुरत भौंओं के बीच के तारक-लोक अर्थात् तारा-मंडल में पहुँचकर स्थिर होती है, तो प्राण की गति बन्द हो जाती है।'

चिरकालं हृदेकान्त व्योम संवेदनान्मुने ।
अवासनमनोध्यानात्प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।।

'हृदयाकाश में संकल्प-विकल्प और वासनाहीन मन से बहुत दिनों तक ध्यान करने से प्राण की गति रुक जाती है।'

दृष्टि-योग-साधन की युक्ति के संबंध में विशेष जानकारी के लिए किसी सच्चे गुरु की शरण में जाकर उनकी भक्ति करनी चाहिए; क्योंकि श्रीमद्भगवद्गीता में लिखा है–

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ।।

–अध्याय ४, श्लोक ३४

ध्यान में रख कि प्रणिपात से, प्रश्न और सेवा से तत्त्ववेत्ता ज्ञानी पुरुष तुझे उस ज्ञान का उपदेश करेंगे।'

शरीर के संग चेतन आत्मा स्थूल संसार में आता है, परन्तु स्थूल शरीर छोड़कर अकेले चला जाता है। इसलिए गोरख (शरीर में रमना अर्थात् भोग-विलास के लिए शरीर में ठहरना छोड़कर) राम में रमता है।

चैतन्य आत्मा शरीर के संग होकर इस स्थूल जगत् में आया। शरीर का संग छोड़कर जाते हुए योगी (चैतन्य आत्मा) को किसी ने नहीं पाया। वह (योगी) जीते-जी मृतकवत् संसार में रहता है। प्राण पुरुष (चेतन आत्मा) ने कहाँ यात्रा की है, इसको कोई नहीं जानता। जन्म लेना है, मरना है तथा पुनः शरीर का संबंध छोड़ना है–इसलिए गोरखनाथ योगी हो गये।

शरीर-सुख विषय-सुख है। इसमें अनित्यानन्द–नाशवन्त आनन्द है। इसलिए इसमें रमना छोड़कर सर्वव्यापी परमात्मा राम में रमो, इसमें नित्यानंद की प्राप्ति होगी। योगी पुरुष शरीर का संग छोड़कर चला

जाता है। उसको देवदूत और यमदूत आदि कोई भी नहीं पा सकते। वे तो उसी को पा सकते हैं, जो योगी नहीं है। यह (अयोगी) मृत्यु के अधीन होकर मृत्यु-शक्ति के कारण केवल स्थूल शरीर को ही अपनी इच्छा न रहते हुए भी छोड़ता है। इसका सूक्ष्म, कारण और महाकारण जड़ शरीरों से संग नहीं छूटता है और स्थूल जड़ शरीर में रहने की इच्छा भी नहीं छूटती है। अतएव उसे पुनः पुनः जन्म-द्वारा स्थूल शरीर का संग होता रहेगा और पुनः पुनः मृत्यु के समय उसको यमदूत पाते रहेंगे। परन्तु योगी पुरुष सत्संग, गुरु-सेवा एवं परमात्मा की प्राप्ति के प्रेम और साधन से कथित सब जड़ शरीरों के भोगों की आसक्ति और इच्छा को उनके दुःखद परिणाम, नश्वरता और मलिनता को जानकर पूर्ण रूप से त्याग देता है। अतएव गुरु और परमात्मा की कृपा से स्व-वश और स्वेच्छा से शरीरों के संग को छोड़ता हुआ जब वह जाता है, तब उसे कोई नहीं पा सकता है। उसके पुनर्जन्म का कारण मिट जाता है और वह परमात्मा को प्राप्त कर परम मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
—गीता, ८।१०

'जो मनुष्य मृत्यु के समय अचल मन से भक्तियुक्त होकर और योगबल से भौंहों के बीच में अच्छी तरह प्राण को स्थापित करता है, वह उस दिव्य परम पुरुष को प्राप्त करता है।'

वह योगी संसार में रहते हुए भी जीवन-काल में विषयासक्ति को त्यागकर इन्द्रियों के घाटों से अपनी चेतन-धारों को खींचता हुआ उन्हें केन्द्रित करता रहता है। इस प्रकार उसकी वृत्तियों का पूर्ण सिमटाव हो जाता है तथा सिमटाव के स्वाभाविक गुण के कारण उसकी ऊर्ध्वगति होती है। स्थूल शरीर से ऊँचे उठकर वह सूक्ष्म शरीर में प्रवेश करके रहता है; पुनः उस शरीर में परमात्मा के मिलन के प्रेम से प्रेरित होकर साधना में विशेष बढ़ता जाता है और सूक्ष्म, कारण तथा महाकारण शरीरों को भी पार कर जाता है। उसको इसकी आवश्यकता नहीं होती है कि कोई महान-से-महान देव अपने से या उसका कोई विशेष दूत उसके लिए कोई विमान लावे और किसी उत्तम लोक में उसको ले जाए। उनसे उसकी योग्यता और महानता विशेष हो जाती है।

वे उसके दर्शन भी नहीं पा सकते और उनके विमान की गति से उसकी निजी गति ही–जिससे वह अप्रयास ही विचरण करता है, अत्यन्त तीव्र होती है। वह अन्त में परमात्मा–सर्वगत ब्रह्म में मिलकर सर्वगत ही हो जाता है। तब वह मैत्रेय्युपनिषद् के इस वाक्यार्थ के तद्रूप हो जाता है।

गन्तव्य देशहीनोऽस्मि गमनादिविवर्जितः ।

'मुझे चलने के लिए स्थान नहीं है, मुझे चलना इत्यादि नहीं है।'

यह योग की सामर्थ्य है। शरीर के त्याग को ही मरण कहते हैं। उपर्युक्त प्रकार से जीवन-काल में ही वह योगी मृतकवत् रहता है और मृत्यु होने पर उसका प्राण-पुरुष कहाँ चला जाता है, उसको दूसरा नहीं जान सकता। जो ऐसा नहीं होता है, वह बार-बार जन्म लेता और मरता है; इसलिए योगी बनना चाहिए॥३॥

गगन-मण्डल (शून्य या ब्रह्मरन्ध्र) में उलटा कुआँ है, जिसमें अमृत का वासा है। जो गुरु के सहित है, वह पूरा-पूरा पीता है और जो गुरु-सहित नहीं है, वह प्यासा ही चला जाता है।

मनुष्य का मस्तक आकाश-मण्डल है। वह खोपड़ी से ढँका ऊपर से बंद है। मस्तक के भीतर प्रवेश करने के लिए नीचे से द्वार है, इसमें चेतन-रूप अमृत का वास है। जिसने किसी अच्छे गुरु की शरण ली है, वही जी भर अमृत पी सकता है; क्योंकि उसे पीने का उपाय गुरु ही बता सकते हैं। सगुरा या गुरुमुख गुरु-प्रदत्त युक्ति-द्वारा अभ्यास करके उस कुएँ में प्रवेश करता है और कथित अमृत को पूर्ण रूप से पीता है–भरपूर पीता है। जिसने किसी अच्छे गुरु को धारण नहीं किया, वह इस अमृत का पान नहीं कर सकता–प्यासा ही रह जाता है। यह चेतन-अमृत प्रथम ज्योति-रूप में ग्रहण होता है और दृष्टि-द्वारा इसका पान किया जाता है।

विद्वान् समग्रीवशिरो नासाग्र दृग्भ्रूमध्ये ।
शशभृद्बिम्बं पश्यन्नेत्राभ्याममृतं पिवेत् ॥४॥

–शाण्डिल्योपनिषद्

'विद्वान गला और सिर को सीधा करके नासिका के आगे दृष्टि रखते हुए भौंहों के बीच में चन्द्रमा के बिम्ब को देखते हुए नेत्रों से अमृत का पान करे।'

गोरखनाथजी कहते हैं–'हे अवधूत! पंच ज्ञानेन्द्रियों की माँगों को रोककर बहिर्प्रसार निवारण कर अपनी आत्मा का आप विचार

करो और निश्चिन्त होकर रहो॥५॥'

ऐसा जप मन लगाकर जपो कि सोऽहं-सोऽहं की वाणी के उपयोग के बिना अजपा जप हो जाए। आसन दृढ़ कर ध्यान धरो और दिन-रात ब्रह्मज्ञान का स्मरण करो। इड़ा और पिंगला के मध्यवाली सुषुम्ना नाड़ी में समायी हुई नासाग्र तक जिसका विस्तार है, (प्राणवायु का निवास नासारन्ध्रों से बारह-बारह अँगुल तक माना जाता है, इसी से वायु को द्वादशाङ्गुल भी कहते हैं) ऐसी वायु द्वारा जब इक्कीस हजार छह सौ जप (अजपा जप आठों पहर दिन-रात में निर्विघ्न—अटूट रूप से) हो, तो अनहद ध्वनि स्वयं उत्पन्न होती है, तब सुषुम्ना (बंक नालि) में सूर्य उगता है और अभ्यासी के रोम-रोम में अनहद ध्वनि की तुरही बजती है। जब सुरत या चैतन्य वृत्ति उलटकर बहिर्मुख से अन्तर्मुख हो पिण्डस्थ छह चक्रों से छूटती हुई सहस्त्रदलकमल में फिर निवास करती है, तब भ्रमरगुफा (ब्रह्मरन्ध्र) में आत्मज्योति का प्रकाश होता है।

स्वस्थ शरीर में इक्कीस हजार छह सौ श्वास एक दिन, एक रात—आठों पहर में चलते हैं। प्रति श्वास से अजपा जप करनेवाले की वृत्ति स्थूल विषयों को छोड़कर अन्तर्मुखी होती है और उसको अच्छी एकाग्रता प्राप्त होती है, तब वह अनहद नाद को अपने आप सुनने लगता है। अनहद नाद तो सदैव होता ही रहता है, पर वह बहिर्वृत्ति और मन की चंचलता के कारण नहीं सुनाई पड़ता है। नाद-श्रवण के अभ्यास को नादानुसंधान, सुरत-शब्द-योग और निर्गुण नाम-भजन वा नाम का ध्यान कहते हैं। इस साधन से मन की एकाग्रता की दृढ़ता तथा सुरत—चेतन-धार की ऊर्ध्वगति होते-होते उसकी पहुँच परमात्मा तक हो जाती है अर्थात् अभ्यासी को मोक्ष-प्राप्त हो जाता है। उपनिषदों में इसका अच्छा गुण-गान है। इस संबंध में नादविन्दूपनिषद् के कुछ श्लोक नीचे दिये जाते हैं—

मकरन्दं पिबन्भृंगो गन्धान्नपेक्षते यथा।
नादासक्तं सदा चित्तं विषयं न हि कांक्षति।
बद्धः सुनाद गन्धेन सद्यः संत्यक्त चापलः॥

'जिस प्रकार मधुमक्खी मधु को पीती हुई उसकी सुगंध की चिन्ता नहीं करती है, उसी प्रकार जो चित्त नाद में सर्वदा लीन रहता है, वह विषय-चाहना नहीं करता है; क्योंकि वह नाद की मिठास में

वशीभूत है तथा अपनी चंचल प्रकृति को त्याग चुका है।

नादग्रहणतश्चित्तमन्तरंग भुजंगमः ।
विस्मृत्य विश्वमेकाग्रः कुत्रचिन्न हि धावति ॥

'नाग-रूप चित्त नाद का अभ्यास करते-करते पूर्ण रूप से उसमें लीन हो जाता है और सभी विषयों को भूलकर नाद में अपने-आपको एकाग्र करता है।'

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ।
नियामन समर्थोऽयं निनादो निशितांकुशः ॥

'नाद मदान्ध हाथी-रूप चित्त को, जो विषयों की आनन्द-वाटिका में विचरण करता है, रोकने के लिए तीव्र अंकुश का काम करता है।'

नादोऽन्तरंग सारंग बन्धने वागुरायते ।
अन्तरंगसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा ॥

'मृग-रूपी चित्त को बाँधने के लिए यह नाद जाल का काम करता है। समुद्र-तरंग-रूपी चित्त के लिए नाद तट का काम करता है।'

नास्ति नादात्परो मंत्रो न देवः स्वात्मनः परः ।
नानुसन्धेः परा पूजा न हि तृप्ते परं सुखम् ॥

—योगशिखोपनिषद्, अ० २

'नाद से बढ़कर कोई मंत्र नहीं है, अपनी आत्मा से बढ़कर कोई देवता नहीं है, नाद वा ब्रह्म की अनुसंधि (अन्वेषण वा खोज) से बढ़कर कोई पूजा नहीं है तथा तृप्ति से बढ़कर कोई सुख नहीं है।'

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्रज्यमिच्छता ॥

—वराहोपनिषद्, अ० २

'योग-साम्राज्य की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों को सब चिन्ता त्यागकर सावधान होकर नाद की ही खोज करनी चाहिए।'

बीजाक्षरं परं विन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम् ।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ॥

—योगशिखोपनिषद्

'परम विन्दु ही बीजाक्षर है। उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अविनाशी ब्रह्म) में लय हो जाता है, तब निःशब्द परम पद है।'

अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते ॥

—योगशिखोपनिषद्, अ० ३

'अक्षर (अविनाशी) परम नाद को शब्दब्रह्म कहते हैं।'

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

—ब्रह्मविन्दूपनिषद्

'दो विद्याएँ समझनी चाहिए; एक तो शब्दब्रह्म और दूसरी परब्रह्म। शब्दब्रह्म में जो निपुण हो जाता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है।'

शब्द खोजि मन वश करै, सहज योग है येहि।
सत्त शब्द निज सार है, यह तो झूठी देहि ॥
यही बड़ाई शब्द की, जैसे चुम्बक भाय।
बिना शब्द नहिं ऊबरै, केता करै उपाय ॥

—संत कबीर साहब

'साकत नरि सबद सुरति किउ पाइअै।
सबद सुरति बिनु आइअै जाइअै ॥'
'धुनि अनंदु अनाहदु बाजै।
गुरि सबदि निरंजनु पाइआ ॥'

—गुरु नानकसाहब

केवल अजपा जाप के द्वारा ही अनाहत नाद नहीं सुना जा सकता, बल्कि ध्यानविन्दूपनिषद् से उद्धृत श्लोकों से यह विदित होता है कि इसके लिए विन्दुध्यान भी एक विशेष उत्तम साधन है। विन्दु-ध्यान दृष्टियोग के द्वारा किया जाता है। देखने की शक्ति को दृष्टि कहते हैं। दृष्टियोग में केवल इसी शक्ति का प्रयोग होना चाहिए। आँख, डीम और पुतलियों को किसी प्रकार का कष्ट नहीं हो, इसके लिए सावधान रहना चाहिए। इसके साधन की क्रिया किसी अच्छे गुरु की सेवा करके जान लेनी चाहिए॥६॥

बहुत खाने से मृत्यु होती है तथा न खाने से भी मृत्यु होती है। गोरखनाथजी कहते हैं—'हे पुत्र! संयम करनेवाले ही—मध्यम मार्ग—न अधिक खाना और न कम खाना का अनुसरण करनेवाले दुःख से छूटते हैं॥७॥ अघाकर भर पेट मत खाओ, भूखे मत मरो, दिन-रात ब्रह्मज्योति का भेद या रहस्य लेते रहो अर्थात् ऐसी गुप्त युक्ति का अभ्यास करते रहो, जिससे ब्रह्म-ज्योति प्राप्त होती है॥८॥'

गोरखनाथजी कहते हैं—'शरीर के साथ हठ या जिद्द मत करो और न बेकाम—निठल्ले बैठो रहो। या मार्ग पर चलो, या गुदड़ी सीओ, या ध्यान करो, या ज्ञान का कथन करो—इस भाँति सर्वदा अपने को संयम में रखो।'

हड़बड़ाकर मत बोलो, उतावलेपन से मत चलो। मार्ग चलने में धीरे-धीरे पैर रखो। अहंकार मत करो। सहज स्वाभाविक स्थिति में रहो—गोरखनाथजी महाराज ऐसा कहते हैं।

गोरखनाथजी कहते हैं—'हे अवधूत! सुनो, संसार में ऐसे (तमाशबीन बनकर) रहो—आँख से देखो, कान से सुनो; पर मुख से कुछ मत कहो (स्वयं उस प्रपञ्च में मत पड़ो)।'

गोरखनाथजी कहते हैं—'तुम होश-हवास (सुध-बुध) रखो, हठ करके तर्क (बहस) मत करो। यह संसार काँटे की बाड़ी है, दृष्टि से देखकर पैर रखो अर्थात् समझ-बूझकर व्यवहार करो। मन में रहो अर्थात् मौन रहो, भेद मत कहो, मीठा वचन बोलो। अबुद्ध लोग अत्यन्त क्रोधित होंगे, तुम अपने को ठण्ढा—नम्र बनाये रखना।

॥ मूल पद्य ॥

हँसिबा खेलिबा धरिबा ध्यान, अहनिसि कथिबा ब्रह्मज्ञान।
हँसै खेलै न करै मन भंग, ते निहचल सदा नाथ के संग॥
अजपा जपै सुंनि मन धरै, पाँचो इन्द्रिय निग्रह करै।
ब्रह्म अगनि में जो होमे काया, तास महादेव बन्दे पाया॥
धन जोवन की करै न आस, चित्त न राखै कामिनी पास।
नाद-बिन्द जाके घटि जरै, ताकी सेवा पारबति करै॥

पद्यार्थ—हँसो, खेलो, ध्यान करो और दिन-रात ब्रह्मज्ञान का कथन करो। जो हँसे, खेले; परन्तु मन को भंग न करे अर्थात् ध्येय तत्त्व में मन को लगाकर रखे, वे स्थिर होकर सदा नाथ के संग में रह सकते हैं। 'अजपा का जप करे, मन को शून्य में धरे' पाँचो ज्ञानेन्द्रियों को रोके रहे और 'जो ब्रह्माग्नि में काया को होमे' महादेव तिनके पैर का वन्दन करे। धन और जवानी की आशा नहीं करे, अपने चित्त को स्त्रियों के पास में नहीं रखे। नाद और विन्दु जिनके घट में जलते रहते हैं अर्थात् जिनके घट में ज्योतिर्विन्दु और ब्रह्मनाद की अनुभूतियाँ होती रहती हैं, उनकी सेवा पार्वती करे।

॥ गोरखनाथ की वाणी समाप्त ॥

संत कबीर साहब की वाणी

॥ मूल पद्य, विरह कौ अंग, साखी ॥

लम्बा मारग दूरि घर, विकट पंथ बहु मार ।
कहौ सन्तौ क्यूं पाइये, दुर्लभ हरि दीदार ॥

शब्दार्थ—विकट=भयंकर, दुर्गम। मार=आघात, चोट। दुर्लभ= कठिनाई से मिलने-योग्य। दीदार=दर्शन।

अर्थ—रास्ता लम्बा और दुर्गम है। (चलनेवाले को) बहुत चोट लगती है, घर दूर है। हे संतो! कहो, कठिनाई से मिलने-योग्य हरि-दर्शन कैसे प्राप्त हो?

सारांश—कबीर साहब हरि-स्वरूप को 'नैना बैन अगोचरी' अर्थात् इन्द्रिय, मन, बुद्धि और वचन-ज्ञान से नहीं प्राप्त होनेयोग्य, केवल चेतन आत्मा से पहचानने और पानेयोग्य मानते हैं। अतएव चेतन आत्मा शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से भिन्न होकर उस हरि का दर्शन पावेगी। चेतन आत्मा अर्थात् जीव को शरीर, इन्द्रिय और अन्तःकरण से छूटते हुए जाना पड़ेगा। यह पथ बड़ा लम्बा और दुर्गम है। विषय-वासना के आघातों को सहन करते हुए और उन वेगों में नहीं बहते हुए उस रास्ते पर चलना हो सकता है। इस मार्ग का और इसपर चलने का जहाँ अन्त हो जाएगा, वहाँ ही घर अर्थात् कैवल्य पद (जड़-विहीन चेतन पद) है। इसी मंदिर में चेतन-आत्मा को नेत्रादि इन्द्रियों-द्वारा नहीं, बल्कि अपने आपे से हरि-दर्शन होगा।

॥ मूल पद्य, परचा कौ अंग ॥

अनहद बाजै नीझर झरै, उपजै ब्रह्म गियान ।
आवगति अन्तरि प्रगटै, लागै प्रेम धियान ॥

शब्दार्थ—नीझर=ज्योति। आवगति=अविगत, सर्वव्यापी।

प्रेममय ध्यान लगने से अन्दर में ज्योति की वर्षा हो, तो अनहद ध्वनि प्रत्यक्ष होकर ब्रह्मज्ञान उत्पन्न होता है और सर्वव्यापी परमात्मा अन्तर में प्रकट हो जाता है।

॥ मूल पद्य, पीव पीछांणन ॥

संपटि माँहिं समाइया, सो साहिब नहिं होइ ।
सकल मांड में रमि रह्या, साहिब कहिये सोइ ॥

रहै निराला मांड थैं, सकल मांड ता माँहिं।
कबीर सेवै तास कूँ, दूजा कोई नाहिं॥
जाकै मुँह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप।
पुहुप बास थैं पतला, ऐसा तत्त अनूप॥

शब्दार्थ—संपटि=संपुट, डिब्बा, गर्भ। मांड=पसार, रचना, विश्व। रूपक=प्रतिकृति, प्रतिमा।

पद्यार्थ—जो गर्भ में समाता है अर्थात् जो माता के गर्भ में आकर जन्म लेता है, वह प्रभु (परमात्मा) नहीं है। जो सारी सृष्टि में व्यापक है, मेरा प्रभु वह है। सब सृष्टियों से वह भिन्न रहता है, सब सृष्टियाँ उसके अन्दर हैं; कबीर उसी की भक्ति करता है, दूसरे किसी की नहीं।

जिसको मुँह और माथा नहीं है, जिसको रूप नहीं है, न प्रतिमा है, फूल की गन्ध से जो झीना (सूक्ष्म) है, वह परमात्मा ऐसा उपमा-रहित पदार्थ है।

॥ मूल पद्य, रमैणी ॥

नैना बैन अगोचरी, श्रवनां करनी सार।
बोलन कै सुख कारनै, कहिये सिरजनहार॥

शब्दार्थ—बैन=वचन। अगोचरी=अगोचर, इन्द्रियों को अप्रत्यक्ष, अव्यक्त। श्रवनां=सुनना। श्रवनां करनी=नाद सुनना, सुरत-शब्द-योग का अभ्यास करना। सार=असल।

पद्यार्थ—परमात्मा नेत्र और वचन से अगोचर है। उसको प्राप्त करने के लिए सुरत-शब्द-योग (नादानुसंधान) का अभ्यास करना असल काम है, बोलने के सुख के लिए उसे सिरजनहार कहते हैं।

॥ मूल पद्य ॥

बाबा जोगी एक अकेला, जाकै तीर्थ व्रत न मेला॥ टेक॥
झोली पत्र विभूति न बटवा, अनहद बेन बजावै।
माँगि न खाइ न भूखा सोवै, घर अँगना फिरि आवै॥
पाँच जना की जमाति चलावै, तास गुरू मैं चेला।
कहै कबीर उनि देस सिधाये, बहुरि न इहि जग मेला॥

शब्दार्थ—पाँच जना=पाँच तत्त्व।

पद्यार्थ—हे बाबा ! योगी एक-अकेला रहता है। उसको तीर्थ, व्रत और मेला नहीं है अर्थात् इनका वह अनुगामी नहीं होता है। उसको झोली नहीं है, भिक्षा-पात्र नहीं है, वह भस्म नहीं लगाता है और उसको बटुआ नहीं है। वह अनहद-वेणु बजाता है अर्थात् वह सुरत-शब्द-योग का अभ्यास करता है। वह माँगकर नहीं खाता है और न भूखा सोता है; घर-आँगन में फिर आता है अर्थात् उद्यम करके खाता है और घर-आँगन में रहता है। पाँच तत्त्वों की जमात को चलाता है अर्थात् शरीर को काबू में रखकर व्यवहार करता है—उसके गुरु का मैं चेला हूँ। कबीर साहब कहते हैं—वे (योगी) मोक्षधाम को चले गये। फिर वे संसार के मेले में नहीं आएँगे।

॥ मूल पद्य ॥

राम निरंजन न्यारा रे, अंजन सकल पसारा रे ॥ टेक॥
अंजन उतपति वो ॐकार, अंजन मांड्या सब विस्तार ।
अंजन ब्रह्मा शंकर इंद, अंजन गोपी संगि गोव्यंद ॥
अंजन वाणी अंजन वेद, अंजन कीया नाना भेद ।
अंजन विद्या पाठ पुरान, अंजन फोकट कथहि गियान ॥
अंजन पाती अंजन देव, अंजन की करै अंजन सेव ।
अंजन नाचै अंजन गावै, अंजन भेष अनंत दिखावै ॥
अंजन कहौं कहाँ लग केता, दान पुंनि तप तीरथ जेता ।
कहै कबीर कोइ बिरला जागै, अंजन छाड़ि निरंजन लागै ॥

शब्दार्थ—निरंजन=माया-रहित। अंजन=माया। न्यारा=अलग, पृथक्, भिन्न, अनोखा। मांड्या=फैलाया। इंद=इन्द्र। गोव्यंद=गोविन्द, श्रीकृष्ण। वाणी=शब्द। भेद=प्रकार। फोकट=असार। पाती=पत्र। अनन्त=असंख्य। बिरला=कोई एक। जागै=सचेत होवै।

पद्यार्थ—अरे लोगो ! माया-रहित राम (माया से) भिन्न है। सारी सृष्टि माया का पसार है। सृष्टि की उत्पत्ति और ॐकार माया है। सृष्टि विस्तार में फैली हुई है। ब्रह्मा, शंकर और इन्द्र माया हैं और गोपी के संग में गोविन्द माया है। शब्द और वेद माया है। माया ने अनेक प्रकार की रचना की है; विद्या, पाठ और पुराण माया है। असार ज्ञान (अनुभव-रहित ज्ञान वा अप्रत्यक्ष ज्ञान) माया है। पत्र और देव माया है तथा माया, माया की सेवा करती है। माया नाचती है, माया गाती है,

माया असंख्य अर्थात् अनगिनत वेश दिखाती है। कहाँ तक कितना माया का बखान करें–दान, पुण्य, तप, तीर्थ जितने हैं, सब माया हैं। कबीर साहब कहते हैं कि कोई एक सचेत होते हैं, वह माया को छोड़कर निर्माया में लगते हैं।

सारांश–ॐकार और दूसरे सब नाम–शब्द तथा ब्रह्मा, शंकर, इन्द्र, गोपी, गोविन्द आदि सब रूप माया हैं। दान, पुण्य, तप, तीर्थ आदि सब सुकर्म, पूज्य, पूजक और पूजन की सब सामग्रियाँ अर्थात् सारी विविधताएँ माया हैं। सचेत पुरुष माया की सब विविधताओं से अपनी आसक्ति को छोड़कर परम प्रभु परमात्मा में लगते हैं।

॥ मूल पद्य ॥

अंजन अलप निरंजन सार, यहै चीन्हि नर करहु विचार ॥ टेक॥
अंजन उतपति बरतनि लोई, बिना निरंजन मुक्ति न होई ॥
अंजन आवै अंजन जाइ, निरंजन सब घटि रह्यो समाइ ॥
जोग ध्यान तप सबै बिकार, कहै कबीर मेरे राम अधार ॥

शब्दार्थ–अलप=अल्प, थोड़ा। बरतनि=व्यवहार। लोई=लोग। बरतनि लोई=लोक-व्यवहार। बिकार=दोष, परिवर्तित रूप। अधार= आधार, अवलम्ब।

पद्यार्थ–माया (की विशेषता) कम है, माया-रहित सार है। हे मनुष्य ! इसको पहचानकर विचार करो। उत्पन्न होना और लोक-व्यवहार माया है। माया-रहित (राम) के बिना मुक्ति नहीं होती है। माया आती है और जाती है। माया-रहित (राम) सब घट में समाये हुए हैं अर्थात् सर्वव्यापक हैं। योग-ध्यान-तप, सभी माया के परिवर्तित रूप हैं, जैसे सोने का परिवर्तित रूप कंगन है। योग-ध्यान-तप के अभ्यास-काल में ईश्वर की प्रत्यक्षता नहीं होती है। अभ्यास की समाप्ति पर ईश्वर की प्रत्यक्षता होती है। कबीर साहब कहते हैं कि राम मेरे अवलम्ब हैं।

योग-ध्यान-तप के पूर्ण अभ्यास के बिना इनकी समाप्ति नहीं होती। इसलिए ये अनुपयोगी और बेकार नहीं हैं। जैसे काँटे से काँटा निकालकर दोनों काँटों को फेंक देते हैं, उसी प्रकार योग-ध्यान-तप-रूप माया के सारे माया-आवरणों को हटाते हैं और इनसे परे हो जाते हैं; परन्तु राम से परे नहीं हुआ जा सकता। फलस्वरूप राम का आधार बना रहता है।

टिप्पणी–योग के पंच नियमों में से तप एक नियम है,

अतएव यह योग का सहायक है। ध्यान योग का सातवाँ अंग है। इसकी पूर्णता में समाधि की प्राप्ति होती है, जो योग का आठवाँ और अंतिम अंग है। समाधि में माया-रहित सार परम तत्त्व, सर्वव्यापी राम प्रत्यक्ष प्राप्त होते हैं। अपने सब अंगों के सहित योग यहाँ समाप्त हो जाता है। साधक को इस स्थिति में योग-साधन के प्रयास की आवश्यकता नहीं रहती। वह उस प्रयास से मुक्त हो जाता है। वह उस परम पद की स्थिति प्राप्त कर चुकता है, जिस स्थिति में रहते हुए योग-कर्मादि समस्त साधनाओं को त्यागकर निर्विकारी होकर रहता है। जबतक साधक-विशेष अल्प वा अणुमात्र भी विकारी वा दोष-युक्त रहता है, तभी तक योग-साधन की उसको आवश्यकता रहती है। जैसे वस्त्र या शरीर की मैल को साबुन के द्वारा दूर करके साबुन को भी अलग कर देते हैं और शरीर में चुभे हुए काँटे को दूसरे काँटे से निकालकर दोनों काँटों को त्याग देते हैं, उसी प्रकार योगाभ्यास-द्वारा अपने सारे दोषों को दूर करके योगाभ्यास के प्रयास को भी छोड़ देते हैं। अतएव योग भी अंत में त्यागने-योग्य ही सिद्ध हुआ। इसलिए योग, ध्यान और तप; विकार कहे गये हैं; परन्तु जिस स्थिति पर चढ़कर योग का त्याग हो जाता है, उस स्थिति पर चढ़े बिना, नीचे गिरे हुए सविकारी रहकर, अपनी अल्पज्ञता से योग को विकार समझकर, इसका साधन नहीं करे, तो यह संसार-बंधन से कभी मुक्त नहीं होगा। स्वयं कबीर साहब कहते हैं—

'सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के वचन समाई हो।
मेली चित्त चराचित्त राखो, रहो दृष्टि लौ लाई हो॥'

—कबीर-बीजक

'जोग जुगत से रंग महल में, पिय पायो अनमोल रे॥'

—कबीर-शब्दावली, भाग १

॥ मूल पद्य, रमैणी ॥

अलख निरंजन लखै न कोई। निरभै निराकार है सोई॥
सुंनि अस्थूल रूप नहिं रेखा। द्रिष्टि अद्रिष्टि छिप्यो नहिं पेखा॥
बरन अबरन कथ्यौ नहिं जाई। सकल अतीत घट रह्यो समाई॥
आदि अंत ताहि नहिं मधे। कथ्यौ न जाई आहि अकथे॥
अपरंपार उपजै नहिं विनसै। जुगति न जानिये कथिये कैसे॥

जस कथिये तस होत नहिं, जस है तैसा सोइ।
कहत सुनत सुख ऊपजै, अरु परमारथ होइ॥

शब्दार्थ—सुंनि=शून्य, खाली, आकाश। अस्थूल (अ+स्थूल)= सूक्ष्म, झीना, बारीक। द्रिष्टि-अद्रिष्टि=दृष्टि-अदृष्टि, दृष्टि से नहीं देखा हुआ। पेखा=देखा। बरन=रंग। अबरन=रंग-बिना। अतीत=पृथक्, परे। अपरंपार=वार-पार-रहित, असीम। जुगति=युक्ति, उपाय। परमारथ=परमार्थ, मोक्ष।

पद्यार्थ—जिस अदृश्य, माया-रहित (राम) को कोई नहीं देखता है, वही निर्भय और निराकार है। वह आकाशवत् सूक्ष्म है। उसके रूप-रेखा नहीं है। वह दृष्टि से देखा हुआ नहीं है, अप्रकट है, उसको नहीं देखा है। वह रंग का वा बिना रंग का है, कहा नहीं जाता है। वह सबसे पृथक् है और घट में समाया हुआ है। उसका आदि, अन्त और मध्य नहीं है। वह कहा नहीं जाता है, अकथ है। वह असीम है, वह न उपजता है, न नष्ट होता है। उसके विषय में कैसे कहूँ, सो युक्ति नहीं जानता हूँ।

जैसा कहता हूँ, वैसा वह नहीं है। वह जैसा है, तैसा ही है। उसके बारे में कहने-सुनने से सुख उपजता है और मोक्ष होता है।

॥ मूल पद्य ॥

भगति हेत गावै लै लीनां। ज्यूँ वन नाद कोकिला कीन्हां॥
बाजैं शंख सबद धुनि बेनां। तन मन चित हरि गोविन्द लीनां॥

शब्दार्थ—हेत=कारण। नाद=शब्द। कोकिला=कोयल।

पद्यार्थ—भक्ति के कारण लवलीन होकर गाते हैं, जैसे कोयल वन में शब्द करती हो। शंख और वेणु की ध्वनि बजती है, तन, मन और चित्त हरि गोविन्द में डूबा रहता है।

टिप्पणी—हरि-कीर्त्तन इस तरह होना चाहिए, जैसे ऊपर में वर्णित है।

॥ मूल पद्य ॥

साँच सील का चौका दीजै। भाव भगति की सेवा कीजै॥
भाव भगति की सेवा मानै। सतगुरु प्रगट कहै नहिं छांनै॥
अनभै उपजि न मन ठहराई। पर कीरति मिलि मन न समाई॥
जब लगि भाव भगति नहिं करिहौ। तब लग भवसागर क्यूँ तिरिहौ॥

भाव भगति बिश्वास बिनु, कटै न संसै सूल।
कहै कबीर हरि भगति बिनु, मूकति नहिं रे मूल॥

शब्दार्थ—सील (शील)=उत्तम आचरण। छांनै=ढाकैं, छिपावैं। अनभै=अनुभव, परीक्षा-द्वारा प्राप्त ज्ञान। कीरति=कीर्त्ति, यश, पुण्य। समाई=अँटै, भरै। मानै=स्वीकार करते हैं।

पद्यार्थ—सचाई और उत्तम आचरण का चौका लगाना चाहिये। प्रेम-भक्ति से पूजा करनी चाहिए। प्रेम और भक्ति से की गयी सेवा को ही सेवा स्वीकार करते हैं। (यह बात) सद्गुरु प्रकट ही कहते हैं, छिपाते नहीं हैं। मन को नहीं ठहराया, अनुभव नहीं उपजा। दूसरे के पुण्य से मिलने पर मन नहीं भरता है अर्थात् दान लेने से मन संतुष्ट नहीं होता है। जबतक प्रेम से भक्ति नहीं करोगे, तबतक संसार-सागर से कैसे तरोगे? (नहीं तरोगे)।

प्रेम, भक्ति और विश्वास के बिना संदेह और दुःख नहीं कटते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि हरि-भक्ति के बिना मूल (पदार्थ)—मुक्ति नहीं मिलती है।

॥ मूल पद्य ॥

कबीर मेरी सिमरनी, रसना ऊपरि राम।
आदि जुगादि सगल भगत, ताको सुख विश्राम॥

शब्दार्थ—सिमरनी=सुमिरनी, जप करने की छोटी माला। रसना= जिह्वा, जीभ। सगल=सकल, सब, समस्त।

पद्यार्थ—कबीर साहब कहते हैं कि जिह्वा के ऊपर राम का नाम ही मेरी जप-माला है। युग के आरम्भ से अबतक जितने (जो) भक्त हुए हैं, ऐसी जप-माला रखते हैं, उन सबको सुख-चैन मिलता है।

॥ मूल पद्य ॥

सेख सबूरी बाहरा, क्या हज काबै जाइ।
जाका दिल साबत नहीं, ताको कहाँ खुदाइ॥

शब्दार्थ—काबै=काबा में (काबा अरब के मक्का शहर का एक स्थान है, जहाँ मुसलमान लोग हज करने जाते हैं)। साबत=साबित, सम्पूर्ण, बिना बँटा हुआ, दुरुस्त।

पद्यार्थ—हे शेखजी ! सब्र (संतोष) से बाहर रहकर अर्थात्

संतोष-विहीन रहकर काबे में हज करने क्या जाते हो? जिसका मन साबित (बिना बँटा हुआ) नहीं है, उसको खुदा (स्वयंभू, ईश्वर) कहाँ मिलता है? अर्थात् नहीं मिलता है।

॥ मूल पद्य ॥

हरि महि तनु है तनु महि हरि है, सर्व निरंतर सोई रे ॥
कहि कबीर राम नाम न छोड़ौ सहजे होइ सु होई रे ॥
इहु जीउ राम नाम लव लागै । जरा मरन छूटे भ्रम भागै ॥
अनहद सबद होत झनकार । जिह पौड़े प्रभु श्रीगोपाल ॥
राम जपतु तनु जरि किन जाइ । राम नाम चित्त रह्या समाइ ॥

शब्दार्थ—निरन्तर=अविच्छिन्न, लगातार। जरा=बुढ़ापा। पोड़ै=पैंड़े से, पैंरे से, रास्ते से। गो=पृथ्वी। पाल=पालक, पालन करनेवाला। गोपाल=पृथ्वी का पालन करनेवाला अर्थात् चराचर जगत् का पालनकर्त्ता।

पद्यार्थ—हरि (परमात्मा) में शरीर है, शरीर में हरि हैं, सबमें अविच्छिन्न रूप से वही (हरि) हैं। कबीर साहब कहते हैं कि राम-नाम नहीं छोड़ो, सहज ही में जो होगा, सो होगा। इस जीव की लौ या लगन रामनाम में लगे, तो बुढ़ापे और मृत्यु से छुटकारा मिल जाएगा और भ्रम भाग जाएगा (दूर हो जाएगा)। अनहद शब्द की झनकार होती है, जिस रास्ते से चलकर श्रीजगत्पालक प्रभु (परमात्मा) तक पहुँचते हैं। राम जपते-जपते शरीर जल क्यों न जाए अर्थात् मरण-पर्यन्त रामनाम जपना चाहिए। रामनाम चित्त में समाया हुआ है।

टिप्पणी—कबीर साहब के सेव्य, राम, हरि और प्रभु श्रीगोपाल मायातीत अलख हैं। वह अंजन अर्थात् माया को अल्प वा कम कहते हैं और निरञ्जन—माया-रहित को सार वा असल कहते हैं। अतएव उनकी वाणी में आये हुए उपास्य रूप में राम, हरि और गोपालादि शब्दों के अर्थ का उनके ख्याल के अनुकूल होना उचित है। वे रामनाम का जपना स्वीकार करते हैं और अनहद शब्द के मार्ग को प्रभु श्रीगोपाल तक जाने का भी कथन करते हैं। अतएव जप के वर्णात्मक रामनाम और अनहद शब्द अर्थात् ध्वन्यात्मक रामनाम; दोनों प्रकारों के नामों का वा शब्दों का भजन करना उनका सिद्धांत ठहरता है। नाम और शब्द के विषय में उनके निम्नोक्त वचन भी मिलते हैं—

राम राम सब कोइ कहै, नाम न चीन्है कोय।
नाम चीन्हि सतगुरु मिलै, नाम कहावै सोय॥
आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह॥
मुख कर की मेहनत मिटी, सतगुरु करी सहाय।
घट में नाम प्रगट भया, बक बक मरे बलाय॥
सहजे ही धुन होत है, हरदम घट के माहिं।
सुरत सबद मेला भया, मुख की हाजत नाहिं॥

॥ मूल पद्य ॥

कहत कबीर अवर नहिं कामा। हमरे मन धन राम को नामा॥

शब्दार्थ—अवर=और, दूसरा।

पद्यार्थ—कबीर साहब कहते हैं कि दूसरे से काम नहीं है। मेरे मन में रामनाम का धन है।

॥ मूल पद्य ॥

गुरु मिलि ताके खुले कपाट। बहुरि न आवै योनी बाट॥

शब्दार्थ—कपाट=किवाड़।

पद्यार्थ—जो गुरु से मिलकर है, उसका कपाट खुल जाता है अर्थात् बारम्बार जन्म-मरण के अन्दर जिस आवरण या परदे में जीव रहता है, वह आवरण-रूप कपाट टूट जाता है। वह लौटकर योनिमार्ग से इस जगत् में नहीं आता।

॥ मूल पद्य ॥

सुन्न संध्या तेरी देव देवा, करि अधिपति आदि समाई।
सिद्ध समाधि अन्त नहिं पाया, लागि रहे सरनाई॥
लेहु आरति हो पुरुष निरंजन, सतिगुरु पूजहु भाई।
ठाढ़ा ब्रह्मा निगम विचारै, अलख न लखिया जाई॥
तत्तु तेल नाम कीया बाती, दीपक देह उज्यारा।
जोति लाय जगदीश जगाया, बूझे बूझनहारा॥
पंचे सबद अनाहद बाजे, संगे सारिंगपानी।
कबीर दास तेरी आरती कीनी, निरंकार निरवानी॥

शब्दार्थ—सन्ध्या—आर्यों की एक विशिष्ट उपासना, जो प्रतिदिन प्रातःकाल, मध्याह्न और सन्ध्या के समय होती है; दिन और रात; दोनों के मिलने का समय। अधिपति=स्वामी, मालिक। निगम=वेद। अनाहद= अनाहत शब्द। सारिंगपानी=सारंगपाणि, विष्णु। समाधि=ध्यान। तत्तु=तत्त्व, सार पदार्थ, चेतनधार। लाय=लपट। निरंकार निरवानी=आकार-रहित मुक्त-रूप परमात्मा।

पद्यार्थ—हे देवों के देव आदिप्रभु ! शून्य में समाकर मैं तेरी सन्ध्या-उपासना करता हूँ। सिद्धपुरुषों ने तेरे अन्त को नहीं पाया। वे तेरी शरण में लगे रहते हैं। हे मायातीत पुरुष ! आरती ग्रहण करो। हे भाई ! सद्गुरु की पूजा करो। खड़े-खड़े ब्रह्मा वेद का विचार करते हैं, अलख देखने में नहीं आता। देह का दीपक, सार-तत्त्व—चेतनधार का तेल और नाम की बत्ती का प्रकाश है। इस ज्योति की लपट से जगदीश (परमात्मा) को जगाया अर्थात् प्रत्यक्ष किया। (इस विषय को) बूझनेवाला बूझता है। (अपने) संग में सर्वव्यापी विष्णु है और पाँच अनाहत नाद बजते हैं। हे मुक्तरूप निराकार (प्रभु)! कबीरदास ने तेरी आरती की।

सारांश—अन्तर्ज्योति और अन्तर्नाद को शून्य-ध्यान से की हुई सन्ध्या-उपासना-द्वारा प्राप्त कर देवों के देव आदिप्रभु परमात्मा को प्रत्यक्ष पाने को कबीर साहब उस प्रभु की आरती करने कहते हैं।

टिप्पणी—कबीर साहब निराकार निरञ्जन पुरुष की आरती करते हैं। वह उस पुरुष को सारंगपाणि भी कहते हैं; परन्तु ब्रह्मा, विष्णु, महेश—त्रिदेवों में से विष्णु भगवान को भी सारंगपाणि कहते हैं। इन त्रिदेवों के लिए कबीर साहब का यह पद्य भी है—

ब्रह्मा विष्णु महेसुर कहिये, इन सिर लागी काई।
इनहिं भरोसे मत कोइ रहियो, इन भी मुक्ति न पाई॥

कबीर साहब के वचनों में शून्य-ध्यान का बड़ा आदर है, जैसे एक पद्य में वे कहते हैं—

शून्यध्यान सबके मन माना। तुम बैठो आतम स्थाना॥

श्रीमद्भागवत में और उपनिषदों में भी शून्य-ध्यान और विशेष प्रकार की सन्ध्या-उपासना की विधि और विशेषताा बतलायी गई है—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः।
बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः॥४२॥

अर्थ—बुद्धिमान पुरुष को चाहिए कि मन के द्वारा इन्द्रियों को उनके विषयों से खींचकर उस मन को बुद्धिरूपी सारथी की सहायता से सर्वांगयुक्त मुझमें ही लगा दे॥४२॥

तत्सर्वव्यापकं चित्तमाकृष्यैकत्र धारयेत्।
नान्यानि चिन्तयेद् भूयः सुस्मितं भावयेन्मुखम्॥ ४३॥

अर्थ—सब ओर से फैले हुए चित्त को खींचकर एक स्थान में स्थिर करे और फिर अन्य अंगों का चिन्तन न करता हुआ केवल मेरे मुस्कानयुक्त मुख का ही ध्यान करे॥४३॥

तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ ४४॥

अर्थ—मुखारविन्द में चित्त के स्थिर हो जाने पर उसे वहाँ से हटाकर आकाश में स्थिर करे। तदन्तर उसको भी त्यागकर मेरे शुद्ध स्वरूप में आरूढ़ हो और कुछ भी चिन्तन न करे॥४४॥

—श्रीमद्भागवत, ११ स्कंध, अध्याय १४

अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं
य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं
विजानीयाम् इति।

सहोवाच याज्ञवल्क्यः—

सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। वरणायां नाश्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति॥ का वै वरणा का च नाशीति। सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवति॥ सर्वानिन्द्रिय-कृतान् पापान् नाशयतीति तेन नाशी भवतीति॥ कतमं चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः संधिः स एष द्योर्लोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति। एतद्वै सन्धिं सन्ध्यां ब्रह्मविद् उपासत इति''''॥२॥ —जाबालोपनिषद्

अर्थ—अत्रि ऋषि ने इसके बाद याज्ञवल्क्य से पूछा—'जो ऐसा अनन्त, अव्यक्त आत्मा है, उसको हम कैसे जानें?'

याज्ञवल्क्य ने कहा—'वह अविमुक्त आत्मा ही उपासना-योग्य है। वह अनन्त-अव्यक्त अविमुक्त में प्रतिष्ठित है। वह अविमुक्त कहाँ

प्रतिष्ठित है? वह वरणा और नाशी के बीच में प्रतिष्ठित है। वरणा और नाशी क्या है? सब इन्द्रियकृत दोषों को जो दूर करता है, वही वरणा है और जो सब इन्द्रियकृत पापों को नाश करता है, वही नाशी कहलाता है। कहाँ वह स्थान है? दोनों भौंओं का और नासिका का जो मिलन-स्थान है। (वही वह स्थान है), वह द्युर्लोक और परलोक का भी मिलन-स्थान है। इसी संधि-स्थान में ब्रह्मज्ञानी अपनी संध्या की उपासना करते हैं अर्थात् वहाँ पर ध्यान करके ब्रह्म-साक्षात्कार की चेष्टा करते हैं॥२॥

श्रीमद्भागवत के उपर्युक्त श्लोकों में भगवान श्रीकृष्ण-द्वारा श्रीउद्धवजी को आदेश दिया गया है। श्लोकों से स्पष्ट विदित होता है कि ध्यान को फैलाव से सिमटाव में लाने का आदेश भगवान का है। सर्वांगयुक्त शरीर का ध्यान करके फिर उस ध्यान को छोड़कर केवल मुखारविन्द का ध्यान करना—यह अवश्य ही फैलाव से सिमटाव की ओर आना है। तब उस ध्यान को भी छोड़कर शून्य में ध्यान करना, विशेष फैलाव में जाने का विचार नहीं समझा जा सकता है, बल्कि विशेष-से-विशेष सिमटाव में जाना ही समझा जा सकता है। दृश्य-मण्डल में विन्दु-ध्यान से पूर्ण सिमटाव होगा। पूर्ण सिमटाव ही विशेष सिमटाव है। मन से विन्दु बनाकर विन्दु-ध्यान करना विन्दु-ध्यान नहीं है; क्योंकि मन को परिमाण-रहित स्थान का रूप पहले से ज्ञात नहीं है, इसलिए विन्दु की परिभाषा के अनुकूल मन से विन्दु बन नहीं सकता है। केवल अत्यन्त सिमटी हुई यौगिक दृष्टि से ज्योतिर्विन्दु का उदय होता है। पदार्थ-रूप में यह विन्दु शून्य का छोटे-से-छोटे चमकता हुआ अंश है, इसलिए यह शून्य ही है। इसी के ध्यान को शून्य-ध्यान कहते हैं और वह परम ध्यान है।

तेजो विन्दुः परं ध्यानं विश्वात्म हृदि संस्थितम्।

—तेजोविन्दूपनिषद्

'हृदय-स्थित विश्वात्म तेजस्-स्वरूप विन्दु का ध्यान परम ध्यान है।' इसी 'तेजोविन्दु' का वर्णन श्रीमद्भगवद्गीता के आठवें अध्याय में इस प्रकार है—

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः।
सर्वस्यधातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्॥

'कवि अर्थात् सर्वज्ञ, पुरातन, शास्ता, अणु से भी छोटा, सबके

धाता अर्थात् आधार या कर्त्ता, अचिन्त्यस्वरूप और अंधकार से परे सूर्य के समान देदीप्यमान पुरुष (है)।'

और मनुस्मृति, अध्याय १२ में भी इसी 'तेजोविन्दु' का कथन इस प्रकार है–

प्रशासितारं सर्वेषामणीयांसमणोरपि।
रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं विद्यात्तं पुरुषं परम्॥ १२२॥

इस श्लोक के द्वारा मनुस्मृति में भी अणु-से-अणु शुद्ध स्वर्ण समान कान्तिमान अर्थात् 'तेजोविन्दु' को परमात्मा का रूप बताकर, उसकी उपासना की आज्ञा है। यह विन्दु परमात्मा का विशेष और सूक्ष्म रूप तेजोमय विभूति-रूप है। वह सेन्द्रिय सब विभूति-रूपों से विशेष आकृष्टकारी, मनोविकार-नाशक और शांतिप्रद है। सेन्द्रिय तथा निरिन्द्रिय में से किसी तेजस्वी रूप को परमात्मा का विभूति-रूप नहीं मानना ज्ञान-विरुद्ध है। सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय, स्थूल-सूक्ष्म और तेजवान वा साधारण; सृष्टि के सब रूप ज्ञानानुकूल सर्वगत परमात्मा के हैं; परन्तु इनमें से कोई भी रूप 'परमात्म-स्वरूप' नहीं है। क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-विचार के न्याय से सब रूप क्षेत्र हैं और परमात्मा क्षेत्रज्ञ हैं। रूप माया और खोल-मात्र है। सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय और स्थूल-सूक्ष्म-भेद से विविध खोलों को आवश्यकतानुसार क्रमशः–पारी-पारी से उपासना करते हुए परमात्म-स्वरूप को प्राप्त करने की उत्तम विधि जानकर परमात्मा की उपासना करनी परम भक्ति है। स्थूल-सूक्ष्म तथा सेन्द्रिय-निरिन्द्रिय भेदों में रूपों की बदली अवश्य होती है; परन्तु उनके धारण करनेवाले एक ही परमात्मा इष्ट कहते हैं, वे नहीं बदलते। ठीक वैसे ही, जैसे कि एक ही व्यक्ति पारी-पारी से अनेक प्रकार के वस्त्रों को पहने, तो वह अपने तो नहीं बदलता है, केवल उनके वस्त्र बदलते हैं। अतएव किसी को यह ख्याल नहीं करना चाहिए कि स्थूल सेन्द्रिय रूप की उपासना को त्यागकर सूक्ष्म निरिन्द्रिय रूप-उपासना करने से इष्टदेव बदल जाएँगे। पारी-पारी से स्थूल सेन्द्रिय रूप-ध्यान-उपासना को सूक्ष्म निरिन्द्रिय रूप-ध्यान-उपासना में बदले बिना परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति नहीं होगी।

॥ मूल पद्य ॥

मैं तो आन पड़ी चोरन के नगर, सतसंग बिना जिय तरसे॥१॥
इस सतसंग में लाभ बहुत है, तुरत मिलावै गुरु से॥२॥

मूरख जन कोइ सार न जानै, सतसंग में अमृत बरसे ।।३।।
सब्द-सा हीरा पटक हाथ से, मुट्ठी भरी कंकर से ।।४।।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, सुरत करो वही घर से ।।५।।

शब्दार्थ—चोरन=चोरों, भजन करने से मन चुरानेवाले, भजन नहीं करनेवाले। तरसै=बिना प्राप्ति के बेचैन रहता है। सतसंग=साधु-संग।

पद्यार्थ—मैं परमात्म-भजन करने में मन चुरानेवालों के नगर में आ पड़ा हूँ। भजन करनेवाले साधु-भक्तों के संग के बिना मेरा मन बेचैन रहता है। इस सत्संग में बहुत लाभ है, यह शीघ्र ही गुरु से मिलाता है। सत्संग के सार को (असली लाभदायक फल को) अज्ञानी लोग नहीं जानते हैं। सत्संग में अमृत बरसता है। (ज्ञान-ध्यान के उपदेश-वाक्यों के शब्द तथा अन्तर में अनाहत शब्द अमृत है, यह अनमोल है।) शब्द-रूपी हीरे को अपने हाथ से फेंककर (विषय-रूपी) कंकड़ों से (अज्ञानी लोगों ने) अपनी मुट्ठी भर ली है। कबीर साहब कहते हैं कि हे साधो भाई! सुनो, उस घर (सत्संग से निर्णीत मोक्ष-घर) की ओर सुरत करो।

॥ मूल पद्य ॥

साधो सब्द साधना कीजै ।
जेहि सब्द से प्रगट भये सब, सोइ सब्द गहि लीजै ।।टेक।।
सब्दहि गुरू सब्द सुनि सिष भे, सब्द सो बिरला बूझे ।
सोई सिष्य सोइ गुरू महातम, जेहि अन्तर गति सूझे ।।
सब्दै वेद पुरान कहत हैं, सब्दै सब ठहरावै ।
सब्दै सुर मुनि सन्त कहत हैं, सब्द भेद नहिं पावै ।।
सब्दै सुनि सुनि भेष धरत हैं, सब्द कहै अनुरागी ।
षट दरसन सब सब्द कहत हैं, सब्द कहै वैरागी ।।
सब्दै माया जग उतपानी, सब्दै केरि पसारा ।
कहै कबीर जहँ शब्द होत है, तवन भेद है न्यारा ।।

शब्दार्थ—शब्द-साधना=सुरत-शब्द-योग, नादानुसंधान, ध्वन्यात्मक नाम का ध्यान। गति=चाल। महातम=माहात्म्य, गौरव, बड़ाई, महिमा। षट दरसन=छह दर्शन-शास्त्र (वेदान्त, सांख्य, योग, न्याय, मीमांसा और वैशेषिक)।

पद्यार्थ—हे साधु! नादानुसंधान कीजिए। जिस शब्द से सारी सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, उसी शब्द को पकड़ लीजिए। शब्द के द्वारा अर्थात् शब्द-द्वारा उपदेश करके ही गुरु होते हैं, शब्द सुनकर ही शिष्य हुए हैं और शब्द को कोई-कोई बूझते हैं। शिष्य और गुरु की वही महिमा है कि जिन्हें (शब्द-साधना-द्वारा) अन्तर (शरीर के भीतर) की चाल सूझती है। वेद और पुराण शब्द ही कहते हैं, शब्द ही को सब स्थिर करते हैं। देवता, मुनि और संत शब्द ही कहते हैं; परन्तु लोग शब्द का भेद नहीं पाते हैं। शब्द ही सुन-सुनकर साधु-वेश धरते हैं, अनुरागी लोग शब्द ही का कथन करते हैं। छहो शास्त्र शब्द ही कहते हैं और वैरागी भी शब्द ही कहते हैं। शब्द ही ने सब मायिक संसार को उत्पन्न किया है, शब्द का ही पसार है। कबीर साहब कहते हैं कि जहाँ शब्द होता है, वह भेद अलग ही है।

टिप्पणी—कम्प के बिना सृष्टि नहीं हो सकती है। कम्प अपने सहचर शब्द के बिना नहीं होता है। अतएव सृष्टि के आदि में आदिशब्द अवश्य हुआ और इसी आदिशब्द से सब सृष्टि उपजी है, ऐसा मानना युक्तियुक्त है। इसी शब्द को स्फोट, ओ३म्, उद्‌गीथ, प्रणव, सारशब्द, सत्यनाम, सत्यशब्द और रामनाम कहते हैं। इसी शब्द को ग्रहण करने के लिए कबीर साहब कहते हैं। इसको इस भाँति कह सकते हैं—

अव्यक्त अनादि अनन्त अजय, अज आदि मूल परमातम जो।
ध्वनि प्रथम स्फुटित परा धारा, जिनसे कहिये स्फोट है सो॥ १ ॥
है स्फोट वही उद्‌गीथ वही, ब्रह्मनाद शब्दब्रह्म ओ३म् वही।
अति मधुर प्रणव ध्वनि धार वही, है परमातम-प्रतीक वही॥ २ ॥
प्रभु का ध्वन्यात्मक नाम वही, है सारशब्द सत्‌शब्द वही।
है सत् चेतन अव्यक्त वही, व्यक्तों में व्यापक नाम वही॥ ३ ॥
है सर्वव्यापिनि ध्वनि राम वही, सर्वकर्षक हरि कृष्ण नाम वही।
है परम प्रचंडिनी शक्ति वही, है शिव-शंकर हर नाम वही॥ ४ ॥
पुनि रामनाम है अगुण वही, है अकथ अगम पूर्ण काम वही।
स्वर-व्यंजन-रहित अघोष वही, चेतन ध्वनि-सिंधु अदोष वही॥ ५ ॥
है एक ओ३म् सत्‌नाम वही, ॠषि-सेवित प्रभु का नाम वही।
X X X मुनि-सेवित गुरु का नाम वही।
भजो ॐ ॐ प्रभु नाम यही, भजो ॐ ॐ 'मेँहीँ' नाम यही॥ ६ ॥

॥ मूल पद्य ॥

जिनकी लगन गुरू सों नाहीं ॥ टेक॥
ते नर खर कूकर सम जग में, बिरथा जन्म गँवाहीं ॥१॥
अमृत छोड़ि विषय रस पीवैं, धृग-धृग तिनके ताईं ॥२॥
हरि बेल की कोरी तुमड़िया, सब तीरथ करि आई ॥३॥
जगन्नाथ के दरसन करके, अजहुँ न गई करुवाई ॥४॥
जैसे फूल उजाड़ को लागो, बिन स्वारथ झरि जाई ॥५॥
कहै कबीर बिन वचन गुरू के, अन्त काल पछिताई ॥६॥

शब्दार्थ—लगन=प्रेम। खर=गदहा। कूकर=कुत्ता। बिरथा=व्यर्थ, निरर्थक, बिना लाभ के। गँवाहीं=बिताते हैं। धृग=धिक्कार। ताईं=वास्ते, लिये। बेल=लता, लत्तर। कोरी=नयी। तुमड़ियाा=तितलौकी की छोटी तुम्बी या तुमरी, गृहत्यागी, साधु-वैरागी जिसका जलपात्र बनाते हैं। करुवाई=तीतापन। उजाड़=उजड़ा हुआ स्थान, निर्जन, स्थान, जंगल। स्वारथ=स्वार्थ, निज लाभ।

पद्यार्थ—जिनको गुरु से प्रेम नहीं है, वे सब मनुष्य इस संसार में गदहे और कुत्ते के समान निरर्थक जन्म बिताते हैं। वे अमृत छोड़कर विषय-रस पीते हैं, उनके लिए धिक्कार है, धिक्कार है! हरी लत्तर की नयी (तीत) लौकी सब तीर्थों में नहाकर आई और जगन्नाथ के दर्शन करने पर भी उसकी तिताई दूर नहीं हुई। जैसे उजड़े हुए निर्जन स्थान में—जंगल में कोई फूल फूलता है, तो बिना किसी निज लाभ के ही झड़ जाता है, इसी तरह गुरु से नहीं प्रेम करनेवाला संसार में जन्म लेकर अपने जीवन-रूपी फूल से बिना निज लाभ लिए ही मर जाता है। कबीर साहब कहते हैं कि गुरु के वचन के बिना वह अन्तकाल में पछताता है।

तुमड़ी की कथा—दो भाई थे। बड़े भाई ज्ञानी, भक्त और सत्संगी थे। छोटा भाई संसारी और घर का कारबारी था। कारबार करते-करते छोटे भाई का मन एक बार ऊबा और बड़े भाई के पास जाकर उसने कहा—'अगर आप आज्ञा दीजिए, तो मैं कुछ काल के लिए यात्रा करूँ, तीर्थों में जाकर स्नान करूँ और धामों में जाकर देव-मूर्त्तियों के दर्शन करूँ?' बड़े भाई ने कहा—'बहुत अच्छा, जाओ

और कुशलतापूर्वक लौट आओ। मेरी इस समूची कोरी तुमड़ी को अपने साथ लेते जाओ। जिन-जिन तीर्थों में तुम स्नान करना, उन-उन तीर्थों में इस तुमड़ी को भी स्नान करा देना और जिन-जिन धामों में तुम दर्शन करना, उन-उन धामों में इसको भी दर्शन करा देना।'

छोटा भाई उस तुमड़ी को लेकर चल पड़ा। कुछ दिनों के बाद तीर्थयात्रा करके तुमड़ी को लेते हुए घर लौटा। बड़े भाई को प्रणाम करके उस तुमड़ी को सामने रख दिया। छोटे-भाई को देखकर बड़ा भाई बड़ा प्रसन्न हुआ तथा आशीर्वाद दिया। उस तुमड़ी को बड़े भाई ने विधि से काटा और उसके भीतर का गूदा निकाल दिया। उस तुमड़ी के भीतर जल रखनेयोग्य स्थान हो गया। उसमें जल भरकर बड़े भाई ने छोटे भाई से कहा–'इस जल को जरा चखो।' छोटे भाई ने वैसा ही किया। मुँह में उस जल को रखते ही छोटे भाई ने उस जल को कुल्ली से फेंक दिया और बड़े भाई से कहा–'यह जल नीम-सा तीता है।' बड़े भाई ने कहा–'तीर्थों में स्नान करके और देव-मंदिरों में देव-मूर्त्तियों के दर्शन करके भी इस तुमड़ी के भीतर को कड़ुवाई दूर नहीं हुई। उसी तरह उपर्युक्त कामों से किसी के भीतर का मल दूर नहीं होता और हृदय की शुद्धि नहीं होती, ये तो सत्संग और भजन से ही होते हैं।'

॥ मूल पद्य ॥

गगन की ओट निसाना है ॥ टेक॥
दहिने सूर चन्द्रमा बायें, तिनके बीच छिपाना है ॥१॥
तन की कमान सुरत का रोदा, सब्द बान ले ताना है ॥२॥
मारत बान बिंधा तन ही तन, सतगुरु का परवाना है ॥३॥
मार्‌यो बान घाव नहिं तन में, जिन लागा तिन जाना है ॥४॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, जिन जाना तिन माना है ॥५॥

शब्दार्थ–गगन=आकाश। ओट=परदा, आड़। सूर=सूर्य। कमान=धनुष। रोदा=धनुष की डोरी, धनुर्गुण, प्रत्यंचा। बिंधा=छेदते हुए घुसा। परवाना=आज्ञापत्र।

पद्यार्थ–आकाश के परदे में निशाना है। दाहिने सूर्य है और बायें चन्द्र है; (वह निशाना) उनके बीच में छिपा हुआ है। शरीर-रूप धनुष पर सुरत की डोरी चढ़ाकर उसपर शब्द-वाण रखकर खींचा है। तीर के मारते ही वह शरीर से शरीर में छेदता हुआ घुस गया–यह

सद्‌गुरु का आज्ञापत्र है। तीर मारा, शरीर में घाव नहीं हुआ। जिनको (यह तीर) लगा है, उन्होंने जाना है। कबीर साहब कहते हैं कि हे साधो भाई! जिन लोगों ने (इस वेधन को) जाना है, उनलोगों ने (इस बात को) माना है।

सारांश—यह कथन भजन-भेद के विषय में है। जब धनुष पर डोरी ठीक से चढ़ाई जाती है, तब धनुष कसा जाता है और तभी उस पर से पूरी शक्ति से निशाने पर जा लगता है। भजन-अभ्यास से जब सुरत तीर-रूपी डोरी शरीर-रूप धनुष के अन्दर चढ़ाई जाती है, तब शरीर कस जाता है। इन्द्रियों के घाटों से सुरत वा चेतन-धार का सिमटाव होना और विषय-सुख नहीं होना—शरीर का कस जाना है।

॥ मूल पद्य ॥

भक्ती का मारग झीना रे ॥ टेक॥
नहिं अचाह नहिं चाहना, चरनन लौ लीना रे ॥१॥
साधुन के सत्संग में, रहे निसदिन भीना रे ॥२॥
सब्द में सुर्त ऐसे बसे, जैसे जल मीना रे ॥३॥
मान मनी को यों तजे, जस तेली पीना रे ॥४॥
दया छिमा संतोष गहि, रहे अति आधीना रे ॥५॥
परमारथ में देत सिर, कछु विलम्ब न कीना रे ॥६॥
कहै कबीर मत भक्ति का, परगट कह दीना रे ॥७॥

शब्दार्थ—झीना=महीन, बारीक। अचाह=इच्छा-रहित। चाहना= इच्छा। भीना=भींगा हुआ। मान=प्रतिष्ठा। मनी=अहंकार। पीना=खल्ली। परमारथ=परमार्थ, परमात्म-स्वरूप। देत सिर=शिर देने में, प्राण न्योछावर करने में।

पद्यार्थ—भक्ति का रास्ता महीन है। इस रास्ते पर चलनेवाले को न तो इच्छाहीन होना है और न इच्छा-रहित रहना है। गुरु-चरणों में लौ लगानी है। वह साधुओं के सत्संग में दिन-रात भींगा रहे। उसकी सुरत शब्द में इस तरह बस जाए, जिस तरह पानी में मछली बसती है। प्रतिष्ठा और अहंकार को इस तरह त्याग दे, जिस तरह तेली खल्ली को त्यागता है। दया, क्षमा और संतोष को ग्रहण करके बहुत अधीनता से रहे। परमात्म-स्वरूप की प्राप्ति में प्राण न्योछावर करने में विलम्ब न करे। कबीर साहब कहते हैं कि भक्ति के मत को मैंने प्रकट कह दिया।

टिप्पणी—परमात्म-स्वरूप को प्राप्त करने के साधन की और उसको प्राप्त कर लेने की इच्छा न छोड़े और विषय-भोगों की इच्छा छोड़ दे—यही 'नहिं अचाह नहिं चाहना' का तात्पर्य है।

॥ मूल पद्य ॥

बिन सतगुरु नर रहत भुलाना, खोजत फिरत राह नहिं जाना ॥ टेक॥
केहर सुत ले आयो गड़रिया, पाल-पोस उन कीन्ह सयाना।
करत कलोल रहत अजयन संग, आपन मर्म उनहुँ नहिं जाना ॥१॥
केहर इक जंगल से आयो, ताहि देखि बहुतै रिसियाना।
पकड़ि के भेद तुरत समुझाया, आपन दसा देखि मुसक्याना ॥२॥
जस कुरंग बिच बसत बासना, खोजत मूढ़ फिरत चौगाना।
कर उसवास मनै में देखै, यह सुगंधि धौं कहाँ बसाना ॥३॥
अर्ध उर्ध बिच लगन लगी है, छक्यो रूप नहिं जात बखाना।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, उलटि आपु में आपु समाना ॥४॥

शब्दार्थ—केहर=केहरी, सिंह। सुत=बेटा। कलोल=क्रीड़ा, खेल-कूद। अजयन=बकरियाँ। मर्म=स्वरूप, भेद। कुरंग=मृग। बासना=गन्ध, कस्तूरी। चौगाना=मैदान। उसवास=उच्छ्वास, ऊपर की ओर खींची हुई साँस। धौं=एक अव्यय, जो ऐसे प्रश्नों के पहले लगाया जाता है, जिनमें जिज्ञासा का भाव कम और संशय का भाव अधिक होता है। बसाना=गन्ध करता है। अर्ध=अर्द्ध, आधा। उर्ध=ऊर्ध्व, ऊपर। लगन=लौ। छक्यो=तृप्त हुआ।

पद्यार्थ—बिना सद्गुरु के आदमी भूला हुआ रहता है, ढूँढ़ता फिरता है, रास्ता नहीं जानता है। एक गड़ेरिया सिंह के बच्चे को जंगल से ले आया और पाल-पोसकर उसने उसको सयाना किया। वह (सिंह-पुत्र) भेड़-बकरियों के संग में रहता था, खेल-कूद करता था और अपने स्वरूप को नहीं जानता था। एक सिंह जंगल से आया और उस (सिंह-पुत्र) को भेड़-बकरियों के संग में देखकर अति क्रोधित हुआ। उस सिंह-पुत्र को पकड़कर उसको तुरत भेद समझा दिया अर्थात् उसको स्वरूप का ज्ञान करा दिया। तब वह (सिंह-पुत्र) अपनी अवस्था देखकर हँसा। जिस तरह मृग के भीतर सुगन्ध रहती है और वह अज्ञानी पशु उस सुगन्ध को मैदान में ढूँढ़ता फिरता है। साँस को ऊपर खींच-खींचकर अर्थात् सूँघ-सूँघकर अपने मन में सोचता है कि

यह सुगन्ध न मालूम कहाँ से आती है? आधे ऊपर बीच में जिसकी लौ लगती है, तो वह वहाँ के रूप के दर्शन से ऐसा तृप्त होता है, जो वर्णित नहीं किया जा सकता। कबीर साहब कहते हैं कि हे साधु भाई! सुनो, वह उलटकर अपने-आपमें समाता है।

सारांश—ईश्वर-अंश जीव सिंह-पुत्र है। सिंह-पुत्र मन-रूप गड़ेरिये के वश इन्द्रियगण-रूप भेड़-बकरियों के संग में स्वरूप को भूलकर रहता है। संत-सिंह इस जीव को स्वरूप-ज्ञान कराते हैं। जैसे अज्ञानी मृग अपने अन्दर की सुगन्धित कस्तूरी को अज्ञानवश बाहर में ढूँढ़ता है, उसी तरह अज्ञानी जीव अपने अन्दर व्याप्त परमात्म-स्वरूप को बाहर ढूँढ़ने जाता है। चाहिए कि मनुष्य तनधार जीव अपने अंदर में ही ढूँढ़े। आज्ञाचक्र के निचले आधे भाग के ऊपर बीच में ध्यानाभ्यास के द्वारा लौ लगाने से वहाँ के रूप के दर्शन में अवर्णनीय तृप्ति होती है। इस तरह के साधन-अभ्यास से बहिर्मुख से उलट अन्तर्मुख हो अपनी वृत्ति को अपने स्वरूप में लीन करो। यह कबीर साहब का आदेश है।

॥ मूल पद्य ॥

अपने घट दियना बारु रे ॥ टेक॥
नाम का तेल सुरत कै बाती, ब्रह्म अगिन उद्गारु रे ।
जगमग जोत निहारु मंदिर में, तन मन धन सब वारु रे ॥१॥
झूठी जान जगत की आसा, बारम्बार बिसारु रे ।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, आपन काज सँवारु रे ॥२॥

शब्दार्थ—बारु=जलाओ। उद्गारु=प्रज्वलित करो, प्रकट करो। वारु=न्योछावर करो, अर्पण करो। सँवारु=काम ठीक करो।

पद्यार्थ—अपने शरीर में दीपक जलाओ। नाम के तेल में सुरत की बत्ती को रखकर ब्रह्माग्नि से प्रज्वलित करो। शरीर-मंदिर में जगमगाती हुई ज्योति का दर्शन करो और तन, मन, धन; इन सबको (इस दर्शन के लिए) न्योछावर कर दो। संसार की आशा को झूठी जानकर बारंबार भूल जाओ। कबीर साहब कहते हैं कि हे साधु भाई! सुनो, अपना काम ठीक करो।

टिप्पणी—अनहद नाद में सुरत को संलग्न रखना नाम के तेल में सुरत की बत्ती रखनी है और दृष्टियोग की सुगम विधि से दृष्टि-धारों को मिलाकर एकविन्दुता प्राप्त करनी ब्रह्म-अग्नि प्रकट करनी है।

परमात्म-प्राप्ति और मुक्ति के लिए पूर्ण रूप से यत्न करना अपना काम ठीक करना है।

॥ मूल पद्य ॥

साधो भाई जीवत ही करो आसा ॥ टेक॥
जीवत समुझै जीवत बूझै, जीवत मुक्ति निवासा।
जियत करम की फाँस न काटी, मुए मुक्ति की आसा ॥१॥
तन छूटे जिव मिलन कहत है, सो सब झूठी आसा।
अबहुँ मिला सो तबहुँ मिलैगा, नहिं तो जमपुर वासा ॥२॥
दूर दूर ढूँढ़ै मन लोभी, मिटै न गर्भ तरासा।
साध सन्त की करै न बंदगी, कटै करम की फाँसा ॥३॥
सत्त गहै सतगुरु को चीन्है, सत्तनाम विश्वासा।
कहै कबीर साधन हितकारी, हम साधन के दासा ॥४॥

शब्दार्थ–तरासा=त्रास, डर।

पद्यार्थ–हे साधु भाई! जीवित काल में ही (मोक्ष-लाभ करने की) आशा करो। जीते-जी समझो, जीते-जी बूझो और जीते-जी मुक्ति में निवास करो। जिसने जीते-जी कर्मों के बंधन को नहीं काट डाला है और वह मरने पर मुक्ति की आशा करता है–शरीर छूट जाने पर जीव जो मुक्ति मिलने को कहता है, सो सब झूठी आशा है। इस समय (जीवन-काल) में जो मिला, सो तब (जीवन-काल के बाद) भी मिलेगा, नहीं तो यमपुर में वास करना होगा। लोभी मन दूर-दूर ढूँढ़ता है, इससे गर्भवास का त्रास नहीं मिटता है। साधु-संत की वन्दना नहीं करता है, जिससे कर्म की फाँस कट जाए। (उसे चाहिए कि वह) सत् को पकड़े, सद्गुरु को पहचाने और सत्नाम का विश्वास करे। कबीर साहब कहते हैं कि साधु भलाई करनेवाले होते हैं, मैं साधुओं का दास हूँ।

टिप्पणी–जीते-जी मुक्ति मिलनी ठीक है। उपनिषदों में भी यह स्पष्ट रूप से कहा गया है–

पिण्डपातेन या मुक्तिः सा मुक्तिर्न तु मन्यते।
देहे ब्रह्मत्वमायाते जलानां सैन्धवं यथा॥
अनन्यतां यदा याति तदा मुक्तः स उच्यते।

–योगशिखोपनिषद्

अर्थ—मरने पर जो मुक्ति होती है, वह मुक्ति नहीं है। मुक्ति वह है, जबकि जीव ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है, जैसे नमक समुद्र में घुलकर एक हो जाता है। इस तरह जीव जब उससे अन्य नहीं रह जाता, तब मुक्ति होती है।

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते॥४॥

—कठोपनिषद्, अ० २, व ३

अर्थ—यदि इस देह में इसके पतन से पूर्व ही (ब्रह्म को) जान सका, तो बंधन से मुक्त होता है। यदि नहीं जान पाया, तो इस जन्म-मरणशील लोकों में वह शरीर-भाव को प्राप्त होने में समर्थ होता है।

सहोवाच श्रीरामः। पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुख-दुःखादिलक्षणश्चित्तधर्मः क्लेशरूपत्वाद्बन्धो भवति। तन्निरोधनं जीवन्मुक्तिः। उपाधिविनिर्मुक्तघटाकाशवत्प्रारब्धक्षयाद्विदेहमुक्तिः। जीवन्मुक्तिविदेहमुक्त्योरष्टोत्तरशतोपनिषदः प्रमाणम्। कर्तृत्वादि-दुःखनिवृत्तिद्वारा नित्यानन्दावाप्तिः प्रयोजनं भवति। तत्पुरुषप्रयत्न-साध्यं भवति। यथा पुत्रकामेष्टिना पुत्रं वाणिज्यादिना वित्तं ज्योतिष्टोमेन स्वर्गं तथापुरुषप्रयत्नसाध्य वेदान्तश्रवणादिजनित-समाधिना जीवन्मुक्त्यादि लाभो भवति॥ १॥

—मुक्तिकोपनिषद्, अध्याय २

भावार्थ—श्रीराम कहने लगे—'मैं कर्त्ता, भोक्ता, सुखी तथा दुःखी हूँ इत्यादि वृत्ति ही चित्त का धर्म है। इस तरह की वृत्ति ही पुरुष को क्लेश देनेवाली और बंधन का कारण है। इन वृत्तियों के निरोध को ही जीवन्मुक्ति कहते हैं और जब उपाधिमुक्त घटाकाश की तरह प्रारब्ध कर्म क्षय होकर देह नष्ट हो जाती है, उसी अवस्था को विदेह मुक्ति कहते हैं। जीवन्मुक्ति तथा विदेह मुक्ति के संबंध में १०८ उपनिषद् ही प्रमाण हैं। जब कर्तृत्वादि दुःख निवृत्त हो जाता है, तब पुरुष को नित्यानन्द प्राप्त होता है। इसी आनन्द की प्राप्ति के लिए मुक्ति का प्रयोजन है। यह मुक्ति मनुष्य के प्रयत्न से साधित होती है। जैसे पुत्रकामी व्यक्ति पुत्रेष्टि यज्ञ-द्वारा पुत्र, धनार्थी व्यक्ति वाणिज्यादि-द्वारा धन तथा स्वर्गकामी मनुष्य ज्योतिष्टोम यज्ञ-द्वारा स्वर्ग-लाभ करते हैं,

वैसे ही पुरुष के प्रयत्न से साधन-द्वारा वेदान्त श्रवणादि-जनित समाधि से जीवन्मुक्त्यादि लाभ होते हैं।'

॥ मूल पद्य ॥

मोरे जियरा बड़ा अन्देसवा, मुसाफिर जैहो कौनी ओर ॥ टेक॥
मोह का शहर कहर नर नारी, दुइ फाटक घनघोर ।
कुमती नायक फाटक रोके, परिहौ कठिन झिंझोर ॥ १॥
संशय नदी अगाड़ी बहती, विषम धार जल जोर ।
क्या मनुवाँ तुम गाफिल सोवौ, इहवाँ मोर न तोर ॥२॥
निसदिन प्रीति करो साहब से, नाहिंन कठिन कठोर ।
काम दिवाना क्रोध है राजा, बसैं पचीसो चोर ॥३॥
सत्त पुरुष इक बसैं पछिम दिसि, तासों करो निहोर ।
आवै दरद राह तोहि लावै, तब पैहो निज ओर ॥४॥
उलटि पाछिलो पैंड़ो पकड़ो, पसरा मना बटोर ।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, तब पैहो निज ठौर ॥५॥

शब्दार्थ—अंदेसवा=चिन्ता। मोह=भ्रम। कहर=विपत्ति, भयंकर। घनघोर=देखने में बहुत भयानक। कुमती (कुमति)=दुर्बुद्धि। नायक=सरदार। झिंझोर (झकझोर)=झटका। संशय=सन्देह। विषम=भीषण, बहुत कठिन। गाफिल=अचेत।

पद्यार्थ—हे पथिक! मेरे हृदय में बड़ी चिन्ता है कि तुम किस ओर जाओगे? यह संसार भ्रम का भयंकर नगर है। (इसमें आने-जाने के लिए) नर तथा नारी-रूप देखने में बहुत भयंकर दो फाटक हैं और कुबुद्धि-रूप सरदार फाटक पर रोकता है। (निकलने नहीं देता है), कठिन झकझोर में पड़ोगे। आगे संशय-रूपी नदी बहती है, जिसमें (संदेह और तर्क-वितर्क-रूप) जल की धारा जोरों से बह रही है। रे मन! तू क्या अचेत सोता है? यहाँ (इस संसार में) न कुछ तेरा है, न मेरा है। दिन-रात प्रभु परमात्मा से प्रेम करो, नहीं तो कठिन-कठोर काम-मंत्री, क्रोध-राजा और पचीस चोर (इस नगर में) बसते हैं (जो तुझे सताया करते हैं और सताया करेंगे; परन्तु परमात्मा से प्रेम करनेवाले पर इसका जोर नहीं चलता है), (कोई) एक अर्थात् बिरले सत्य पुरुष (साधु-संत), जो पश्चिम (प्रकाश) में रहते हैं, उनसे

विनय करो। (उनको तुमपर) दया आएगी, तब तुम अपनी ओर आओगे। (जिस रास्ते से आये हो, उसी) पिछले पथ को उलटकर पकड़ लो, पसरे हुए मन को समेट लो। कबीर साहब कहते हैं कि हे साधु भाई! सुनो, तब अपने स्थान को पाओगे।

टिप्पणी—एक-एक तत्त्व के पाँच-पाँच स्वभाव हैं; जैसे—

(१) पृथ्वी तत्त्व के—हाड़, नस, चमड़ा, केश और मांस।

(२) जल-तत्त्व के—रक्त, वीर्य, पसीना, लार और मूत्र।

(३) अग्नि-तत्त्व के—भूख, प्यास, आलस्य, नींद और हाँफी (जँभाई)।

(५) वायु-तत्त्व के—चलना, बोलना, बल करना, पसरना एवं सिकुड़ना।

(४) आकाश तत्त्व के—काम, क्रोध, लोभ, मोह एवं अहंकार।

ये ही पचीसो चोर हैं। इस शरीर में अंधकार, प्रकाश, शब्द और निःशब्द; इस तरह से ये चार मण्डल हैं। अंधकार को पूर्व, प्रकाश को पश्चिम, शब्द को दक्षिण और निःशब्द को उत्तर, भेदी साधुओं में बोलने का रिवाज है। इस तरह बोलने का रिवाज प्राचीन है; परन्तु बहुत लोग अब इस बात को नहीं जानते हैं। उपर्युक्त रिवाज से कथन करने की प्राचीनता मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में कहे गये निम्नलिखित वाक्यों से विदित होती है—

तदभ्यासान्मनः स्थैर्यम्। ततो वायुस्थैर्यम्। तच्चिह्नानि। आदौ तारकवद्दृश्यते। ततो वज्रदर्पणम्। तत उपरिपूर्णचन्द्रमण्डलम्। ततो नवरत्नप्रभामण्डलम्। ततो मध्याह्नार्कमण्डलम्। ततो वह्निशिखामण्डलं क्रमाद्दृश्यते। तदा पश्चिमाभिमुखप्रकाशः स्फटिकधूम्रविन्दुनादकला नक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसुवर्णनवरत्नादि प्रभा दृश्यन्ते। तदेव प्रणवस्वरूपम्।

अर्थ—उसके अभ्यास से मन की स्थिरता आती है। इससे वायु स्थिर होता है। उसके ये चिह्न हैं—आरम्भ में तारा-सा दीखता है, तब हीरा के ऐना की तरह दीखता है। उसके बाद पूर्ण चन्द्रमण्डल दिखाई देता है। उसके बाद नौ रत्नों का प्रभामण्डल दिखाई देता है। उसके बाद दोपहर का सूर्यमण्डल दिखाई देता है। उसके बाद अग्नि-शिखामण्डल दिखाई देता है। ये सब क्रम से दिखाई देते हैं, तब पश्चिम की ओर

प्रकाश दिखाई देता है। स्फटिक, धूम्र (धुआँ) विन्दु, नाद, कला, तारे, जुगनू, दीपक, नेत्र, सोने और नवरत्न आदि की प्रभा दिखाई देती है। केवल यही प्रणव का स्वरूप है।

उपरिलिखित उपनिषद्-वाक्य में कथित दर्शन शरीर के अन्दर का है, बाहर का नहीं। ध्यानाभ्यास-द्वारा तुरीय अवस्था में रहते हुए ऊपरकथित सब अनुभूतियाँ होती हैं। जाग्रत् अवस्था में जो दिशा का ज्ञान होता है, उससे तुरीय अवस्थावाला दिशा-ज्ञान विलक्षण है। किस महापुरुष की सुरत की स्थिति पश्चिम (प्रकाश) में रहती है, यह जानना कठिन है। परन्तु जिनके सत्संग से इस विषय की बातें 'विशेष रूप से' समझ में आवें और उनके चरित में दोष नहीं ज्ञात हो, उनमें इस बात के लिए श्रद्धा की जा सकती है।

॥ मूल पद्य ॥

अवधू भूले को घर लावै, सो जन हमको भावै ॥ टेक॥
घर में जोग भोग घर ही में, घर तजि वन नहिं जावै।
वन के गये कलपना उपजै, तब धौं कहाँ समावै ॥ १॥
घर में जुक्ति मुक्ति घर ही में, जो गुरु अलख लखावै।
सहज सुन्न में रहै समाना, सहज समाधि लगावै ॥ २॥
उनमुनी रहै ब्रह्म को चीन्है, परम तत्त को ध्यावै।
सुरत निरत सों मेला करिकै, अनहद नाद बजावै ॥ ३॥
घर में बसत वस्तु भी घर है, घर ही वस्तु मिलावै।
कहै कबीर सुनो हो अवधू, ज्यों का त्यों ठहरावै ॥ ४॥

शब्दार्थ—भूले=भटके। जन=भक्त। भावै=पसन्द आता है, सुहाता है, अच्छा लगता है। कलपना=दुःख। समावै=प्रवेश करे, घुसे। उनमुनी= संकल्प-विकल्प-विहीन होकर मन का रहना। परम तत्त (परम तत्त्व)= मूल तत्त्व, जिससे सम्पूर्ण विश्व का विकास है, प्रणव-ध्वनि, सारशब्द। ध्यावै=ध्यान करे। सुरत=संवित्, चेतन-धार। निरत=लीन।

पद्यार्थ—हे अवधू (अबोध लोग, अज्ञानी लोग)! जो भक्त भटके हुए को घर में ले आता है, वह मुझको सुहाता है। योग-अभ्यास घर में (होता है) और घर ही में भोग मिलता है। घर छोड़कर जंगल में नहीं जाए; क्योंकि यदि जंगल में जाने से दुःख उत्पन्न हो, तब वह

कहाँ जाकर प्रवेश करेगा? (तब तो फिर घर ही में जाकर रहना पड़ेगा) यदि गुरु अलख के लखने की युक्ति बतला दें, तो मुक्ति घर ही में है। सरलता से ध्यान लगाकर सहज ही सुन्न में समाकर रहे। मन से संकल्प-विकल्प को त्यागकर रहे, तो ब्रह्म को पहचाने और प्रणव-ध्वनि–सारशब्द का ध्यान करे। लीनता-युक्त सुरत से अनहद नाद को सुने। घर में बसता है, वस्तु भी घर ही में है, घर ही वस्तु (ब्रह्म) से मिलाएगा। कबीर साहब कहते हैं कि ऐ साधु भाई! सुनो, जैसा-का-तैसा घर ही में ठहरे रहो।

॥ मूल पद्य ॥

ससी परकास तें सूर ऊगा सही, तूर बाजै तहाँ सन्त भूलै।
तत्त झनकार तहँ नूर बरसत रहै, रस्स पीवै तहाँ पाँच भूलै ॥१॥
दरियाव औ बुन्द ज्यों देखु अन्तर नहीं, जीव और सीव यों एक आहीं।
कहै कब्बीर या सैन गूँगा तईं, वेद कितेब की गम्म नाहीं ॥२॥

शब्दार्थ–ससी (शशि)=चन्द्रमा। सूर=सूर्य। तूर=तुरही, अनहद ध्वनि। तत्त झनकार=तत्त्व-झनकार। नूर=प्रकाश। रस्स (रस)=स्वाद। पाँच भूले=पंच विषयों के पञ्च भोगों का भूलना। दरियाव=समुद्र। आहीं=है। सैन=इशारा, संकेत। गम्म (गम)=पहुँच, प्रवेश।

पद्यार्थ–चन्द्र-ज्योति का प्रकाश होने पर ठीक ही सूर्य उगता है, अनहद नाद की तुरही बजती है। (इन अनुभूतियों को प्राप्त करके) वहाँ संत (अहं-बुद्धि और विषय-वासना को) भूल जाते हैं। जहाँ तत्त्व की झनकार होती है, वहाँ प्रकाश की वर्षा होती रहती है। इस रस को पीते ही अर्थात् इस आनन्द को प्राप्त करते ही (स्थूल) पाँच (विषयों) को (अभ्यासी) भूल जाता है। देखो, समुद्र और बूँद (की तत्त्वरूपता) में जैसे भेद नहीं है, इसी तरह जीव (आत्मा) और कल्याणकारी (परमात्मा) एक है। कबीर साहब कहते हैं कि यह संकेत गूँगे-से (गूँगे को) है। वेद और कुरान का प्रवेश या पहुँच (इसमें) नहीं है।

सारांश–उल्लिखित पद्य में अन्तर-साधन का वर्णन है। अन्तर-साधन में जो-जो अनुभूति होती है, जैसी-की-तैसी सब कथन में नहीं आ सकतीं और न लेखबद्ध ही हो सकती हैं। किसी पुस्तक में इस विषय का जो लेख है, सो संकेत मात्र है। अन्तर की अनुभूतियों में

अभ्यासी को जो रस आता है, वह अकथनीय है। कोई भी पुस्तक इसका बोध नहीं करा सकती।

टिप्पणी—पद्य में वर्णित प्रकाश और अनहद नाद के विषय में कथन उपनिषदों में भी बहुत हैं। इस पुस्तक में कुछ जानकारी के लिए थोड़े-से लिखे भी जा चुके हैं। इसलिए यहाँ और विशेष नहीं लिखे गये। ध्यानाभ्यास में तत्त्वों के अलग-अलग रंग के प्रकाश दर्शित होते हैं। उनके दर्शन-काल में जो अनहद ध्वनि सुनने में आती है, वही तत्त्व की झनकार है।

॥ मूल पद्य ॥

मन तू मानत क्यों न मना रे ।
कौन कहन को कौन सुनन को, दूजा कौन जना रे ॥१॥
दर्पण में प्रतिबिम्ब जो भासै, आप चहूँ दिसि सोई।
दुविधा मिटै एक जब होवै, तौ लखि पावै कोई ॥२॥
जैसे जल ते हेम बनतु है, हेम धूम जल होई।
तैसे या तत वाहू तत सों, फिर यह अरु वह सोई ॥३॥
जो समुझै तो खरी कहन है, ना समुझै तो खोटी।
कहै कबीर दोऊ पख त्यागै, ताकी मति है मोटी ॥४॥

शब्दार्थ—प्रतिबिम्ब=परछाईं, छाया। भासै=दिख पड़ना, चमकना। आप=स्वयं, आत्मा। दिसि=दिशा, ओर, तरफ। दुविधा (द्विविधा)=दो में से किसी एक बात पर चित्त के न जमने की क्रिया या भाव, चित्त की अस्थिरता, संदेह। हेम=बर्फ। धूम=धुआँ, वाष्प, भाफ। या तत=जीवात्मा। वा तत=परमात्मा। खरी=अच्छी। खोटी=बुरी। पख=पक्ष, ओर, पार्श्व, तरफ। मोटी मति=साधारण बुद्धि।

पद्यार्थ—रे मन! तू वर्जन या मनाही क्यों नहीं मानता है? कहनेवाला कौन है, सुननेवाला कौन है और दूसरा कौन व्यक्ति है? (अर्थात् दूसरा कोई नहीं है, जो है, एक-ही-एक है।) आईने में जो परछाईं झलकती है, उसी तरह स्वयं ही (आत्मा ही) चारो ओर (वही) है। (एक है वा अनेक है, यह) सन्देह मिट जाय और जब एक (होने की दृढ़ता) हो जाए, तब कोई (एक-ही-एक) देख पाता है। जैसे जल से बर्फ और भाफ बनती है, (तो) बर्फ और भाफ पानी

ही होती है, तैसे ही यह तत्त्व (जीवात्मा) उस तत्त्व (परमात्मा) से है। पुनः यह जीवात्मा और वह परमात्मा वह (परम तत्त्व परमात्मा) ही है। यदि समझे तो (यह) कथन अच्छा है, नहीं समझे तो बुरा है। कबीर साहब कहते हैं कि जो दोनों पक्षों को त्याग दे, उसकी बुद्धि साधारण है।

सारांश–अनेक शरीरों में भिन्न-भिन्न नहीं, एक ही आत्मा है। एकात्म-बुद्धि नहीं होनी, अनेकात्म-बुद्धि होनी भ्रम-पूर्ण है। जैसे किसी एक रूपधारी के चारो ओर बहुत-से आईने रखे हों, तो उन बहुत-से आईनों में उसी एक की बहुत-सी परछाईं बहुत-से आईनों के कारण दरसती हैं, वैसे ही एक ही आत्मा में अनेक शरीरों के कारण अनेकता का ज्ञान भ्रम-वश होता है और जैसे पानी, भाफ और बर्फ तत्त्वरूप में एक ही है, वैसे ही परमात्मा और जीवात्मा तत्त्व-रूप में एक ही है। एकात्म-बुद्धि और अनेकात्म-बुद्धि–आत्म-ज्ञान के ये दो पक्ष हैं। इन दोनों में-से किसी एक पर बुद्धि दृढ़ कर लेनी, साधारण या मोटी बुद्धि का काम नहीं, विशेष तीव्र बुद्धि का काम है; परन्तु इन दोनों पक्षों को त्यागकर रहना साधारण (मोटी) बुद्धि का काम है।

टिप्पणी–कबीर साहब की निष्ठा एकात्मवाद-सिद्धांत में है, ऐसा जानने में आता है। उपनिषद् में भी इस निष्ठा की पुष्टि की गयी है–

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥१॥

–कठोपनिषद्, अ० २, वल्ली २

अर्थ–जिस प्रकार इस लोक में प्रविष्ट हुआ वायु प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है, उसी प्रकार सर्व भूतों का एक ही अन्तरात्मा प्रत्येक रूप के अनुरूप हो रहा है और उनसे बाहर भी है।

॥ मूल पद्य ॥

जाके नाम न आवत हिये ॥ टेक॥
कहा भये नर काशी बसे से, का गंगा जल पिये ॥१॥
काह भये नर जटा बढ़ाये, का गुदरी के सिये ॥२॥
का रे भये कंठी के बाँधे, काह तिलक के दिये ॥३॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, नाहक ऐसे जिये ॥४॥

पद्यार्थ–जिसके हृदय में नाम नहीं आता है, उस मनुष्य को

काशी में बसने से और गंगा-जल पीने से क्या लाभ हुआ? अर्थात् लाभ नहीं हुआ। उस आदमी को जटा बढ़ाने से और गुदड़ी सीने से क्या लाभ हुआ? अर्थात् लाभ नहीं हुआ। उस आदमी को कण्ठी बाँधने और तिलक लगाने से क्या लाभ हुआ? अर्थात् नहीं लाभ हुआ। कबीर साहब कहते हैं कि हे भाई! सुनो, इस तरह का जीना व्यर्थ ही है।

टिप्पणी—नाम के विषय में कबीर साहब का कथन है—

'राम राम सब कोइ कहै, नाम न चीन्है कोय।
नाम चीन्हि सतगुरु मिलै, नाम कहावै सोय॥
आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह॥
मुख कर की मेहनत मिटी, सतगुरु करी सहाइ।
घट में नाम प्रगट भया, बक बक मरै बलाय॥
सहजे ही धुन होत है, हरदम घट के माहिं।
सुरत शब्द मेला भया, मुख की हाजत नाहिं॥'
'अजर अमर एक नाम है, सुमिरन जो आवे।
बिन ही मुख के जप करो, नहिं जीभ डुलाओ॥
उलटि सुरत ऊपर करो, नैनन दरसाओ॥'

इन सब कथनों के अनुसार हिय में आनेवाला नाम ध्वन्यात्मक अनाहत नाद ज्ञात होता है, जो घट में प्रकट होता है।

॥ मूल पद्य ॥

पाँच पचीस करे बस अपने, करि गुरु ज्ञान छड़ी।
अगल बगल के मारि उड़ाये, सनमुख डगर धरी॥

पद्यार्थ—गुरु-ज्ञान की छड़ी के द्वारा पाँच तत्त्वों और पचीस प्रकृतियों को अपने अधीन में करे और अगल-बगल की वृत्तियों को दमन कर हटाये और सम्मुख मार्ग को धारण करे।

॥ मूल पद्य ॥

अपनपौ आपुहि तें बिसरो॥ टेक॥
जैसे स्वान काँच मन्दिर में, भ्रम से भूकि मरो॥१॥
ज्यों केहरि बपु निरखि कूप जल, प्रतिमा देखि गिरो॥२॥
वैसे ही गज फटिक सिला में, दसनन आनि अड़ो॥३॥

मरकट मूठि स्वाद नहिं बहुरै, घर घर रटत फिरो ।।४।।
कहै कबीर नलनी के सुगना, तोहि कवन पकरो ।।५।।

पद्यार्थ–अपनपौ=आत्मस्वरूप। बिसरो=भूल गया। स्वान (श्वान)=कुत्ता। काँच-मंदिर=आईने का घर। भ्रम=मिथ्या ज्ञान, भ्रान्ति, धोखा। केहरि=सिंह। बपु=शरीर। निरखि=देखकर। प्रतिमा=प्रतिमूर्त्ति, परछाईं, परिछाहीं। गज=हाथी। फटिक=स्फटिक, बिल्लौर, मर्मर पत्थर, संगमर्मर। दसनन=दाँत। आनि=आकर, लाकर। अड़ो=अड़ गया, लड़ गया, हठ कर गया। मरकट=बन्दर। बहुरै=लौटे। रटत=घूमता है। नलनी= छोटी पतली नली।

पद्यार्थ–अपनी आत्मा को अपने से भूल गये। जिस तरह से आईने के घर में कुत्ता धोखे से भूँक-भूँककर मरता है, जैसे सिंह कुएँ के पानी में अपने शरीर की परिछाहीं को देखकर गिर गया, उसी तरह हाथी आकर मर्मर पत्थर में अपने दाँतों से अर्थात् अपने दाँतों के द्वारा लड़ गया। बन्दर स्वाद के कारण मुट्ठी को नहीं लौटाता अर्थात् मुट्ठी को नहीं खोलता और घर-घर घूमता-फिरता है। कबीर साहब कहते हैं कि अरे नलनी के सुगना! तुझे किसने पकड़ा है? अर्थात् तुझे किसी ने नहीं पकड़ा है।

भावार्थ–आईने के घर में कुत्ता जिस ओर देखता है, अपने शरीर का प्रतिबिम्ब देखता है। उसको धोखा होता है कि उसके चारो तरफ दूसरे-दूसरे कुत्ते हैं। उनको देख-देखकर वह भूँक-भूँककर मरता है। वह इस बात को भूल जाता है कि सब तरफ मेरा ही प्रतिबिम्ब है। इसी तरह मनुष्य अपने आत्म-स्वरूप को भूलकर आईने-सदृश मायामय संसार में भ्रम से अनेकत्व का ज्ञान ग्रहण करता है और यह जानकर कि मुझसे भिन्न–अलग-अलग आत्माएँ हैं, राग-द्वेष तथा काम-क्रोधादिक विकारों में फँसकर मृत्यु का दुःख भोगता है।

सिंह की कथा–एक जंगल में एक सिंह रहता था। उस जंगल के अन्य पशुओं को इच्छानुसार वह मार-मारकर खाता था। उन सब पशुओं ने उससे कहा कि आप अपने भोजन के लिए यह नियम मान लीजिए कि हममें प्रत्येक दिन पारी-पारी से एक-एक आपके पास स्वयं आएगा और उसे आप भोजन कीजिएगा। उस सिंह ने इस नियम को मान लिया। नियमानुसार बरता जाने लगा। एक दिन एक खरहे की पारी आयी। वह बहुत विलम्ब करके उस दिन सिंह के पास गया। भोजन में विलम्ब हो जाने के कारण सिंह बहुत क्रोधित हो रहा था।

उसने उस खरहे से बहुत डाँटकर कहा–'क्यों रे! तूने विलम्ब क्यों किया?' खरहा डरते, गिड़गिड़ाते विनय करके बोलो–"महाराज! मैं क्या करूँ? मुझको एक दूसरे सिंह ने, जो यहाँ से कुछ दूर पर बैठा है, रोक रखा था और मुझको खा जाना चाहता था; परन्तु जब मैंने आपका नाम उसको कहकर विश्वास दिलाया, तब उसने क्रोध करके कहा कि जाओ, उस सिंह को बुलाकर ले आओ। पहले मैं उसी को मार डालूँगा, पीछे तुझे खाऊँगा।" ऐसा सुनकर वह सिंह बहुत क्रोधित हुआ और खरहे से गरजकर कहा–'चल, दिखला उस सिंह को।' खरहा चल पड़ा और उसके बतलाये हुए मार्ग से सिंह भी चलने लगा। कुछ दूर जाकर उस खरहे ने उस सिंह को एक कुआँ दिखला दिया और उस सिंह से कहा–'महाराज! इसी में मुझको रोकनेवाला दूसरा सिंह रहता है।' सिंह उस कुएँ पर जाकर गरजा और कुएँ के जल में देखा, तो उसको मालूम हुआ कि कुएँ में दूसरा सिंह गरज रहा है। वह सिंह अत्यन्त क्रोधित होकर कुएँ के अन्दर के सिंह से लड़ने के लिए कुएँ में कूदकर गिर पड़ा और उसीमें अपने प्राण गँवाये।

कुएँ में कोई दूसरा सिंह था नहीं। था उसी का प्रतिबिम्ब, जो कुएँ के जल में देखने में आता था। संत कबीर साहब कहते हैं कि जो आत्मज्ञान-विहीन मनुष्य हैं, वे माया के कुएँ में रूप की अनेकता देखते हैं। सबमें एक आत्म-रूप को भूले रहते हैं और भिन्न-भिन्न अनेक आत्माओं के मिथ्या ज्ञान में रहकर वह माया की भिन्नता-रूप संसार में दुःख पाते रहते हैं। जैसे सिंह को कुएँ के जल में दर्शित अपने प्रतिबिम्ब से दूसरे सिंह का होना भ्रम से जान पड़ा था, वैसे ही हाथी को भी मर्मर पत्थर या संगमर्मर के पहाड़ में दर्शित अपने प्रतिबिम्ब का ही दूसरा हाथी भ्रम से दरसता है। तब वह उस पहाड़ में अपने दाँतों को लगाकर लड़ता है। एकात्मज्ञान-विहीन मनुष्य को भ्रमवश अनेक आत्माओं का ज्ञान होता है और वह राग-द्वेष में फँसकर संसार में में दुःख भोगता है। बन्दर पकड़नेवाले छोटे मुँह के बर्त्तन में मिठाई रखकर उस बर्त्तन को बाहर रख देते हैं। बन्दर उस बर्त्तन में मिठाई को देखकर उसके स्वाद के लिए ललचता है। उस बर्त्तन में हाथ देता है और मिठाई को अपनी मुट्ठी में पकड़ता है; परन्तु उस बर्त्तन से अपनी बँधी हुई मिठाईवाली मुट्ठी को नहीं निकाल सकता; क्योंकि बर्त्तन का मुँह इतना छोटा होता है कि बंदर की वैसी मुट्ठी उसमें से नहीं निकल सकती। बन्दर मिठाई के स्वाद के लालच को छोड़कर अपनी मुट्ठी खोलकर बिना मिठाई लिये ही केवल

हाथ को उस बर्त्तन से नहीं निकालता है और कलन्दर के अधीन हो जाता है। यद्यपि बन्दर अपनी मुट्ठी खोलकर बर्त्तन से अपने हाथ को निकालने में और कलन्दर की अधीनता से बचने में स्वतंत्र है; परन्तु जीभ-लालच में फँसकर कलन्दर के अधीन हो जाता है।

कबीर साहब कहते हैं कि इसी तरह मनुष्य भी विषय-स्वाद के लालच में फँसकर विषय के अधीन हो रहा है; परन्तु यह विषय-स्वाद के लालच को छोड़ने में और माया की अधीनता से बचने में स्वतंत्र है।

एक पतली नली में ऐसी काठी पहनाकर, जिसपर कि वह नली धूम सके, सुग्गा पकड़नेवाला उस काठी के दोनों किनारों को दो लकड़ियों से बाँधकर जमीन से थोड़ा ऊँचा करके उन दोनों लकड़ियों को गाड़ देता है। वह नली तब सुग्गे के बैठने के योग्य पिंजड़े में बने ऊँचे बैठक के सदृश टाल बन जाती है। उसके नीचे सुग्गे के भोजन के योग्य पदार्थों को सुग्गा पकड़नेवाला रख देता है। सुग्गा भोजन के लालच से उस टाल पर आकर बैठता है। जब वह नीचे पड़े भोजन को अपनी चोंच से पकड़ने के लिए नीचे की ओर झुकता है, तो वह नली घूम जाती है। सुग्गे के पैर वा चंगुल ऊपर हो जाते हैं और उसका सारा शरीर नीचे हो जाता है। सुग्गा चंगुल से उस नली को पकड़े हुए चित लटकता रहता है। भ्रम से वह बोध करता है कि उसको किसी ने पकड़ रखा है; परन्तु किसी ने उसको पकड़ा नहीं है, बल्कि वह अपने ही चंगुल से नली की टाल को पकड़े हुए है। न वह अपने चंगुल से नली को छोड़ता है, न उस नली की टाल से छूटता है, न सुग्गा पकड़नेवाले की अधीनता से बचता है और उसके अधीन हो जाता है।

संत कबीर साहब कहते हैं कि हे विषयासक्त मनुष्य! तुमको किसी ने माया से बाँध नहीं दिया है। मायिक विषय-भोग के लालच में विषयों को पकड़कर तुम माया-वश हो गये हो। जैसे सुग्गा अपने चंगुल से कथित नलीवाली टाल छोड़कर स्वतंत्रता से उड़ सकता है, उसी तरह तुम भी विषय-त्याग से माया-वश्यता से छूट सकते हो। बन्दर और सुग्गे की कथित कथाओं का भाव श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी की रामचरितमानस की चौपाई में भी झलकता है–

ईस्वर अंस जीव अबिनासी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो मायाबस भयउ गुसाईं। बँधेउ कीर मर्कट की नाईं॥

(कीर=सुग्गा)

॥ **मूल पद्य,** निरख प्रबोध की रमैणी ॥

अस सतगुरु बोले सतबानी। धन धन सत्तनाम जिन जानी॥
नाम प्रतीति भई सब संता। एक जानि के मिटे अनन्ता॥
अनन्त नाम जब एक समाना। तब ही साध परम पद जाना॥
बिरला संत परम गति जानै। एक अनन्त सो कहा बखानै॥
सब तें न्यारा सब के माहीं। माँझी सतगुरु दूजा नाहीं॥
सत्त नाम जाके धन होई। धन जीवन ताही को सोई॥
सत्त नाम है सब तें न्यारा। निर्गुन सर्गुन सबद पसारा॥
निर्गुन बीज सर्गुन फल फूला। साखा ज्ञान नाम है मूला॥
मूल गहे ते सब सुख पावै। डाल पात में मूल गँवावै॥
सतगुरु कही नाम पहिचानी। निर्गुन सर्गुन भेद बखानी॥
अंस नाम तें फिरि फिरि आवै। पूरन नाम परम पद पावै॥

शब्दार्थ—धन=धन्य। अनन्त=असंख्य। अंशनाम=प्रणव-ध्वनि या सारशब्द के अतिरिक्त नादानुसंधान (सुरत-शब्द-योग) में प्रकट होनेवाले दूसरे सब शब्द। पूरन नाम=प्रणव ध्वनि, सारशब्द। सत्त नाम= सत्यनाम, सारशब्द, प्रणव ध्वनि। कहा=क्या। मांझी=मल्लाह, कर्णधार। सर्गुन=सगुण।

पद्यार्थ—सद्गुरु ने इस प्रकार सत्वचन कहा—'जिन्होंने सत्य नाम जाना है, वे धन्य हैं! वे धन्य हैं!!' सब संतों को सत्यनाम का विश्वास हुआ। एक सत्यनाम (सत्तनाम) को जानने से अनेक नाम या शब्द मिट जाते हैं। जब अनेक नाम वा शब्द एक सत्यनाम में समा जाते हैं वा लीन हो जाते हैं, तभी साधन करनेवाले परम पद या मोक्ष को जानते हैं। बिरले संत परम गति (मोक्ष) को जानते हैं, वे एक (शब्द) और असंख्य (शब्द) का वर्णन क्या करें? (क्योंकि परम गति या परम मोक्ष के जाननेवाले शब्दातीत पद को जानते हैं।) (सत्यनाम) सबसे भिन्न है और सबमें है। सद्गुरु माँझी—कर्णधार हैं (अर्थात् सुरत को सत्यनाम की ओर ले चलनेवाले हैं।) और दूसरे (ऐसे कोई) नहीं हैं। जिसका सत्यनाम (रूपी) धन है, उसके लिए वही जीवन-धन है। सत्यनाम सबसे भिन्न है। गुण-रहित और गुण-सहित, सब शब्द के पसार हैं। निर्गुण बीज है और सगुण फल-फूल हैं। शाखा ज्ञान है और नाम मूल या जड़ है। मूल पकड़ने से सब सुख पाते हैं और डाल-पात (के पकड़ने) में मूल को गँवाते हैं। सद्गुरु ने नाम की पहचान कही

है और निर्गुण तथा सगुण के भेद का वर्णन किया है। अंश-नाम के साधन के ही अभ्यास में रह जाने से पुनः पुनः संसार में आते हैं और पूरण नाम (पूर्ण नाम) सत्यनाम या प्रणव-ध्वनि के साधन-अभ्यास से परम पद अर्थात् मोक्ष को पाते हैं।

॥ मूल पद्य, दोहा ॥

कबीर महिमा नाम की, कहना कही न जाय।
चारि मुक्ति औ चार फल, और परम पद पाय॥

पद्यार्थ—कबीर साहब कहते हैं—नाम की महिमा का कथन कहा नहीं जाता है, (नाम-भजन से) चारो (सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य) मुक्ति, चार फल (अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष) और परम पद अर्थात् निर्वाण पद (अनाम पद) की पहुँच पाते हैं।

॥ मूल पद्य, चौपाई ॥

प्रथम एक सो आपै आप। निराकार निर्गुन निर्जाप॥

पद्यार्थ—पहले वह (परम पुरुष अनाम) आप-ही-आप हैं, आकार-रहित (त्रय) गुण-रहित और जप-रहित हैं।

॥ मूल पद्य, दोहा ॥

कहै कबीर विचारि के, तब कछु किरतम नाहिं।
परम पुरुष तहाँ आपही, अगम अगोचर माहिं॥

शब्दार्थ—किरतम=कृत्रिम, किया हुआ, सिरजा हुआ, सृजित। अगम=बुद्धि से नहीं जाननेयोग्य। अगोचर=ज्ञान की इन्द्रियों को अप्रत्यक्ष।

पद्यार्थ—कबीर साहब विचारकर कहते हैं—'तब (जब सृष्टि नहीं थी) कुछ सृजित नहीं था, वहाँ अगम अगोचर में परम पुरुष आप-ही-आप थे।

॥ मूल पद्य ॥

सखिया वा घर सबसे न्यारा, जहँ पूरन पुरुष हमारा॥ टेक॥
जहँ नहिं सुख दुख साँच झूठ नहिं, पाप न पुन्न पसारा।
नहिं दिन रैन चन्द नहीं सूरज, बिना जोति उँजियारा॥ १॥
नहिं तहँ ज्ञान ध्यान नहिं जप तप, वेद कितेब न बानी।
करनी धरनी रहनी गहनी, ये सब जहाँ हिरानी॥ २॥

धर नहिं अधर न बाहर भीतर, पिंड ब्रह्मण्ड कछु नाहीं।
पाँच तत्त्व गुन तीन नहीं तहँ, साखी शब्द न ताहीं॥ ३॥
मूल न फूल बेलि नहिं बीजा, बिना बृच्छ फल सोहै।
ओअं सोहं अर्ध उर्ध नहिं, स्वासा लेख न कोहै॥ ४॥
नहिं निर्गुन नहिं सर्गुन भाई, नहीं सूक्ष्म स्थूलं।
नहिं अच्छर नहिं अविगत भाई, ये सब जग के मूलं॥ ५॥
जहाँ पुरुष तहवाँ कछु नाहीं, कहै कबीर हम जाना।
हमरी सैन लखै जो कोई, पावै पद निरवाना॥ ६॥

शब्दार्थ—साँच=सत्, स्थायी, अपरिवर्त्तनशील पदार्थ, चेतन। झूठ=असत्, अस्थायी, परिवर्त्तनशील पदार्थ, जड़। रैन=रात। करनी=कर्म। धरनी=पकड़, ग्रहण, पकड़ने की क्रिया। रहनी=रहन, रहने की क्रिया, व्यवहार, आचार। हिरानी=मिट गई, दूर हो गई। बानी (वाणी)=शब्द, वचन। धर=पृथ्वी। अधर=अन्तरिक्ष, आकाश। पिण्ड=शरीर, छोटी सृष्टि। ब्रह्मंड=ब्रह्माण्ड, बड़ी सृष्टि। मूल=जड़। बेलि=बेल, लता, लत्तर। बीजा=बीज, बिच्चा। सोहै=शोभायमान। अर्ध=अधः, नीचे। उर्ध=ऊर्ध्व, ऊपर। लेख=लेखा, हिसाब। अच्छर=अक्षर, अनाश, अविनाशी। अविगत=सर्वव्यापी। सैन=इशारा।

टिप्पणी—यह शब्द इतना स्पष्ट है कि इसके शब्दार्थ जानने से ही पद्यार्थ विदित हो जाता है।

तात्पर्यार्थ—इस शब्द में प्रकृति परे और मायातीत परमात्म-स्वरूप, सर्वेश्वर, पुरुषोत्तमपद का वर्णन है, जहाँ सापेक्ष और द्वैती भावों का होना नहीं हो सकता है। वह साँच—सत्—परा प्रकृति रूपान्तर दशा से रहित तत्त्व—चेतन—निर्गुण—अक्षर पुरुष और झूठ—असत्—अपरा प्रकृति—रूपान्तर होनेवाले तत्त्व—अचेतन—जड़—सगुण—क्षर पुरुष से विलक्षण और परे है और वह अविगत अर्थात् सर्व (समस्त प्रकृति-मण्डल)-व्यापी ही नहीं है, इसलिए कि कथित मण्डल हो भरकर ही वह समाप्त नहीं हो जाता है। इस मण्डल के बाहर वह कितना अधिक है—यह अवर्णनीय है; क्योंकि वह स्वरूपतः अनादि-अनन्त है। पूरण पुरुष (पूर्ण पुरुष—सर्वेश्वर परमात्मा पुरुषोत्तम) के स्वरूप का इस प्रकार वर्णन करना कबीर साहब की कोई नवीन उक्ति नहीं है। इसके लिए महाभारत, भीष्म पर्वान्तर्गत श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १३,

श्लोक १२; अध्याय ७, श्लोक ४-५; अध्याय १५, श्लोक १६-१७; शान्तिपर्व, उत्तरार्द्ध, मोक्षधर्म, अध्याय १०४ और श्रीमद्भगवद्गीता-रहस्य (लोकमान्य बालगंगाधर तिलक-लिखित), अध्यात्म-प्रकरण, पृ० २४६ आदि का पढ़ना और मनन करना आवश्यक है।

॥ मूल पद्य ॥

जो कोइ निरगुन दरसन पावै ॥ टेक ॥
प्रथमे सुरति जमावै तिल पर, मूल मन्त्र गहि लावै।
गगन गराजै दामिनि दमकै, अनहद नाद बजावै ॥१॥
बिन जिभ्या नामहिं को सुमिरै, अमि रस अजर चुवावै।
अजपा लागि रहै सूरति पर, नैन न पलक डुलावै ॥२॥
गगन मंदिल में फूल फुलाना, उहाँ भँवर रस पावै।
इंगला पिंगला सुखमनि सोधै, प्रेम जोति लौ लावै ॥३॥
सुन्न महल में पुरुष विराजै, जहाँ अमर घर छावै।
कहै कबीर सतगुरु बिनु चीन्हे, कैसे वह घर पावै ॥४॥

शब्दार्थ—निरगुन=निर्गुण, त्रयगुण (रजोगुण, सत्त्वगुण, तमोगुण) से रहित। जमावै=स्थिर करे। तिल=विन्दु। मूलमंत्र=गुरु से प्राप्त जप का शब्द। मूल मंत्र गहि लावै=गुरु-मंत्र को पकड़कर अर्थात् विधिपूर्वक मंत्र का जप करके सुरत को तिल या विन्दु की ओर लावे। अमि=अमिय, अमृत। अजर=जो सदा एकरस रहे। चुवावै=चुलावे। गराजै=गरजे। गगन गराजै=आसमान गरजता है, जोर की आसमानी ध्वनि होती है, आसमानी ध्वनि की गर्जना होती है। दामिनि=दामिनी, बिजली। दमकै=चमकै। अनहद नाद=ध्यानाभ्यास में विदित होनेवाला अन्तर का शब्द। अजपा= जिसका उच्चारण न किया जा सके, सहज (स्वाभाविक) ध्वनि ('जाप अजपा हो सहज ध्वनि, परख गुरु-गम धारिये।'—कबीरपंथ का ग्रंथ 'अनुराग-सागर'), अनहद शब्द। मन्दिल=मंदिर। फूल फुलाना= ज्योति-मंडल का खुलना। भँवर=भौंरा (अभ्यासी)। इंगला=इड़ा। सोधै=सुधारे, संशोधन करे, शुद्ध करे। छावै=डेरा करे।

पद्यार्थ—जो कोई निर्गुण के दर्शन पाना चाहता हो, उसको चाहिए कि पहले वह गुरु-मंत्र का विधिपूर्वक जप करके सुरत को तिल या विन्दु की ओर लावे और तिल पर जमावे। अन्तर में बिजली

की चमक देखते हुए अनहद नाद की आकाशी गर्जना को सुने, नाम को अर्थात् गुरु-मंत्र को बिना जिह्वा के सुमरे अर्थात् मानस जप करे और एकरस रहनेवाला अमृत रस (ज्योति और शब्द-रूप चेतन-धार को) चुलावे अर्थात् प्राप्त करे। उसकी सुरत वा चेतन-वृत्ति पर अनहद नाद की ध्वनि लगी रहे और वह अपनी आँखों और पलकों को नहीं डुलावे। अन्तर के आकाश-महल में, जहाँ प्रकाश-मंडल खुलता है, वहाँ भँवर (साधक) आनन्द प्राप्त करता है। इंगला (बायीं वृत्ति) और पिंगला (दायीं वृत्ति) को सुषुम्ना में (मध्यवृत्ति में लाकर) शुद्ध करे, (असम नहीं रहने दे, तब) प्रेम की ज्योति में लौ लगावे। जहाँ (वह निर्गुण) पुरुष शून्य-महल में विराजते हैं, (वहाँ) अमर घर में (अपना) डेरा करे। कबीर साहब का कथन है कि सद्गुरु को चीन्हे बिना उस घर को कैसे पा सकता है? (अर्थात् नहीं पा सकता है।)

टिप्पणी—इस शब्द में परम पुरुष सर्वेश्वर परमात्मा पुरुषोत्तम की प्राप्ति की युक्ति का वर्णन किया गया है। तिल पर सुरत जमाना दृष्टियोग है, जिसको शाम्भवी वा वैष्णवी मुद्रा भी कहते हैं। इसका निरापद वा सुगम साधन अमादृष्टि से वा आँख बन्द करके करना है*। पूरी आँख खोलकर वा आधी आँख बंद कर और आधी आँख खोलकर पूर्णिमा दृष्टि वा प्रतिपदा दृष्टि से करना निरापद और सुगम नहीं है। इस साधन में दृढ़ता प्राप्त किये बिना शब्द-ध्यान भी उत्तम नहीं है। जानकार साधनशील पुरुष से युक्ति जानकर इसका अभ्यास करना चाहिए।

॥ मूल पद्य ॥

बिनु गुरु ज्ञान नाम नहिं पैहो, मिरथा जनम गँवाई हो ॥ टेक॥
जल भरि कुंभ धरे जल भीतर, बाहर भीतर पानी हो ।
उलटि कुंभ जल जलहि समैहैं, तब का करिहौ ज्ञानी हो ॥ १॥
बिन करताल पखावज बाजै, बिनु रसना गुन गाया हो ।
गावनहार के रूप न रेखा, सतगुरु अलख लखाया हो ॥ २॥

---

* कबीर साहब के पद्य में आँख बन्द करके साधन करने की विधि है। जैसे—'आँख कान मुख बन्द कराओ, अनहद झिंगा शब्द सुनाओ। दोनों तिल एक तार मिलाओ, तब देखो गुलजारा है।।' और 'बन्द कर दृष्टि को फेरि अन्दर करै, घट का पाट गुरुदेव खोलै।'

है अथाह थाह सबहिन में, दरिया लहर समानी हो ।
जाल डारि का करिहौ धीमर, मीन के ह्वै गै पानी हो ॥ ३॥
पंछीक खोज व मीन कै मारग, ढूँढ़े न कोइ पाया हो ।
कहै कबीर सतगुरु मिल पूरा, भूले को राह बताया हो ॥ ४॥

शब्दार्थ—मिरथा=बिरथा, व्यर्थ। कुम्भ=घड़ा, कलश, घैला। रसना=जिह्वा। अथाह=जिसकी थाह वा पता न हो। गूढ़=गुप्त, जिसके जानने में कठिनता हो।

पद्यार्थ—गुरु के ज्ञान के बिना नाम नहीं पाओगे, व्यर्थ ही जन्म गँवाओगे। घड़े को जल से भरकर जल के अन्दर रखे, तो उस घड़े के बाहर और भीतर पानी-ही-पानी है। (और) कुम्भ-जल को उलटने पर जल जल में समा जाएगा, हे ज्ञानी! तब तुम क्या करोगे? बिना करताल और पखावज के (करताल और पखावज का बाजा) बजता है, बिना जिह्वा के गुण गाया जाता है। गानेवाले की रूप-रेखा नहीं है। सद्‌गुरु ने अलख (परमात्मा) लखाया है। वह परमात्मा गूढ़ (गुप्त) है, उसका पता सबमें है। लहर वा तरंग वा ढेव में समुद्र समाया हुआ है। हे धीवर! जाल डालकर क्या करोगे? मछली पानी हो गई है। पक्षी की खोज और मछली का रास्ता ढूँढ़ने पर (भी) किसी ने नहीं पाया है। कबीर साहब कहते हैं कि पूरे सद्‌गुरु से मिलकर भूले हुए को रास्ता बतलाया है।

तात्पर्यार्थ—जैसे जल से भरा घड़ा जल में रखा हो, उसी तरह जीव-रूप चेतन आत्मा या सुरत से भरा पिण्ड परमात्मा में रहता है। जैसे कुम्भ-जल के उलटने पर वह जल घड़े-रूप आवरण से छूटकर घड़े के बाहर के जल से मिल जाता है, इसी तरह पिण्ड से आवृत्त चेतन आत्मा या सुरत उलटकर (बहिर्मुख से अन्तर्मुख हो) पिण्ड से छूटकर परमात्मा से मिल जाएगी। तब ज्ञान-साधन का कर्म करना ज्ञानी को नहीं रहेगा। अन्तर्मुखी चेतन आत्मा को करताल और पखावज बाजे की तरह अनहद नाद की ध्वनियाँ सुनने में आती हैं। यह अन्तर्मुखगामिनी चेतन आत्मा बिना रूप-रेखा और जिह्वा के होकर सद्‌गुरु का गुण-गान करती है, जिन्होंने उसको अलख लखाया है। परमात्मा इन्द्रियों के ज्ञान से बाहर है, अतएव उसकी थाह—पता इन्द्रियों-द्वारा नहीं लगता है; परन्तु वह अपरम्पार-स्वरूपी और सर्वव्यापी है। इसलिए जैसे समुद्र अपनी लहर में है, उसी तरह अपनी लहर-रूप चेतन आत्मा में वह समाया हुआ है।

इसी तरह उसका पता ज्ञान-गम्य रूप से सबके अन्दर है। अन्तर्मुख हुई चेतन आत्मा जब आत्म-ज्ञान-द्वारा परमात्म-स्वरूप को पहचान जाती है, तब उसकी लहर-रूप जीवत्व-दशा छूट जाती है और वह काल-जाल में फँसनेयोग्य नहीं रहती है। कबीर साहब विहंगम और मीनमार्ग से चलने का आदेश देते हैं। जो सद्गुरु से मिलेगा, उसको ऊपरकथित अन्तर्मार्ग मिलेगा और तब वह दूसरे को भी रास्ता बता सकेगा।

टिप्पणी—अनहद ध्वनियाँ विविध प्रकार की होती हैं, केवल करताल और पखावज की तरह नहीं। वहाँ करताल और पखावज सब कहकर अनहद ध्वनियों का संकेत किया गया है। शून्य-ध्यान से पक्षी वा विहंगम की तरह शून्य-पथ पर चला जाता है, इसको विहंगम-मार्ग कहते हैं। इसपर दृष्टियोग-द्वारा यात्रा की जाती है। पक्षीवत् देखना और आकाश में गमन होना, इस यात्रा में होता रहता है; इसीलिए यह विहंगम-मार्ग कहलाता है। जैसे मछली भाठे से सिरे की ओर जल की उलटी धारा पर सुगमता से चलती है, इसी तरह शब्द-धारों पर सुरत नीचे से ऊँचे-से-ऊँचे की ओर अर्थात् स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर (शब्द-धार के प्रवाह की ओर से उसके उद्गम की ओर अर्थात् शब्द की उलटी धार पर) सुगमता से चल सकती है। इसलिए नादानुसंधान या सुरत-शब्द-योग को मीन-मार्ग कहते हैं। शून्य-ध्यान और शब्द-ध्यान का वर्णन तो कबीर साहब की तरह अन्य संतों की वाणियों में भी भरा हुआ है। संस्कृत-ग्रंथों में भी इसका कम वर्णन देखने में नहीं आता। प्रमाण के लिए 'सत्संग-योग' पढ़कर देखिये।

॥ मूल पद्य ॥

छैल चिकनियाँ अभै घनेरे, छका फिरै दीवाना।
छाया माया इस्थिर नाहीं, फिर आखिर पछिताना॥
छर अच्छर निःअच्छर बूझै, सूझि गुरू परिचावै।
छर परिहरि अच्छर लौ लावै, तब निःअच्छर पावै॥
अच्छर गहै विवेक करि, पावै तेहि से भिन्न।
कहै कबीर निःअच्छरहिं, लहै पारखी चीन्ह॥

शब्दार्थ—छैल चिकनियाँ=शौकीन, व्यसनी। अभै=अभय, निडर। छका=नशे में चूर हुआ। दीवाना=पागल। छाया-माया=छाया-रूप माया। छर=क्षर, नाशवान। अच्छर=अक्षर, अनाश। निःअच्छर=निःअक्षर, अक्षरातीत,

अक्षर से परे, अक्षर पर। सूझि=सूझ। परिचावै=परिचय करावे। परिहरि=छोड़कर। पारखी=परखनेवाला, खरा=खोटा जाँचकर पहचाननेवाला। चीन्ह=चिह्न, पहचान।

पद्यार्थ—बहुत-से शौकीन (व्यसनी) मनुष्य निडर होते हैं, जो पागल या मस्त (की तरह) माया-मद में चूर फिरा करते हैं। छाया-रूपी माया स्थिर नहीं है, अन्त में पछताते हैं॥ क्षर (नाशवान तत्त्व), अक्षर (अविनाशी तत्त्व) और अक्षर के (भी) परे या ऊपर पद के तत्त्व को समझे। गुरु (इसकी) सूझ का परिचय कराते हैं। नाशवन्त तत्त्वों को छोड़कर नाश-रहित (अपरिवर्त्तनशील तत्त्व) से लौ लगावे, तब निःअक्षर (निरक्षर) को प्राप्त करेगा॥

सार तथा असार का निर्णय करके नाश-रहित (अपरिवर्त्तनशील पदार्थ) को पकड़े, (तो) उससे पृथक् निःअक्षर को प्राप्त करे। कबीर साहब कहते हैं कि खरा-खोटा जाँचकर पहचान करनेवाला निःअक्षर की पहचान पाता है।

टिप्पणी—श्रीमद्भगवद्गीता में भी क्षर और अक्षर पुरुषों से भिन्न उत्तम पुरुष का वर्णन है—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥१६॥
उत्तमः पुरुषत्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥१७॥

—अध्याय १५

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक महोदयजी के 'गीता-रहस्य' में इन श्लोकों के अर्थ इस प्रकार हैं—

अर्थ—(इस) लोक में क्षर और अक्षर—दो पुरुष हैं। सब (नाशवान) भूतों को क्षर कहते हैं और कूटस्थ को अर्थात् इन सब भूतों के मूल (कूट) में रहनेवाले (परा प्रकृति-रूप अव्यक्त तत्त्व) को अक्षर कहते हैं; परन्तु उत्तम पुरुष (इन दोनों से) भिन्न है। उसको परमात्मा कहते हैं। वही अव्यय ईश्वर त्रैलोक्य में प्रविष्ट होकर (त्रैलोक्य का) पोषण करता है।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥४॥

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥५॥
—श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ७

अर्थ—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार—इन आठ प्रकारों में मेरी प्रकृति विभाजित है। यह अपरा प्रकृति अर्थात् निम्न श्रेणी की प्रकृति है। हे महाबाहु अर्जुन! यह जानो कि इससे भिन्न जगत् को धारण करनेवाली परा अर्थात् उच्च श्रेणी की जीव-स्वरूपा मेरी दूसरी प्रकृति है।

'अनासक्ति-योग' में महात्मा गाँधी-लिखित टिप्पणी—

'इन आठ तत्त्वोंवाला स्वरूप क्षेत्र या क्षर पुरुष है। देखो अ० १३, श्लोक ५ और अध्याय १५, श्लोक १६।'

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥५॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥६॥

अर्थ—(पृथ्वी आदि पाँच स्थूल) महाभूत, अहंकार, बुद्धि (महान), अव्यक्त (प्रकृति), दस (सूक्ष्म) इन्द्रियाँ और एक (मन) तथा (पाँच) इन्द्रियों के पाँच (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध—ये सूक्ष्म) विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना अर्थात् प्राण आदि का व्यक्त व्यापार और धृति यानी धैर्य; इन (३१ तत्त्वों के) समुदाय को सविकार क्षेत्र कहते हैं।

महाभारत, शांति-पर्व, उत्तरार्द्ध, मोक्ष-धर्म, अध्याय १०४ में वर्णन है कि परा प्रकृति रूपान्तर-दशा से रहित है।

चेतन कम्पनमय होने के कारण अपने सहचर शब्द के सहित अवश्य है। यह शब्द भी चेतन और अक्षर कहलाता है। यह व्यक्त शब्द के सदृश आकाश का गुण नहीं है। यह चेतन का गुण-रूप है। इसको शब्दब्रह्म, स्फोट, उद्गीथ, ॐ, प्रणव, रामनाम, सत्यनाम, आदिनाम, सत्यशब्द और सारशब्द कहते हैं। यह वचन में आनेयोग्य या कान से सुननेयोग्य शब्द नहीं है। परम ध्यानशील पुरुष को अपने अन्तर में इसकी अनुभूति होती है। जो क्षर—अपरा प्रकृति को पार करके त्याग देता है, उससे ऊपर चढ़ जाता है, वही उपर्युक्त चेतनमय अक्षर शब्द को प्राप्त

करके उसमें लौ लगाता है। इसकी विलीनता निःअक्षर पुरुषोत्तम में होती है, जहाँ से यह स्फुटित हुआ है। इसके आकर्षण से साधक उसके उद्गम-स्थान में पहुँचकर निःअक्षर पुरुषोत्तम को प्राप्त करता है।

उपनिषदों में और संतवाणी में इस अक्षर परमानन्द शब्द के बारे में इस प्रकार वर्णन है–

द्वे विद्ये वेदितव्ये तु शब्दब्रह्म परं च यत्।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

–ब्रह्मविन्दूपनिषद्

अर्थ–दो विद्याएँ समझनी चाहिए–एक तो शब्दब्रह्म और दूसरी परब्रह्म। शब्द ब्रह्म में जो निपुण हो जाता है, वह परब्रह्म को प्राप्त करता है।

अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते।

–योगशिखोपनिषद्

अर्थ–अक्षर (अनाश) परम नाद को शब्द-ब्रह्म कहते हैं।

अधोषम् अव्यञ्जनम् अस्वरं च अकण्ठताल्वोष्ठम् अनासिकं च।
अरेफजातम् उभयोष्ठवर्जितं यदक्षरं न क्षरते कदाचित्॥

–अमृतनाद उपनिषद्

'कल्याण' के साधनांक, पृष्ठ ६०० में श्रीस्वामी भूमानन्दजी महाराज के ॐकार के बारे में निम्नलिखित वाक्यों के सहित उपर्युक्त श्लोक भी है। श्रीस्वामीजी के वाक्य ये हैं–

'वर्त्तमान युग में प्रणव के स्वरूप को बहुत थोड़े लोग ही जानते हैं। अधिक लोग तो ॐकार के उच्चारण को या मन-ही-मन जप करने को 'प्रणव-साधन' समझते हैं; परन्तु उपनिषद् के कथनानुसार ॐकार का उच्चारण नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह स्वर या व्यञ्जन नहीं है और वह कण्ठ, ओष्ठ, नासिका, जीभ, दाँत, तालु और मूर्द्धा आदि के योग से या उनके घात-प्रतिघात से उच्चरित नहीं होता।'

शब्द शब्द सब कोइ कहै, वो तो शब्द विदेह।
जिभ्या पर आवै नहीं, निरखि परखि करि देह ॥

–कबीर साहब

तुलसी तोल बोल अबोल बानी, बूझि लखि बिरले लई ॥

– संत तुलसी साहब

संत कबीर साहब का आदेश है कि ऊपरकथित शब्दब्रह्मरूप अक्षर को ग्रहण करे।

॥ मूल पद्य ॥

कोई चतुर न पावे पार, नगरिया बावरी ॥ टेक॥
लाल लाल जो सब कोइ कहै, सबकी गाँठी लाल।
गाँठी खोलि के परखै नाहीं, तासे भयो कंगाल ॥ १॥
काया बड़े समुद्र केरो, थाह न पावै कोइ।
मन मरि जैहैं डूबि के हो, मानिक परखै सोइ ॥ २॥
ऊँचा महल अगमपुर जहवाँ, सन्त समागम होइ।
जो कोइ पहुँचे वही नगरिया, आवागमन न होइ ॥ ३॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, का खोजो बड़ी दूर।
जो कोइ खोजै यही नगरिया, सो पावै भरपूर ॥४॥

शब्दार्थ—नगरिया बावरी=पागलों का नगर, यह संसार जहाँ विषय-रस की मदिरा पान करके लोग मत्त हैं। लाल=माणिक्य, लाल रंग का एक रत्न; तात्पर्यार्थ—परमात्मा। गाँठी=गिरह, जड़-चेतन की ग्रंथि वा गिरह। ऊँचा महल अगमपुर=बुद्धि की पहुँच से ऊपर के स्थान का ऊँचा महल अर्थात् परमात्म-पद। यही नगरिया=इसी शरीर।

पद्यार्थ—विषय-मद्य का पान करके उन्मत्त बने लोगों के रहने के संसार-रूप नगर का पार कोई सांसारिक कार्यों में दक्ष—चालाक मनुष्य नहीं पाता है॥ सब कोई जो कहते हैं कि परमात्म-रूप लाल रत्न है, सो वह लाल सबके जड़-चेतन की गाँठ (शरीर) में है। इस गाँठ को खोलकर नहीं परखते हैं, इसी कारण दरिद्र हो गये हैं॥ शरीर-रूप बड़े समुद्र की थाह कोई नहीं पाता है। इस समुद्र में जिसका मन डूबकर मर जाएगा, वही परम प्रभु-माणिक्य को परखेगा॥ बुद्धि-पर पद, जहाँ संत का आगमन होता है (पहुँच होती है), जो कोई उस नगर में पहुँचता है, उसका आवागमन नहीं होता है अर्थात् उसका बारम्बार का जन्म-मरण छूट जाता है। कबीर साहब कहते हैं कि हे साधो भाइयो! बड़ी दूर में क्या खोजते हो? जो कोई इसी नगरी में अर्थात् अपने शरीर में ही ढूँढ़ता है, वह भरपूर प्राप्त करता है॥

॥ मूल पद्य ॥

विमल विमल अनहद धुनि बाजै, सुनत बने जाको ध्यान लगे ॥ टेक॥
सिंगी नाद शंख धुनि बाजै, अबुझा मन जहाँ केलि करे ।
दह की मछली गगन चढ़ि गाजै, बरसत अमिरस ताल भरे ॥ १॥
पछिम दिसा को चलली विरहिन, पाँच रतन लिये थार भरे ।
अष्ट कमल द्वादश के भीतर, सो मिलने की चाह करे ॥ २॥
बारह मास बुन्द जहाँ बरसै, रैन दिवस वहाँ लखि न परे ।
बिरला समुझि परे वहि गलियन, बहुरि न प्रानी देह धरे ॥३॥
काया पैसि करम सब नासै, जरा मरन के संसे गये ।
निरंकार निरगुन अविनासी, तीनि लोक में जोति बरे ॥४॥
कहै कबीर जिनको सतगुरु साहब, जन्म जन्म के कष्ट हरे ।
धन्य भाग्य जिनकी अटल साहिबी, नाम बिना नर भटकि मरे ॥५॥

शब्दार्थ—विमल=निर्मल। अनहद धुनि=गिनती की सीमा से विहीन ध्वनियाँ, असंख्य ध्वनियाँ। केलि=खेल, क्रीड़ा। दह=कुण्ड, स्थूल शरीर का पिण्ड-रूप कुण्ड। दह की मछली=पिण्ड में रहनेवाला जीवात्मा, सुरत। गाजै=हर्षित होता है। ताल=कुण्ड (ज्योति-कुण्ड)। पछिम (पश्चिम) दिशा=ज्योति की ओर। विरहिन=(परम प्रभु परमात्मा के) वियोग से दुःखी होनेवाली। पाँच रतन=(१) असत्य-त्याग (२) चोरी-त्याग (३) व्यभिचार-त्याग (४) हिंसा-त्याग और (५) नशा-त्याग। अष्ट कमल=अष्टदलकमल, वह मण्डल जहाँ से तीन गुणों और पाँच तत्त्वों की आठ वृत्तियाँ स्थूल रूप में प्रकट होती हैं, इसको छठा चक्र और आज्ञाचक्र भी कहते हैं। पैसि=पैठ—प्रवेश करके, विशेष अन्तर्मुख होकर।

पद्यार्थ—घट के अंदर पवित्र-पवित्र असंख्य ध्वनियाँ बजती हैं, जिसका ध्यान लगता है, उसे ये सुनने में आती हैं॥ सिंगी नाद और शंख-ध्वनि बजती हैं, जहाँ अबोध मन● खेलता है। पिण्डस्थ सुरत गगन पर चढ़कर हर्षित होती है, जहाँ अमृत-रस से ज्योति-कुण्ड भरा है॥ परम प्रभु परमात्मा के वियोग से दुःखी विरहिणी सुरत प्रकाश की ओर

●मन साधारणतया बाह्य विषयों के संग ही क्रीड़ा करता रहता है, यह नहीं बूझता कि बाहरी विषयों में क्रीड़ा करने में जो आनन्द मिलता है, उससे विशेष आनन्द अन्तर्मुख होकर आन्तरिक नादों में क्रीड़ा करने से होगा; इसलिए इसको अबुझा—अबोध मन कहा गया है।

हृदय-थाल में पञ्च पाप-त्यागरूप पञ्चरत्नों को भरकर गमन करती है। जो आज्ञाचक्र के द्वादशाङ्गुल* के अन्दर रहे, वह परम प्रभु परमात्मा से मिलने की इच्छा करता है॥ जहाँ बारहो महीने अमृत की बूँदें बरसती हैं, वहाँ दिन-रात का ज्ञान नहीं होता है। (साधन की) उस गली में कोई बिरले ही समझ में आते हैं। कथित गली में रहनेवाला प्राणी फिर देह नहीं धरता है॥ शरीर में प्रवेश करके जो कर्मों को नष्ट करता है अर्थात् कर्म-मण्डल को पार कर जाता है, उसके बुढ़ापे और मृत्यु के सब संशय दूर हो जाते हैं। निराकार, निर्गुण और अक्षय प्रभु की ज्योति तीनों लोकों में बल रही है॥ कबीर साहब कहते हैं कि जिनको सद्गुरु साहब मिले हैं, उनके जन्म-जन्म के कष्टों को वे हर लेते हैं। इनका धन्य भाग्य है और इनका प्रभुत्व स्थिर है। (परम प्रभु परमात्मा के) नाम के बिना आदमी भटककर मरते हैं॥

॥ मूल पद्य ॥

जानता कोइ ख्याल ऐसा, जानता कोइ ख्याल ॥टेक॥
धरती बेध पताले गयऊ, शेषनाग को वश करि लिएऊ,
बाँसुरी बाजत सत की ताली, तासों भये सकल विस्तारी,
कमल बीच पट ताल ॥ऐसा०॥१॥
दिन को सोधि रैन मो लाओ, रैन के भीतर भानु चलाओ,
भानु के भीतर ससि के वासा, ससि के भीतर दो परकासा,
बोलत सारंग ताल ॥ऐसा०॥२॥
पूरब सोधि पछिम दिसि लावै, अर्ध उर्ध के भेद बतावै,
सिला नाथि दक्खिन को धाओ, उत्तर दिसा को सुमिरन चाखो,
चारो दिसा का हाल ॥ऐसा०॥३॥
नौ को सोधि सिढ़ी सिढ़ी लाओ, एक बेर सुमेर चढ़ाओ,
मेरुदंड पर आसन मारो, सन्मुख आगे प्रेम दृढ़ाओ,
गगन गुफा का हाल ॥ऐसा०॥४॥
गगन गुफा में अति उजियाला, अजपा जाप जपै बिनु माला,
बीना संख सहनाई बाजै, अलख निरंजन चहुँ दिसि गाजै,
हीरा बरत मोहाल ॥ऐसा०॥५॥

*इसका वर्णन और संतों की वाणी में और शाण्डिल्योपनिषद् में भी है। यह ध्यान-साधन के अन्दर की बात है।

सब्द ही दिल दिल बिच राखै, दया धर्म सन्तोष दृढ़ावै,
कहै कबीर कोइ बिरला पावै, जाको सतगुरु आप लखावै,
चढ़त हमारो लाल ।।ऐसा०।।६।।

शब्दार्थ–बेध=छेद। धरती बेध पताले गयेऊ=(धरती) बहिरंग–स्थूल पिण्ड को भेदन करके (पाताल) अन्तरंग–सूक्ष्मता में चला गया। शेषनाग=हजार फणोंवाला महाविषधर सर्प, हजारों इच्छा-रूप फणवाला मन। कमल=सहस्त्रदलकमल। ताल=झाँझ, मजीरा आदि की ध्वनि। सोधि=सुधारकर। दिन=पिंगला, सूर्य। रैन=इड़ा, चन्द्र। दिन को सोधि रैन मो लाओ, रैन के भीतर भानु चलाओ=इड़ा-पिंगला का मिलाप करो। भानु के भीतर ससि का वासा=त्रिकुटी में स्थित शीतल किरणोंवाला सूर्य, इन किरणों की शीतलता से सारे मानस रोगों का शमन हो जाता है, इसका वर्णन तुलसीकृत रामायण के उत्तरकाण्ड में 'राम प्रताप प्रबल दिनेसा' कहकर है। शिला=पत्थर, जड़ता। नाथि=वश में करके। पूरब=अंधकार। पछिम (पश्चिम)=प्रकाश। दक्खिन (दक्षिण)=शब्द। उतर (उत्तर)=निःशब्द। नौ को सोधि=नव द्वारों (कान के दो छिद्र, आँख के दो छिद्र, नाक के दो छिद्र, मुँह का एक छिद्र तथा मल-मूत्र त्याग करने के दो छिद्र) में की चेतन-धारों को शुद्ध करके अर्थात् नवो द्वारों से खींचकर उनके केन्द्र (तीसरे तिल) में केन्द्रित करके। सिढ़ी सिढ़ी लाओ=अंधकार से प्रकाश में, प्रकाश से शब्द में तथा शब्द से निःशब्द में। बेर=बार। सुमेरु=केन्द्र, उत्तर ध्रुव। गाजै=गरजना, सिंहनाद करना, हर्षित होना। मोहाल=दुर्लभ। लाल=प्यारा।

पद्यार्थ–ऐसा ख्याल कोई-कोई जानते हैं।। पिण्ड का भेदन करके सूक्ष्म में प्रवेश कर गया और मन को वश में कर लिया। सत् ध्वनि की बाँसुरी (मीठी सुरीली ध्वनि) बजती है। उससे सारा विस्तार अर्थात् सारी सृष्टि हुई है। मण्डल (आज्ञाचक्र) के बीच के तल पर ध्वनि है।। इड़ा और पिंगला का मिलाप करो। त्रिकुटी में विराजित सूर्य के अन्दर चन्द्रमा का निवास है, चन्द्रमा के भीतर दो प्रकाश हैं, सारंगी की ध्वनि होती है।। सुरत को अंधकार से शुद्ध करके प्रकाश में लावे, अर्ध-ऊर्ध्व* का भेद बतलावे। जड़ तत्त्व को वश में करके शब्द में दौड़ जाय और निःशब्द की ओर के भजन-रस को चखे; ये चारो दिशाओं

*इसका अर्थ ३३ के शब्दार्थ एवं सारांश में देखें।

के वृत्तान्त है। नौ द्वारों में की सुरत की नवो धारों को शुद्ध करके अर्थात् नवो द्वारों से छुड़ाकर एक-एक निम्न तल से दूसरे-दूसरे ऊँचे तलों पर ले आओ और एक बार केन्द्र में केन्द्रित करो। मेरुदण्ड को सीधा रखकर आसन जमाकर बैठो और सम्मुख लौ लगाओ, तब गगन-गुफा का हाल व्यक्त-प्रकट होगा॥ गगन-गुफा में बहुत प्रकाश है। बिना माला के ही अजपा जप जपो। वीणा, शंख और शहनाई बजती हैं, (जो) अलख निरञ्जन का चारो ओर सिंहनाद करता है। दुर्लभ हीरा प्रकाश कर रहा है॥ अन्तर के शब्द में मन को रखो। दया, धर्म और संतोष को दृढ़ रखो। कबीर साहब कहते हैं कि इस पद को कोई बिरला ही पाता है। जिनको सद्गुरु स्वयं ही दिखला देते हैं, जो इस पद पर चढ़ते हैं, वे हमारे प्यारे हैं॥

टिप्पणी–'ससि के भीतर दो परकासा' से तात्पर्य है कि सूर्य-ब्रह्मपद के भीतर में प्रवेश करके आगे बढ़ने पर जिस सुधामय ब्रह्म-रूप के दर्शन अभ्यासी को होता है, उस तेज के कारण कारण-रूप जड़ का और उसमें व्यापक चेतन का प्रत्यक्ष ज्ञान उसको होता है।

॥ मूल पद्य ॥

गुरुदेव बिन जीव की कल्पना ना मिटै, गुरुदेव बिन जीव का भला नाहीं।
गुरुदेव बिन जीव का तिमर नासे नहीं, समुझि विचारि ले मने माहीं॥
राह बारीक गरुदेव तें पाइये, जन्म अनेक की अटक खोलै।
कहै कबीर गुरुदेव पूरन मिलै, जीव और सीव तब एक तोलै॥

शब्दार्थ–कल्पना=दुःख। तिमर (तिमिर)=अंधकार। सीव (शिव)=कल्याणकारी, परमात्मा, ब्रह्म। एक तोलै=एक वजन का होना, मर्यादा में एक होना।

पद्यार्थ–गुरुदेव के बिना जीव का दुःख नहीं मिटता है; गुरुदेव के बिना जीव का भला नहीं होता है और गुरुदेव के बिना अंधकार का नाश नहीं होता है, (इस विषय को) मन में समझकर विचार लो॥ गुरुदेव से सूक्ष्म मार्ग पाइये, (तो वे पिण्ड में के) अनेक जन्मों के अटकाव को खोलते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि यदि पूरे गुरुदेव मिलें, तो जीव और ब्रह्म की मर्यादा एक हो जाय अर्थात् जीव ब्रह्म-स्वरूप हो जाय।

॥ मूल पद्य ॥

गुरुदेव के भेद को जीव जानै नहीं, जीव तो आपनी बुद्धि ठानै ।
गुरुदेव तो जीव को काढ़ि भवसिन्धु तें, फेरि लै सुक्ख के सिन्धु आनै ॥
बंद कर दृष्टि को फेरि अन्दर करै, घट का पाट गुरुदेव खोलै ।
कहै कबीर तू देख संसार में, गुरुदेव समान कोइ नाहिं तोलै ॥

शब्दार्थ–ठानै=ठहरावै, ठहराता है। पाट=कपाट, किवाड़। आनै=लाते हैं।

पद्यार्थ–गुरुदेव की युक्ति को जीव नहीं जानता है, जीव तो अपनी बुद्धि को ही ठहराता है। गुरुदेव तो जीव को संसार-सागर से निकाल और फेरकर सुख के समुद्र में लाते हैं॥ दृष्टि को बन्द करके (बाहर से) फेरकर घर के किवाड़ को गुरुदेव खोलते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि (हे जीव!) तू संसार में देख, गुरुदेव के तुल्य दूसरे की मर्यादा नहीं है॥

॥ मूल पद्य ॥

रैन दिन संत यों सोवता देखता, संसार की ओर से पीठि दीये ।
मन औ पवन फिर फूटि चालै नहीं, चंद औ सूर को सम्म कीये ॥
टकटकी चंद चक्कोर ज्यों रहतु है, सुरत औ निरत का तार बाजै ।
नौबत घुरत है रैन दिन सुन्न में, कहै कबीर पिउ गगन गाजै ॥

शब्दार्थ–सम्म (सम)=बराबर। निरत=अतिशय अनुरक्त, किसी कार्य में लगा हुआ। घुरत=शब्द करता है, बजता है। गाजै=शब्द करता है, गर्जन करता है।

पद्यार्थ–संत दिन-रात इस तरह सोये देखे जाते हैं कि वे संसार की ओर पीठ दिये रहते हैं अर्थात् संसार की सुधि भूले हुए रहते हैं। वे चन्द्र और सूर्य को अर्थात् इड़ा और पिंगला को बराबर रखते हैं अर्थात् उन दोनों की धारों को एक तल के एक विन्दु पर रखते हैं। उनका मन और पवन फूट करके नहीं चलता है॥

चन्द्रमा में चकोर की टकटकी की तरह उनकी टकटकी रहती है, सुरत और अत्यन्त अनुरक्ति का तार उनका बजता रहता है। कबीर साहब कहते हैं कि प्रभु की आकाशी गर्जना की नौबत दिन-रात शून्य में बजती रहती है॥ (संत का उपर्युक्त सुरत और निरत का तार इसी शब्द से सदा युक्त रहता है।)

॥ मूल पद्य ॥

लोका मति का भोरा रे ।
जौं काशी तन तजे कबीरा, रामहिं कौन निहोरा रे ॥
तब हम ऐसे अब हम ऐसे, यही जनम का लाहा ।
जौं जल में जल पैस न निकसे, यौं ढुरि मिला जुलाहा ॥
राम भगति में जाको हित चित, वाको अचरज काहा ।
गुरु प्रसाद साधु की संगति, जग जीते जात जुलाहा ॥
कहै कबीर सुनो हो संतो, भरम पड़ो जनि कोई ।
जस कासी तस मगहा ऊसर, हृदय राम जौं होई ॥

शब्दार्थ—मति=बुद्धि। भोरा=भोला, सीधा। निहोरा=प्रार्थना, विनय। लाहा=लाभ। पैस=प्रवेश। ढुरि=ढरककर। हित=अनुराग, प्रेम।

पद्यार्थ—अरे सीधी बुद्धि का मनुष्य! यदि काशी में कबीर शरीर छोड़े अर्थात् काशी की लोकोक्ति-महिमा के भरोसे कबीर काशी में शरीर छोड़े, तो राम से विनय करने का (राम-भजन करने का) कौन-सा फल? तब अर्थात् शरीर-धारण से पूर्व मैं ऐसा था और अब अर्थात् शरीर-धारण करके ऐसा हूँ अर्थात् शरीर-धारण के पूर्व मैं विकार-रहित था और अब शरीर-धारण करने पर भी विकार से रहित हूँ—यही मनुष्य-जन्म का लाभ है। जिस तरह जल में जल प्रविष्ट होकर फिर भिन्न होकर नहीं निकलता है, उसी तरह मैं (जुलाहा) शरीर-रूपी घड़े से ढरककर ईश्वर से जा मिला*। राम-भक्ति में जिसका चित्त प्रेम से लगा है, उसके लिए यह कौन-सा आश्चर्य है? गुरु की कृपा और साधु के संग से जुलाहा (कबीर) संसार को जीत कर जाता है॥ कबीर साहब कहते हैं कि हे सन्तो! भ्रम में मत कोई पड़ो। यदि हृदय में राम हो, तो काशी जैसा है, ऊसर (मगह) भी वैसा ही है॥

॥ मूल पद्य ॥

श्रूप अखण्डित व्यापी चैतन्यश्चैतन्य ।
ऊँचे नीचे आगे पीछे दाहिन बायँ अनन्य ॥
बड़ा तें बड़ा छोट तें छोटा, मींहीं तें सब लेखा ।
सब के मध्य निरंतर साईं, दृष्टि दृष्टि सों देखा ॥

---

* कबीर साहब की यह वाणी अद्भुत है, समझ में नहीं आती।

चाम चश्म सों नजरि न आवै, खोजु रूह के नैना ।
चुन चगून वजूद न मानु, तैं सुभानमूना ऐना ।।
जैसे ऐना सब दरसावै, जो कुछ वेष बनावै ।
ज्यों अनुमान करै साहब को, त्यों साहब दरसावै ।।
जाहि रूह अल्लाह के भीतर, तेहि भीतर के ठाईं ।
रूप अरूप हमारि आस है, हम दूनहुँ के साईं ।।
जो कोउ रूह आपनी देखा, सो साहब को पेखा ।
कहै कबीर स्वरूप हमारा, साहब को दिल देखा ।।

शब्दार्थ–श्रूप=स्वरूप। चैतन्यश्चैतन्य=चेतन का चेतन, पुरुषोत्तम, परमात्मा। अनन्य=एक ही। मींहीं तें सब लेखा=मोटे और महीन के सब भेदों के हिसाब में सबसे महीन। दृष्टि-दृष्टि=दृष्टि की दृष्टि, चेतन आत्मा। चाम चश्म=चर्म-दृष्टि, स्थूल दृष्टि। रूह=चेतन आत्मा। चून=उपमा। चगून=वैसा। वजूद=शरीर। सुभानमूना ऐना=ठीक ऐने के ऐसा।

पद्यार्थ–(परम प्रभु परमात्मा का) स्वरूप अखण्डनीय, सर्वव्यापक और चेतन का चेतन है। वह ऊपर, नीचे, आगे, पीछे, दाहिने और बायें में एक ही है।। वह बड़े-से-बड़ा है, छोटे-से-छोटा है और मोटे और महीन के सब भेदों के हिसाब में सबसे महीन है। वह प्रभु सबके अन्दर सर्वदा रहता है और आत्म-दृष्टि से उसे मैंने देखा।। चर्म-दृष्टि से वह नहीं दरसता है, उसे आत्म-दृष्टि से खोजो। उसकी उपमा कि वह वैसा है और उसका शरीर है, यह तुम नहीं मानो। वह ठीक ऐने के ऐसा है।। जैसे ऐने में जो कुछ वेश बनावे, सो सब कुछ दरसता है। प्रभु का जैसा अनुमान करते हैं, प्रभु वैसा ही दरसता है।। जिसकी चेतन आत्मा प्रभु के अन्दर है, वह उस अन्दर के स्थान पर उसको स्वरूपतः पाता है। उसका रूप और अरूप तो हमारी आशा है और हम दोनों के प्रभु हैं (अर्थात् बनानेवाले हैं)।। (भाव यह कि हम जो बनाते हैं, वह वह नहीं है और हम जो बना नहीं सकते हैं, वही वह है।) जो आत्मदर्शी हुआ, वह प्रभु के दर्शन करता है। कबीर साहब कहते हैं–प्रभु हमारा आत्म-स्वरूप है, उसको अन्दर में देखा।।

॥ मूल पद्य ॥

बाबा अगम अगोचर कैसा, तातें कहि समझाओ ऐसा ॥
जो दीसै सो तो है नाहीं, है सो कहा न जाई।
सैना बैना कहि समझाओं, गूँगे का गुर भाई ॥
दृष्टि न दीसै मुष्टि न आवै, बिनसे नाहिं नियारा।
ऐसा ज्ञान कथा गुरु मेरे, पण्डित करौ विचारा ॥
बिन देखे परतीत न आवै, कहै न कोउ पतियाना।
समझा होय सो सब्दै चीन्है, अचरज होय अयाना ॥
कोई ध्यावै निराकार को, कोई ध्यावै साकारा।
वह तो इन दोऊ तें न्यारा, जानै जाननहारा ॥
काजी कथै कतेब कुराना, पंडित वेद पुराना।
वह अच्छर तो लखा न जाई, मात्रा लगै न काना* ॥
नादी वादी पढ़ना गुनना, बहु चतुराई भीना।
कहै कबीर सो पड़ै न परलय, नाम भक्ति जिन चीना ॥

पद्यार्थ—लोग पूछते हैं कि हे बाबा! अगम-अगोचर कैसा है? इसलिए मैं ऐसा कहकर समझाता हूँ॥ जो देखने में आता है, सो तो वह नहीं है और जो वह है, सो कहा नहीं जाता है। गूँगे का गुरुभाई बनकर सैन के बैन में कहकर समझाता हूँ॥ वह दृष्टि से नहीं दिखता है, मुट्ठी में नहीं आता है और नष्ट नहीं होता है, न्यारा ही है। मेरे गुरु ने ऐसा ज्ञान कहा है, हे पण्डित! विचार करो॥ बिना देखे विश्वास नहीं आता है और कहने से कोई नहीं पतियाता है। जिसने समझा हो, सो शब्द को चीन्हता है और अनजान को आश्चर्य होता है॥ कोई निराकार का ध्यान करता है और कोई साकार का ध्यान करता है। (परन्तु) वह तो इन दोनों से अलग है। जाननेवाला जानता है॥ काजी कुरान-किताब का कथन करते हैं और पण्डित वेद-पुराण का कथन करते हैं; परन्तु जिसमें मात्रा और कान नहीं लगते अर्थात् जिसमें न मात्रा लगती है और जो न कान से सुना जाता है, वह अक्षर लखा नहीं जाता है॥ नाद-ज्ञानवाले (राग-रागिनी के स्वर के ज्ञानवाले—गान-विद्या के जाननेवाले) और वाद-विवाद करनेवाले पढ़ने-विचारने में लगे हुए

---

* आकार की मात्रा को भी 'काना' कहते हैं। इस स्थान पर 'काना'—श्रवणेन्द्रिय भी हो सकता है।

बहुत चतुराई में भींगे हुए रहते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि वे नाश में नहीं पड़ते हैं, जो नाम-भक्ति को पहचानते हैं॥

॥ मूल पद्य, साखी ॥

गुरु साहब करि जानिये, रहिये सब्द समाय।
मिलै तो दण्डवत बन्दगी, पल पल ध्यान लगाय॥

पद्यार्थ—गुरु को प्रभु (परमात्मा) के सदृश जानना चाहिए, शब्द में समाकर रहना चाहिए। वे मिल जाएँ, तो दण्डवत्-बन्दगी करनी चाहिए और उनके ध्यान में अपने मन को पल-पल लगाना चाहिए॥

टिप्पणी—'रहिये शब्द समाय' से तात्पर्य है—गुरु-उपदेश-वाक्य में श्रद्धा रखते हुए उसके अनुकूल आचरण करना तथा गुरु-संकेतित अन्तर्नाद में सुरत लगाकर रहना।

॥ मूल पद्य, साखी ॥

गुरु सीढ़ी तें ऊतरै, सब्द बिहूना होय।
ताको काल घसीटिहै, राखि सकै नहिं कोय॥

पद्यार्थ—जो सत्संग में और दृष्टियोग-द्वारा विन्दु में नहीं रहेगा अर्थात् इन दोनों सीढ़ियों से उतरा हुआ रहेगा, वह अन्तर्नाद के बिना रहेगा। उसको काल घसीटेगा, उसकी रक्षा कोई नहीं कर सकेगा।

॥ मूल पद्य, साखी ॥

घर में घर दिखलाय दे, सो सतगुरु संत सुजान।
पंच सब्द धुनकार धुन, बाजै गगन निसान॥

पद्यार्थ—जो घर में घर दिखला दें, वे सुजान संत सद्गुरु हैं। (वहाँ घर के अन्दर घर में) पाँच ध्वन्यात्मक ध्वनियों के आकाशी नगाड़े बजते हैं।

टिप्पणी—स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य—ये पाँच शरीर वा घर हैं। स्थूल के अन्दर सूक्ष्म, सूक्ष्म के अन्दर कारण, कारण के अन्दर महाकारण और महाकारण के अन्दर कैवल्य; इस प्रकार घर के अन्दर घर है। इनमें से प्रत्येक में के एक-एक नाद को 'पंच नाद' वा पंच शब्द कहते हैं। इन पंच ध्वन्यात्मक नादों को ही गगन-निशान वा आसमानी नगाड़े कहते हैं।

॥ मूल पद्य, साखी ॥

नाद विन्दु तें अगम अगोचर, पाँच तत्त्व तें न्यार ।
तीन गुनन तें भिन्न है, पुरुष अलक्ख अपार ॥

पद्यार्थ—परम पुरुष पुरुषोत्तम परमात्मा विन्दु और नाद से अगम और अप्रत्यक्ष है; पाँच तत्त्वों से न्यारा है; तीनों गुणों (रज, सत्त्व एवं तम) से पृथक् है और अलख-अपार है।

तात्पर्यार्थ—नाद-विन्दु से अगम-अगोचर का तात्पर्य यह कि जबतक भक्त अभ्यासी को विन्दु और नाद की अनुभूति होती रहती है, तबतक परमात्मा के स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान उसको नहीं होता है। जब वह विन्दु-पद से ऊपर उठता है और नादों को ग्रहण करते हुए अन्त में निरुपाधिक आदिशब्द, आदिनाम, सारशब्द, प्रणव-ध्वनि को ग्रहण करता है और उसकी भी विलीनता की अनुभूति करता हुआ शब्दातीत पद को पहुँच जाता है, तब उसको अलख-अपार पुरुष की प्रत्यक्षता होती है। इस शब्दातीत पद का वर्णन उपनिषदों में भी किया गया है।

बीजाक्षरं परं विन्दुं नादं तस्योपरि स्थितम् ।
सशब्दं चाक्षरे क्षीणे निःशब्दं परमं पदम् ॥

—ध्यानविन्दूपनिषद्

अर्थात् परम विन्दु ही बीजाक्षर है; उसके ऊपर नाद है। नाद जब अक्षर (अनाश ब्रह्म) में लय हो जाता है, तो निःशब्द परम पद है।

अनाहतं तु यच्छब्दं तस्य शब्दस्य यत्परम् ।
तत्परं विन्दते यस्तु स योगी छिन्नसंशयः ॥

—ध्यानविन्दूपनिषद्

अर्थात् अनाहत के बाद जो निःशब्द परम पद है, योगी उसे सबसे बढ़कर समझते हैं, जहाँ सब संशय दूर हो जाते हैं।

तावदाकाश संकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ।
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मा समीयते ॥

—नादविन्दूपनिषद्

अर्थात् जबतक आकाश-संकल्प है, तबतक नाद की स्थिति रहती है, उसके परे अशब्द परब्रह्म परमात्मा है।

॥ मूल पद्य, साखी ॥

सर्गुन की सेवा करौ, निर्गुन का करु ज्ञान।
निर्गुन सर्गुन के परे, तहैं हमारा ध्यान॥

शब्दार्थ–सर्गुन=सगुण, त्रय गुण (रज, सत्त्व, तम)-सहित, अपरा प्रकृति, क्षर पुरुष, जड़। निर्गुन=त्रय गुण (रज, सत्त्व, तम) से रहित, परा प्रकृति, अक्षर पुरुष, चेतन। निर्गुन सर्गुन के परे=जड़-चेतन के परे, शुद्ध आत्मतत्त्व, परमात्मा।

पद्यार्थ–सगुण की सेवा करो और निर्गुण का ज्ञान प्राप्त करो। कबीर साहब कहते हैं कि जो निर्गुण और सगुण के परे है, मेरा ध्यान वहीं है।

॥ मूल पद्य, साखी ॥

आदि नाम पारस अहै, मन है मैला लोह।
परसत ही कंचन भया, छूटा बंधन मोह॥

शब्दार्थ–आदि नाम=आदिशब्द। (शब्दातीत सर्वेश्वर परमात्मा से स्फुटित आदिकम्प के सहचर शब्द को आदिनाद, आदिशब्द और आदिनाम कहते हैं। इसी को स्फोट, उद्‌गीथ, ओ३म्, प्रणवध्वनि, रामनाम, सत्यनाम, सत्यशब्द, निज नाम और सारशब्द संस्कृत ग्रंथों में तथा भारती-संतवाणी में कहा गया है। यह शब्द सृष्टि के आदि में आदिकम्प का सहचर है। इसके पूर्व किसी शब्द का होना नहीं माना जा सकता। इसलिए यह आदिशब्द अथवा आदिनाम कहा जाता है।)

पद्यार्थ–आदिनाम पारस है और मन मैला लोहा है। उस नाद-रूप पारस से स्पर्श होते ही मन पवित्र हो गया और मोह का बंधन छूट गया।

॥ मूल पद्य, साखी ॥

कबीर सब्द सरीर में, बिन गुन बाजै ताँत।
बाहर भीतर रमि रहा, तातैं छूटी भ्रांति॥

शब्दार्थ–ताँत=चमड़े का सूता, जिसकी सारंगी आदि वाद्य यंत्रों पर चढ़ाकर बजाते हैं। बिन गुन बाजै ताँत=निर्गुण ध्वनि की धारा सारशब्द–प्रणव-ध्वनि की धारा बजती है। (इस शब्द के पूर्व त्रय गुण की स्थिति संतमत को मान्य नहीं है, इसलिए इसको निर्गुण शब्द वा नाम कहते हैं।

'जाके लगी अनहद तान हो, निरबान निर्गुन नाम की।'

—संत जगजीवन साहब

'संतो सुमिरहु निर्गुन अजर नाम ॥'

—संत दरिया साहब (बिहारी)

भ्रान्ति=भ्रम।

पद्यार्थ—कबीर साहब कहते हैं कि शरीर में निर्गुण शब्द की धारा बज रही है। वह शब्द भीतर-बाहर व्यापक है, उससे भ्रम दूर हो गया॥

॥ मूल पद्य, साखी ॥

सब्द सब्द बहु अंतरा, सब्द सार का सीर।
सब्द सब्द का खोजना, सब्द सब्द का पीर ॥

शब्दार्थ—अन्तरा=पृथक् (यहाँ पृथक्ता का भिन्नता से तात्पर्य है)। सार=असली तत्त्व। सीर=मूल, जड़। पीर=गुरु।

पद्यार्थ—शब्द-शब्द में बहुत भिन्नता है। शब्द असली तत्त्व (चेतन) का मूल है। शब्द से शब्द को खोजना है और शब्द शब्द का गुरु है॥

टिप्पणी—अन्तर के शब्द-साधन में जो शब्द पहले ग्रहण किया जा सकता है, उस शब्द पर सुरत जब विशेष जमी रहती है, तब पुनः दूसरे शब्द की अनुभूति सुरत को होने लगती है अर्थात् दूसरा शब्द प्रकट हो जाता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर भिन्न-भिन्न शब्दों की प्रकटता और अनुभूति सुरत को होकर अंत में उसको सारशब्द की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिए कहा गया है कि शब्द से शब्द को खोजना है और तब यह भी कहना ठीक ही है कि एक शब्द दूसरे शब्द को लखानेवाला गुरु है।

सुरत शिष्य शब्दा गुरु, मिलि मारग जाना हो ॥

—संत तुलसी साहब (घटरामायण)

॥ मूल पद्य, साखी ॥

सब्द सब्द बहु अन्तरा, सार सब्द चित देय।
जा सब्दै साहब मिलै, सोइ सब्द गहि लेय ॥

सब्द सब्द सब कोइ कहै, वो तो सब्द विदेह।
जिभ्या पर आवै नहीं, निरखि परखि करि देह॥
सब्द हमारा आदि का, पल पल करिये याद।
अन्त फलैगी माहिं की, बाहर की सब बाद॥
सबद खोजि मन बस करै, सहज योग है येहि।
सत्त सब्द निज सार है, यह तो झूठी देहि॥
सब्द हमारा हम सब्द के, सब्द ब्रह्म का कूप।
जो चाहै दीदार को, परख सब्द का रूप॥
सब्द बिना स्त्रुति आँधरी, कहो कहाँ को जाय।
द्वार न पावै सब्द का, फिरि फिरि भटका खाय॥
यही बड़ाई सब्द की, जैसे चुम्बक भाय।
बिना सब्द नहिं ऊबरै, केता करै उपाय॥
ज्ञान दीप परकास करि, भीतर भवन जराय।
तहाँ सुमरि सतनाम को, सहज समाधि लगाय॥

पद्यार्थ–शब्दों में बहुत भिन्नता है। सारशब्द में चित्त को–सुरत को लगाओ, जिस शब्द से प्रभु परमात्मा मिलते हैं, उसी शब्द को पकड़ लो॥ सब लोग शब्द-शब्द कहते हैं अर्थात् शब्द का गुण-वर्णन करते हैं। वह (सार) शब्द तो देह-विहीन का है अर्थात् जिससे यह शब्द प्रकट होता है तथा जो इसको ग्रहण करता है, दोनों ही (परमात्मा और चेतन आत्मा) देह-विहीन हैं। यह शब्द जिह्वा पर नहीं आता अर्थात् वह अबोल वाणी है। इसे देह में देखकर परख लो॥ हमारा (सार) शब्द (अर्थात् जिस सारशब्द का हम वर्णन करते हैं) आदि का है अर्थात् सृष्टि के आदि (आरम्भ) का है, इसका पल-पल स्मरण करो। बाहर के सब शब्दों को छोड़कर अन्त में अन्तर के शब्द में ही (परम प्रभु सर्वेश्वर की प्राप्ति-रूप) फल फलेगा॥ सहज, सीधा सरल योगाभ्यास यह है कि शब्द की खोज करके–नादानुसंधान का अभ्यास करके–सुरत-शब्द-योग-अभ्यास करके–ध्वन्यात्मक नाम-भजन करके–प्राणमय शब्द का ध्यानाभ्यास करके मन को वश करो। सत्यशब्द आत्मा की सारध्वनि है और यह शरीर तो नाशवान है॥ शब्द हमारा (सार सम्पत्ति) है, हम शब्द के (उपासक) हैं। शब्द ब्रह्म का कूप है (अर्थात् शब्द-उपासना से ब्रह्म की प्राप्ति होती है)। जो ब्रह्म के दर्शन

चाहे, वह शब्द-रूप को परखे, नादानुसंधान करे॥ शब्द के बिना सुरत अंधी है, कहो वह कहाँ जाएगी? जो शब्द का द्वार नहीं पावे, वह बारम्बार भटकता रहेगा॥ शब्द की यही बड़ाई है, जैसे चुम्बक के स्वभाव की है। बिना शब्द (उपासना) के उद्धार नहीं होगा, चाहे और उपाय कितने कर लो॥ शरीर-मन्दिर के भीतर ज्ञान-दीप–ब्रह्मतेज को जलाकर वहाँ सहज समाधि लगाकर सत्नाम का भजन करो॥

टिप्पणी–किसी वस्तु का निर्माण कम्प के बिना नहीं होगा और कम्प अपनी सहचर सहज ध्वनि के सहित अवश्य होगा। अतएव सृष्टि–उत्पत्ति के आदि में ध्वनि अवश्य है, वही आदिशब्द है तथा उसीको सारशब्द कहते हैं। इसका उद्गम-स्थान स्वयं पुरुषोत्तम परम पुरुष परमात्मा हैं। इस हेतु शब्द के मूल में परम पुरुष विराजमान हैं; जैसे कुएँ के मूल में जल रहता है। जल-मूलवाला कुआँ–जल का कूप, किरासन तेल-मूल का कुँआ–तेल का कूप और ब्रह्म या परम पुरुष-मूल का कुआँ–ब्रह्म का कूप कहा जाता है। आदिशब्द के मूल में कथित ब्रह्म है, इसलिए वह शब्द ब्रह्म का कूप कहलाता है। यह शब्द इन्द्रिय-ज्ञान-द्वारा परख में आनेयोग्य नहीं है। यह केवल चैतन्यात्मा–जड़-विहीन पवित्र सुरत की ही परख में आनेयोग्य है। साधन-द्वारा शरीर के सब जड़ आवरणों को पार करके उसके अन्तस्तल में उपर्युक्त शब्द को चेतन आत्मा परख सकती है। शरीर के भीतर प्रवेश करने का सुगम-से-सुगम साधन विन्दु ध्यान है, जो दृष्टियोग से निरख या देखकर किया जाता है। इसलिए सारशब्द परखने को–'निरखि परखि करि देह' का आदेश दिया गया है। विन्दु-ध्यान में ब्रह्मज्योति प्रकट होती है। इसीको ज्ञान-दीप कहते हैं।

॥ मूल पद्य, साखी ॥

नाम जपत इस्थिर भया, ज्ञान कथत भया लीन।
सुरति शब्द एकै भया, जल ही ह्वैगा मीन॥
मूल ध्यान गुरु रूप है, मूल पूजा गुरु पाँव।
मूल नाम गुरु वचन है, मूल सत्य सतभाव॥
बाँका परदा खोलि के, सन्मुख ले दीदार।
बाल सनेही साइयाँ, आदि अन्त का यार॥

गगन मण्डल के बीच में, तहँवाँ झलकै नूर।
निगुरा महल न पावई, पहुँचेगा गुरु पूर॥
नैनों की करि कोठरी, पुतली पलँग बिछाय।
पलकों की चिक डारि के, पिय को लिया रिझाय॥
कबीर कमल प्रकासिया, ऊगा निर्मल सूर।
रैन अँधेरी मिटि गई, बाजै अनहद तूर॥
पंज असमाना जब लिया, तब रन धसिया सूर।
दिल सौंपा सिर ऊबरा, मुजरा धनी हजूर॥
धुजा फरक्कै सुन्न में, बाजै अनहद तूर।
तकिया है मैदान में, पहुँचेगा कोइ सूर॥

शब्दार्थ—मूल=जड़, आदि, आरम्भ, नींव, प्रधान। मूल ध्यान= ध्यान का आरम्भ। सत्य=साँच। सत=स्थायी। भाव=प्रेम। बाँका=टेढ़ा, कठिन। दीदार=दर्शन। नूर=प्रकाश, ज्योति। गुरु पूर=गुरु का पूरा शिष्य, गुरु-ज्ञान के अनुकूल पूर्ण रूप से चलनेवाला शिष्य। कमल प्रकासिया= मण्डल खुल गया। सूर=सूर्य। रैन=रात। तूर=तुरही। पंज=पाँच। पंज असमाना=पाँच आकाश [स्थूलाकाश, सूक्ष्माकाश, कारणाकाश, महाकारणाकाश और कैवल्याकाश अथवा मण्डलब्राह्मणोपनिषद् के अनुकूल—(१) आकाश=जो बाहर और अन्दर अन्धकारमय हो। (२) पराकाश=जो बाहर और अन्दर कालाग्नि के समान हो। (३) महाकाश=जो बाहर और अन्दर अपरिमित तेज के समान तत्त्व हो। (४) सूर्याकाश= जो अन्दर और बाहर सूर्य के समान चमकवाला हो और (५) परमाकाश=जो सर्वव्यापक सर्वोत्तम आनन्द-ज्योति अकथनीय हो] रन=लड़ाई। सूर=बहादुर लड़ाका। सिर ऊबरा=मस्तक अर्थात् प्रतिष्ठा का उद्धार हुआ। मुजरा=प्रणाम, अभिवादन। धनी=प्रभु, परम प्रभु परमेश्वर। हजूर=सम्मुख। धुजा (ध्वजा)=पताका, चिह्न। फरक्कै=फहरै, चिह्नित होवै। तकिया=सहारा, अवलम्ब।

पद्यार्थ—(वर्णात्मक) नाम के जपते-जपते स्थिर हुआ, ज्ञान कथन करते-करते (सारतत्त्व के विचार में) डूब गया और सुरत-शब्द का अभ्यास (ध्वन्यात्मक नाम-भजन) करते-करते (उस सारतत्त्व अर्थात् सर्वेश्वर में मिलकर) एक ही हो गया, (मानो) मछली पानी ही हो गई॥ ध्यान का आरम्भ गुरु-रूप से होता है, पूजा का आरम्भ

गुरु-चरण-पूजा से होता है। प्रधान नाम गुरु का वचन है और स्थायी प्रेम सत्य (धर्म) की जड़ है॥ (अन्तर-स्थित) कठिन परदे को खोलकर सम्मुख दर्शन प्राप्त करो। प्रभु (सर्वेश्वर) तुम्हारे बालपन से तुमसे स्नेह करनेवाला है। आदि से अन्त तक का तुम्हारा मित्र है॥ (अन्तर-स्थित) गगन-मण्डल के बीच में प्रकाश झलकता है। इस महल को निगुरा नहीं पाता है, गुरु का पूरा शिष्य पहुँचेगा॥ आँखों की कोठरी बना, पुतली का पलँग बिछा और पलकों का परदा गिराकर स्वामी (सर्वेश्वर) को रिझा लिया[१]॥ कबीर साहब कहते हैं–(अन्तर का) मंडल खुल गया, पवित्र सूर्य उग गया, अँधेरी रात मिट गई और अनहद ध्वनि की तुरही बज रही है॥ पाँच आकाशों को जब जिस योद्धा ने जीत लिया, तब वह (आत्मोन्नति) के संग्राम में प्रवेश कर गया। उसने अपना मन (प्रभु को) सौंप दिया। उसकी आत्मप्रष्ठिा[२] का उद्धार हुआ और उसने (परम प्रभु) पूर्ण धनी के सामने प्रणाम किया॥ अभ्यासी को शून्य में चिह्न चिह्नित होता है, अनहद की तुरही बजती है, (उस शून्य के) मैदान में उसको सहारा मिलता है। (अभ्यास में डटा रहनेवाला) कोई शूरमा वहाँ पहुँचेगा॥

॥ मूल पद्य, साखी ॥

गागर ऊपर गागरी, चोले ऊपर द्वार।
सूली ऊपर साँथरा, जहाँ बुलावै यार॥
बास सुरति ले आवई, सब्द सुरति लै जाय।
परिचय स्त्रुति है इस्थिरे, सो गुरु दई बताय॥
हम चाले अमरापुरी, टारे टूरे टाट।
आवन होय तो आइयो, सूली ऊपर बाट॥
कबीर का घर सिखर पर, जहाँ सिलहिली गैल।
पाँव न टिकै पपीलिका, पण्डित लादै बैल॥
जहाँ न चींटी चढ़ि सकै, राई ना ठहराय।

१. यह दृष्टियोग-सम्बन्धी संकेत है।

२. परमाकाश वा कैवल्याकाश के अतिरिक्त अन्य चारो आकाशों में रहनेवाले का शिर (आत्म-प्रतिष्ठा) माया से ग्रसित रहता है। लिखित पाँचवें आकाश में प्रवेश करने पर उसका उद्धार होता है।

मनुवाँ तहँ ले राखिये, तहँ हीं पहुँचे जाय ॥
कबीर काया समुँद है, अन्त न पावै कोय।
मिरतक होइ के जो रहै, मानिक लावै सोय ॥
मैं मरजीवा समुँद का, डुबकी मारी एक।
मूठी लाया ज्ञान की, जामें वस्तु अनेक ॥
डुबकी मारी समुँद में, निकसा जाय अकास।
गगन मंडल में घर किया, हीरा पाया दास ॥
मैं मरजीवा समुँद का, पैठा सप्त पताल।
लाज कानि कुल मेटि के, गहि ले निकसा लाल ॥
ऊँचा तरवर गगन फल, बिरला पंछी खाय।
इस फल को तो सो चखै, जो जीवत ही मरि जाय ॥
मरते-मरते जग मुआ, औसर मुआ न कोय।
दास कबीरा यों मुआ, बहुरि न मरना होय ॥

शब्दार्थ—गागर=घैला, घड़ा, शरीर। गागर ऊपर गागरी=शरीर के ऊपर शरीर (कैवल्य—जड़-विहीन चेतनमय के ऊपर महाकारण, महाकारण के ऊपर कारण, कारण के ऊपर सूक्ष्म तथा सूक्ष्म के ऊपर स्थूल)। चोले ऊपर द्वार=शिवनेत्र, सुषुम्न-विन्दु, दशम द्वार। सूली=लोहे की एक नोकदार छड़, जिसपर प्राण-दण्ड देनेयोग्य दण्डित अभियुक्त को इस तरह बैठाया जाता था कि वह छड़ गुदा-मार्ग से प्रवेश करती हुई उसके मस्तक होकर बाहर निकल जाती थी। यहाँ पर इस शब्द का प्रयोग आदिनाद (प्रणवध्वनि, सारशब्द) के लिए किया गया है; क्योंकि यह नाद पिण्ड के सब चक्रों तथा ब्रह्माण्ड के सब कमलों का भेदन करते हुए एक धाररूप से वर्त्तमान है[१]। साँथरा=बिछावन। यार=मित्र (परमात्मा)। बास=वासना, इच्छा। टाट=सन या पटुए की बनी हुई चट्टी, जिससे बोरा या थैला बनता है। यहाँ पर चैतन्य आत्मा के ऊपर के शरीर-रूपी जड़-आवरण के लिए 'टाट' का प्रयोग है। सिलहिली= पिच्छड़। गैल=संकीर्ण मार्ग, गली। पण्डित लादै बैल=पढ़े-लिखे व्यक्ति, जो अपने मन पर बहुत वक्तव्य धरे रहते हैं, ध्यान-अभ्यासकाल में भी उनका मन उन वक्तव्यों को नहीं छोड़ता। समुँद=समुद्र। मिरतक= मृतक, इन्द्रियों से चेतन-धार को

१. इन चक्रों और कमलों को 'सत्संग-योग' के दूसरे और चौथे भाग के नक्शों में पढ़कर जानिये।

समेटकर रहनेवाला। मानिक=लाल रंग का एक मणि, पद्मराग। मरजीवा=समुद्र में डूबकर उसके भीतर से मोती आदि निकालनेवाला, पानी में डूबकर विशेष काल तक रहनेवाला। सप्त पताल=पृथ्वी के नीचे के सात लोक। यहाँ पर इन सात लोकों से तात्पर्य नहीं है; बल्कि काया-रूपी समुद्र के अन्दर के सात तलों से तात्पर्य है, जिनके नाम ये हैं—सहस्त्रदल कमल, त्रिकुटी, शून्य, महाशून्य, भँवरगुफा, सत्लोक और अनाम वा शब्दातीत पद। कानि=लोक-लज्जा, मर्यादा का ध्यान।

पद्यार्थ—शरीर के ऊपर शरीर है[२]। चोले—शरीर के ऊपर (शिवनेत्र) द्वार है तथा शूली[२] के ऊपर बिछावन है, जहाँ मित्र[३] पुकार रहा है॥ सुरति—जीवात्मा को इच्छा संसार में ले आती है और शब्द उसको परम प्रभु परमात्मा के पास ले जाता है। और उस प्रभु की पहचान हो जाने पर जीवात्मा स्थिर हो जाता है—आवागमन से मुक्त हो जाता है, सो गुरु ने बतला दिया है॥ मायिक आवरणों को हटाते हुए हम अमरपुर—मोक्षधाम को चले। तुमको भी आना हो, तो आइये, शूली के ऊपर रास्ता है॥ कबीर का घर चोटी पर है—परमात्म-पद में है, जहाँ जाने की गली—सूक्ष्म मार्ग पिच्छड़ है। उसपर चींटी के पैर नहीं ठहर सकते हैं और जो विद्वान अपने मन-रूपी बैल पर ध्यानाभ्यास-काल में वक्तव्यों का भार लादे रहते हैं, वे उस मार्ग पर नहीं जाते हैं॥ जहाँ चींटी नहीं चढ़ सकती है और राई का दाना भी नहीं ठहर सकता है, जो मन को वहाँ रखता है, वह वहीं (मोक्ष-धाम में) जाकर पहुँचता है॥ कबीर साहब कहते हैं कि यह शरीर समुद्र है। इसका अन्त कोई नहीं पाता है। मृतक[२] होकर इसमें जो रहता है, वह लाल मणि को पाता है॥ मैं समुद्र में डुबकी लगानेवाला हूँ। मैंने एक डुबकी लगायी, मैं ज्ञान की मुट्ठी लाया हूँ, जिसमें अनेक वस्तुएँ हैं॥ जिसने समुद्र में डुबकी मारी, आकाश में जाकर जो निकल गया और गगन-मण्डल में घर किया, उस दास ने हीरा प्राप्त किया॥ मैं काया-समुद्र में डूबनेवाला हूँ, मैं कुल-मर्यादा और लाज को मेटकर सातो पातालों[४] में पैठ गया

---

२. ब्योरा शब्दार्थ में दखिये।

३. सख्य भाव की भक्ति में परम प्रभु को सखा, मित्र, यार कहा गया है। प्रणवध्वनि या सारशब्द ही उसकी पुकार है।

४. का ब्योरा शब्दार्थ में देखिये।

हूँ और लाल को ग्रहण कर निकला हूँ॥ (ब्रह्माण्ड) ऊँचा श्रेष्ठ वृक्ष है, गगन उसका फल है, बिरला पक्षी इस फल को खाता है। इस फल को वही चखता है, जो जीते-जी मर जाता है॥ मरते-मरते संसार के लोग मर गये, कोई अवसर पर नहीं मरा। कबीर साहब कहते हैं कि भक्त इस तरह मरा कि फिर उसको मरना नहीं होता॥

टिप्पणी–काया-समुद्र में डुबकी मारकर आकाश में निकल जाने की प्रत्यक्षता दृष्टियोग के साधक को होती है। ऊँचे तरुवर के गगन-फल को खाकर चखनेवाला भी दृष्टियोग-साधक–विहंगममार्गी, इन्द्रियों के घाटों से चेतन-धारों को समेटनेवाला जीते-जी मरनेवाला अभ्यासी भक्त ही होता है। इन बातों को कहकर ठीक-ठीक समझाया नहीं जा सकता।

॥ मूल पद्य, साखी ॥

पाँचो नौबत बाजती, होत छतीसो राग।
सो मन्दिर खाली पड़ा, बैठन लागे काग॥
जाकी जिभ्या बन्ध नहीं, हिरदे नाहीं साँच।
ताके संग न लागिये, घालै बटिया काँच॥
अगवानी तो आइया, ज्ञान विचार विवेक।
पीछे गुरु भी आयँगे, सारे साज समेत॥
जब दिल मिला दयाल से, तब कछु अन्तर नाहिं।
पाला गलि पानी मिला, यों हरिजन हरि माहिं॥
कबीर भेदी भक्त से, मेरा मन पतियाय।
सेरी पावै शब्द की, निर्भय आवै जाय॥
बूँद समानी समुँद में, यह जानै सब कोय।
समुँद समाना बूँद में, बूझै बिरला कोय॥
निरबन्धन बंधा रहै, बंधा निरबन्ध होय।
करम करै करता नहीं, दास कहावै सोय॥
जहँ आपा तहँ आपदा, जहाँ संसय तहँ सोग।
कह कबीर कैसे मिटै, चारो दीरघ रोग॥

शब्दार्थ–छतीसो राग=गाने के छत्तीस प्रकार के लय वा स्वर, इसमें छह राग और तीस रागिनियाँ कही जाती हैं। गान-विद्या में इतने

ही प्रकार के लय वा स्वर हैं, ऐसा लोग कहते हैं। यहाँ के 'छतीसो राग' से तात्पर्य है–सब प्रकार के स्वर। गुरु=ज्ञानदाता; आदि-ज्ञानदाता परमात्मा है, इसीलिए उसके अनेक नामों में से यह भी एक विशेष नाम है। साज=सामग्री। सेरी=सीढ़ी। आपा=अहंकार। आपदा=दुःख, विपत्ति। दीरघ=दीर्घ, बड़ा।

पद्यार्थ–जिस शरीर-रूपी मन्दिर में पाँचो नौबतें बजती हैं और सब प्रकार की राग-रागिनियों के स्वर ध्वनित होते रहते हैं, वह मन्दिर खाली हो गया और उसपर काग बैठने लग गया। जिसकी जिह्वा में बन्धन नहीं है और हृदय में सचाई नहीं है, उसके संग में नहीं लगना चाहिए; क्योंकि वह कुमार्ग में डाल देगा॥ पहले ज्ञान, विवेक और विचार आया करते हैं, पीछे मोक्ष-संबंधी सब सामग्रियों के सहित परमात्मा गुरु भी आएँगे॥ जब जीव दयालु परमात्मा से मिलता है, तब जीव को परमात्मा से कुछ भेद नहीं रहता है। जिस तरह पाला गलकर पानी में मिल जाता है, इसी तरह हरिभक्त हरि में मिल जाता है॥ कबीर साहब कहते हैं कि भेदी भक्त से मेरे मन को विश्वास होता है, जो शब्द की सीढ़ी पाते हैं, जिसके द्वारा (जीवन-काल में) परम प्रभु तक जाते और आते रहते हैं॥ पिण्ड-रूपी बूँद ब्रह्माण्ड-रूपी समुद्र में समायी हुई है, यह सब कोई जानते हैं; परन्तु ब्रह्माण्ड-रूपी समुद्र पिण्ड-रूपी बूँद में समाया हुआ है, यह बिरला ही कोई बूझता है॥ जो पापों के त्याग का तथा सत्संग-भजन का बंधन नहीं रखता है, वह संसार में बँधा रहता है और जो कथित बंधनों में बँधा रहता है, वह संसार के बंधनों से मुक्त हो जाता है। जो कर्त्तव्य कर्म करता हुआ अपने को कर्म करने का अहंकारी नहीं मानता है, वही भक्त कहलाता है॥ जहाँ अहंकार है, वहाँ विपत्ति भी है। जहाँ संशय है, वहाँ शोक है। कबीर साहब कहते हैं कि ये चारो (अहंकार, विपत्ति, संशय और शोक) बड़े-बड़े रोग कैसे मिटेंगे?

॥ मूल पद्य ॥

भाई कोई सतगुरु संत कहावै । नैनन अलख लखावै ॥ टेक॥
डोलत डिगै न बोलत बिसरै, जब उपदेस दृढ़ावै ।
प्राण पूज्य किरिया तें न्यारा, सहज समाधि सिखावै ॥ १ ॥

द्वार न रूँधे पवन न रोकै, नहिं अनहद अरुझावै।
यह मन जाय जहाँ लगि जबहीं, परमातम दरसावै ॥ २ ॥
करम करै निःकरम रहै जो, ऐसी जुगत लखावै।
सदा विलास त्रास नहिं मन में, भोग में जोग जगावै ॥ ३ ॥
धरती त्यागि अकासहु त्यागै, अधर मड़इया छावै।
सुन्न सिखर के सार सिला पर, आसन अचल जमावै ॥ ४ ॥
भीतर रहा सो बाहर देखै, दूजा दृष्टि न आवै।
कहत कबीर बसा है हंसा, आवागमन मिटावै ॥ ५ ॥

शब्दार्थ–रूँधे=रोके, बन्द करे। अधर=अन्तरिक्ष, पृथ्वी और सूर्यादि लोकों के बीच का स्थान (यहाँ पिण्ड और ब्रह्माण्ड के बीच का स्थान)। सुन्न सिखर की सार सिला=शून्य की चोटी पर के श्रेष्ठ और दृढ़ स्थान अर्थात् जड़ात्मिका प्रकृति–अपरा और चैतन्यात्मिका परा प्रकृति की संधि। सार=श्रेष्ठ, परा प्रकृति। सिला=चट्टान, सिला का तात्पर्य यहाँ दृढ़ तत्त्व से है।

पद्यार्थ–हे भाई! जो कोई सद्गुरु संत कहलाते हैं, वे आँखों से अलख लखाते हैं। (स्थूल दृष्टि को सूक्ष्म वा दिव्य रूप अलख है। सद्गुरु संत दृष्टियोग का भेद बताकर सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त करने को कहते हैं, जिससे सूक्ष्म वा दिव्य रूप के दर्शन होते हैं तथा परमात्म-स्वरूप, जो सूक्ष्म दृष्टि को भी अलख है, केवल चेतन आत्मा के द्वारा ही दर्शित होनेयोग्य है, उसके लिए भी नादानुसंधान–सुरत-शब्द-योग की युक्ति वे बतलाते हैं, जिससे उस अलख के भी दर्शन होते हैं [१]।टेक॥ वे चलते-फिरते हुए (परम तत्त्व से) विचलित नहीं होते हैं और जब उपदेश सुनाने के लिए वे बोलते हैं, तब भी उस तत्त्व को नहीं भूलते हैं[२], वे प्राणों से पूजनेयोग्य हैं। वे सहज समाधि सिखाते हैं॥१॥ वे न

१. ब्रह्मप्रणव संधानं नादो ज्योतिर्मयः शिवः।
स्वयमाविर्भवेदात्मा मेघापायेंऽशुमानिव ॥–नादविन्दूनिषद्

अर्थ–ब्रह्म और प्रणव के योग (सन्धान) से यह नाद प्रकट होता है, जो ज्योतिर्मय और कल्याणकारी है। और बादल के छिन्न-भिन्न हो जाने पर जैसे सूर्य चमकता है, वैसे ही आत्मा स्वयं प्रकाशित होती है।

२. 'ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै ऐसी ताड़ी लागी।' –कबीर साहब
'सोवत जागत ऊठत बैठत, टुक विहीन नहिं तारा।
झिन झिन जन्तर निस दिन बाजै, जम जालिम पचिहारा॥'
–संत दरिया साहब (बिहारवाले)

शरीर के द्वारों को बन्द करते हैं, न पवन को रोकते हैं और न अनहद में उलझते हैं। सहज समाधि के द्वारा इस मन की गति जहाँ तक है, वहाँ तक जब मन जाता है, तब मन की गति के आगे चैतन्य आत्मा को परमात्मा का दर्शन होता है॥२॥ वे ऐसी युक्ति लखाते हैं कि जिससे कर्म करनेवाला कर्म-रहित रहता है। वे सदा आनन्दित रहते हैं, उनके मन में डर नहीं रहता है और वे भोग में योग जगाते हैं॥३॥

टिप्पणी—भोग में योग जगाने से तात्पर्य—"सांसारिक जीवन में संसार के भोगों के अन्दर स्वाभाविक ही रहना पड़ता है; परन्तु भोग में योग जगानेवाला योगी उन भोगों का स्वल्प भोगी होकर रहता है और योग-अभ्यास करता है। इसीलिए गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपनी रामायण में संत को 'अमित बोध अनीह मित भोगी। सत्य सार कवि कोविद जोगी॥' कहा है।"

शरीर-रूपी धरती और बाहरी आकाश को छोड़कर अपने अन्दर शून्य में सुरत को जगाते हैं। शून्य की चोटी पर के दृढ़ तत्त्व और परिवर्त्तन-रहित (चेतन) तत्त्व पर अविचलित भाव से रहते हैं॥४॥ जो भीतर में था, वह उन्हें बाहर में दरसता है। उनकी दृष्टि में दूसरा नहीं आता है। कबीर साहब कहते हैं कि वे पवित्र पुरुष (हंस) मोक्ष-धाम में बस गये हैं। संसार में उनका आवागमन नष्ट हो गया॥५॥

॥ मूल पद्य ॥

उठि पछिलहरा पिसना पीस ॥ टेक॥
ढोरु पछोरु पलक छिन दम दम, अनहद जाँत गड़ा तेरे सीस ॥१॥
कर बिनु चलै झींक बिन निधरै, बंक नाल चलै बिस्वाबीस ॥२॥
मन मैदा मींहीं कर चालो, चोकर तजियो पाँच पचीस ॥३॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, आपुइ आय मिलैं जगदीश ॥४॥

शब्दार्थ—पछिलहरा=पिछले पहर रात। पिसना=आटा। ढोरु पछोरु=लुढ़का-फटककर, पैंच-फटककर। जाँत=चक्की, जाँता। निधरै=पूर्ण रूप में पिस जाना। बिस्वाबीस=पूरा-पूरा।

पद्यार्थ—पल-पल, क्षण-क्षण और श्वास-श्वास अर्थात् सदा-सर्वदा (मन को) पैंच-फटककर अर्थात् विशुद्ध करके पिछले पहर रात्रि में उठकर तुम्हारे माथे में गड़ी हुई अनहद की चक्की में मन का आटा पीसो॥ (वह चक्की) बिना हाथ से ही चलाये चलती है

और बिना झींक के ही मन का आटा पूर्ण रूप से पिस जाता है अर्थात् मन महीन हो जाता है। तब वह बंकनाल से पूरा-पूरा चलता है॥ मन-मैदे को महीन करके चालो और पाँच तत्त्व तथा पचीस प्रकृतियों के चोकर को त्याग दो॥ कबीर साहब कहते हैं कि हे साधु भाइयो! तो जगत्पति परमात्मा आप ही आकर मिलेंगे॥

॥ मूल पद्य ॥

जियत न मार मुआ मत लैयो, मास बिना मत ऐयो रे ॥ टेक॥
परली पार एक बेल का बिरवा, वाके पात नहीं है रे ।
पात होत चुगि जात मिरगवा, मृगा के सीस नहीं है रे ॥ १ ॥
धनुष बान ले चढ़ा पारधी, धनुआँ के परच नहीं है रे ।
सर-सर बान तकातक मारे, मिरगा के घाव नहीं है रे ॥ २॥
उर बिनु खुर बिनु चरण चोंच बिनु, उड़त पंख नहिं जाके रे ।
जो कोइ हंसा मारि लियावै, रक्त मांस नहीं ताके रे ॥ ३॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, यह पद अति ही दुहेला रे ।
जौ या पद को अर्थ बतावै, सोई गुरु हम चेला रे ॥ ४॥

साध सिंह की एक मति, जीवत ही को खाय ।
भावहीन मिरतक दसा, ताके निकट न जाय ॥

शब्दार्थ—जियत=ईश्वर का प्रेमी, भक्त। मुआ=अभक्त। मास=चन्द्रमा। परली पार=दूसरे किनारे पर। बेल=लता, लत्तर। बिरवा=अंकुर। चुगि=एक-एक को चुनकर खाना। पारधी=अहेरी, शिकारी। चढ़ा=धावा किया। परच=प्रत्यंचा, धनुष की डोरी, रोदा। सर-सर=जमीन पर रेंगने का शब्द, वायु के चलने से उत्पन्न ध्वनि, यहाँ पर अनहद ध्वनि से तात्पर्य है। तकातक=ताक-ताककर। उर=छाती। चोंच=मुँह। दुहेला=कठिन।

पद्यार्थ—ईश्वर के प्रेमी भक्त को दुःख मत दो, अभक्त को मत लाओ। चन्द्रमा के बिना लौटकर मत आओ[1]॥ (अंधकार-मण्डल के) दूसरे किनारे पर एक लत्तर का अंकुर है, उसमें पत्ता नहीं है। पत्ता होता है—उन्नति होती है, तो एक-एक को चुनकर मृगा खा जाता है,

---

१. चन्दा झलकै एहि घट माहीं । अन्धी आँखिन सूझत नाहीं ॥
—संत कबीर साहब
ध्यान-अभ्यास में चन्द्र-दर्शन किये बिना ध्यान नहीं छोड़ो।

उस मन-रूप मृगा को माथा नहीं है॥ (उस मृगा को मारने के लिए) धनुष-वाण लेकर (ध्यान-अभ्यासी साधक) अहेरी ने धावा किया, उसके धनुष में डोरी नहीं है। वह अहेरी ताक-ताककर अर्थात् दृष्टियोग-अभ्यास करके अनहद ध्वनि के तीर से उस मन-मृगा को मारता है; परन्तु मृगा को दुःख नहीं होता है॥ (वह मृगा ऐसा है) जिसको छाती, खुर, पैर, मुँह और उड़ने के पंख नहीं हैं। जो कोई हंसा (शुद्ध अन्तःकरणवाला) उस मृगा को मार लाता है, (तो वह पाता है कि) उसको रक्त-मांस नहीं है॥ कबीर साहब कहते हैं कि सुनो साधु भाइयो! यह पद–दर्जा बहुत ही कठिन है। जो इस पद्य (गीत, भजन) का अर्थ बतावे, वही गुरु और मैं चेला हूँ॥

टिप्पणी–जबतक मन पूर्ण रूप से जीता नहीं जाता है, तबतक मन मरा हुआ नहीं कहलाता है। दृष्टियोग-अभ्यास से शब्द-योग करने की योग्यता हो जाती है। शब्द-अभ्यास से ही मन पूर्णरूपेण वश में आता है–गोया मारा जाता है*।

साध सबद सौं मिलि रहै, मन राखै बिलमाइ ।
साध सबद बिन क्यौं रहै, तबहीं बीखरि जाइ ॥

–संत दादू दयालजी

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः।
नियामन समर्थोऽयं निनादो निशितांकुशः॥

अर्थ–नाद मदान्ध हाथी-रूप चित्त को, जो विषयों की आनन्द-वाटिका में विचरण करता है, रोकने के लिए तीव्र अंकुश का काम करता है।

नादोऽन्तरंग सारंग बन्धने वागुरायते ।
अन्तरंगसमुद्रस्य रोधे वेलायतेऽपि वा ॥

अर्थ–मृग-रूपी चित्त को बाँधने के लिए यह (नाद) जाल का काम करता है। समुद्र-तरंग-रूपी चित्त के लिए यह (नाद) तट का काम करता है।

---

* सबद खोजि मन बस करै, सहज योग है येहि ।
सत्त सब्द निज सार है, यह तो झूठी देहि ॥

–संत कबीर साहब

॥ मूल पद्य ॥

फल मीठा पै ऊँचा तरवर, कौनि जतन करि लीजै।
नेक निचोड़ सुधा रस वाको, कौनि जुगति से पीजै ॥१॥
पेड़ विकट है महा सिलहला, अगह गह्यो नहिं जावै।
तन मन डारि चढ़ै सरधा से, तब वा फल को खावै ॥२॥
बहुतक लोक चढ़ै बिन भेदै, देखी देखा याहीं।
रपटि पाँव गिरि पड़े अधर तें, आइ पड़े भुइँ माहीं ॥३॥
सत्त सब्द के खूँटे धरि पग, गहि गुरु-ज्ञानहिं डोरा।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, तब वा फल को तोरा ॥४॥

शब्दार्थ–पै=परन्तु। तरवर=श्रेष्ठ वृक्ष, पुरुषोत्तम, परमात्मा (अछय पुरुष एक पेड़ है, निरंजन वाका डार। तिरदेवा साखा भये, पात भया संसार॥ –कबीर साहब) नेक=थोड़ा। निचोड़=निचोड़कर, गारकर। डारि=नीचे गिराकर। रपटि=पिछड़कर।

पद्यार्थ–परम पुरुष परमात्मा-रूपी श्रेष्ठ वृक्ष का फल मीठा है; परन्तु वह (तरुवर) ऊँचा है। किस यत्न से उस फल को लिया जाय? उस फल को निचोड़कर थोड़ा अमृत रस किस यत्न से पिया जाय? वह वृक्ष बड़ा भयंकर है, बड़ा पिच्छड़ है, ग्रहण करने-योग्य नहीं है, ग्रहण किया नहीं जाता है। तन-मन को नीचे गिराकर, श्रद्धायुक्त हो (केवल चेतन–निर्मल सुरत) उसपर चढ़े, तब उस फल को खाय॥ बिना युक्ति जाने देखा-देखी से बहुत लोग इसपर चढ़े, ऊपर से पैर पिछलकर धरती पर आ गिरे॥ कबीर साहब कहते हैं कि गुरु-ज्ञान की डोरी को पकड़कर सत्यशब्द के खूँटे पर पैर धरे (सत्शब्द में सुरत लगावे), तब उस फल को तोड़े॥

॥ मूल पद्य ॥

रस गगन गुफा में अजर झरै ॥
बिन बाजा झनकार उठै जहँ, समुझि पड़ै जब ध्यान धरै ॥१॥
बिना ताल जहँ कमल फुलाने, तेहि चढ़ि हंसा केल करै ॥२॥
बिन चन्दा उजियारी दरसै, जहँ तहँ हंसा नजर परै ॥३॥
दसमें द्वारे ताड़ी लागी, अलख पुरुष जाको ध्यान धरै ॥४॥

काल कराल निकट नहिं आवै, काम क्रोध मद लोभ जरै ॥५॥
जुगुन जुगन की तृष्णा बुझानी, कर्म भर्म अघ व्याधि टरै ॥६॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, अमर होय कबहूँ न मरै ॥७॥

शब्दार्थ—रस=सुख, स्वाद। गगन-गुफा=आकाशी गुफा। अजर=अमृत। ताल=सरोवर, तालाब। तृष्णा=प्यास, अभिलाषा। अघ=पाप। व्याधि=रोग।

पद्यार्थ—सुख-स्वाद की आकाशी गुफा में अमृत झरता है॥ बिना बाजे के जहाँ झनकार उठती है। यह बात तब समझ में आती है, जब कोई ध्यान धरता है॥ बिना सरोवर के जहाँ कमल फूलता है, उसपर चढ़कर जीवात्मा क्रीड़ा करता है॥ बिना चाँद के प्रकाश देखने में आता है और (उस मण्डल में) जहाँ-तहाँ निर्मल सुरतगण देखने में आते हैं। दसवें द्वार (शिवनेत्र) में ध्यान लगा। अलख पुरुष का, जिसका ध्यान धरा जाता है, दर्शन हुआ॥ भयंकर काल नजदीक नहीं आता है और काम, क्रोध, मद और लोभ जल जाते हैं॥ युग-युग (विषय-सुख) की इच्छा बुत गई। कर्म, भ्रम, पाप और रोग दूर हो गये॥ कबीर साहब कहते हैं कि हे साधो भाई! सुनो, वह अमर हो जाता है और कभी नहीं मरता है॥

टिप्पणी—संत-साधना का भेद जाननेवाले साधक को यह रस, गगन-गुफा में प्रत्यक्षतः पहचान में आता है। इसको गगन-गुफा क्यों कहते हैं, यह बात उसको ठीक-ठीक समझ में आती है; और वह रस क्या है, जिसके कारण उस गगन-गुफा को 'रस-गगन-गुफा' कहते हैं, सो भी उसके लिए प्रत्यक्ष हो जाता है। समझने और समझाने से वह बात दूर है।

॥ मूल पद्य ॥

झीनी-झीनी बीनी चदरिया॥ टेक॥
काहे कै ताना काहे कै भरनी, कौने तार से बीनी चदरिया ॥१॥
इंगला पिंगला ताना भरनी, सुखमन तार से बीनी चदरिया ॥२॥
अष्ट कमल दल चरखा डोलै, पाँच तत्त गुन तीनी चदरिया ॥३॥
साईं को सियत मास दस लागे, ठोक ठोक के बीनी चदरिया ॥४॥
सो चादर सुर नर मुनि ओढ़ी, ओढ़ि के मैली कीन्हीं चदरिया ॥५॥
दास कबीर जतन से ओढ़ी, ज्यों की त्यों धर दीन्हीं चदरिया ॥६॥

पद्यार्थ—महीन-महीन तारों से यह शरीर-रूप चादर बुनी गई है॥ किसका ताना है और किसकी भरनी है और किस तार से यह चादर बुनी गई है? इड़ा और पिंगला की ताना-भरनी है और सुषुम्ना के तार से चादर बुनी गई है॥ पाँच तत्त्व और तीन गुणों के अष्टदल कमल का चरखा डोलता है, जिससे इस चादर के बुनने का महीन तार निकलता है॥ इस चादर को सीने में प्रभु को दस महीने लगते हैं। उन्होंने इस चादर को ठोक-ठोककर बुना है॥ इस चादर को सुर, नर और मुनियों ने ओढ़ा है और ओढ़कर मैला कर दिया है॥ कबीर साहब कहते हैं कि भक्तों ने इस चादर को यत्न से ओढ़ा है और इसको जैसा-का-तैसा अर्थात् बिना मैला किये धर दिया है॥

॥ मूल पद्य ॥

है कोई गुरु ज्ञान पंडित, उलटि वेद बूझे।
पानी में आग लागी, अन्धे की सूझे॥ टेक॥
गदहा पिरथम तार धारी, कच्छ विलार नाचे।
कूरम तेरे संग डोले, घूस पुरान बाचे॥
हस्ती कर पान करे, भैंसा कर जोड़े।
ऊँट घोड़े मगन भये, बैल तान तोड़े॥
बकरी ने बाघ मार्‌यो, हिरन मार्‌यो चीता।
चील नगारो दे चली, बटेरी बाज जीता॥
अटकोरे पर ढोल बाजे, सुनु बे बहरे।
अन्धे ने चोर धर्‌यो, धाये लँगरे॥
टुण्डा मिरदंग झारे, गूंगा पद गावे।
कहै कबीर इसको, बिरला लख पावे॥

शब्दार्थ—पण्डित=विद्वान। उलटि=उलटकर, बहिर्मुख से अन्तर्मुख होकर। पानी=जल, वीर्य। अन्धे=स्थूल दृष्टि से देखना जिसने छोड़ा है। गदहा=(गद=रोग। हा=हनन करनेवाला, मारनेवाला, दूर करनेवाला) आध्यात्मिक रोगों को दूर करनेवाला। पिरथम=प्रथम। तारधारी=सुरत-तार को ग्रहण करनेवाला। कच्छ=किनार, नदी का कछार, स्थूल मण्डल का अन्तिम विन्दु। विलार=(वि=विशेष। लार=साथ) विशेष साथ। कच्छ विलार=जिसको स्थूल मण्डल के अन्तिम विन्दु वा दृष्टियोग से प्रथम दर्शित श्याम विन्दु का विशेष साथ हो। कूरम=कूर्म, कछुआ,

जैसे कछुआ अपनी गर्दन और पैरों को अपने शरीर में बाहर से खींचकर रखता है, इसी तरह जो अभ्यासी अपनी चेतनधारों को अपनी इन्द्रियों के गोलकों से अन्दर में केन्द्रित करता है। घूस=बड़ा मूसा अर्थात् बिल में रहनेवाला, जो अभ्यासी अपने को अपने स्थूल शरीर से समेटकर अपने अन्दर सूक्ष्म मण्डल में विशेष काल तक रख सकता है, जैसे कि चूहा बिल में रहता है। घूस पुरान बाचे=अपने को विशेष काल तक अपने अन्दर के सूक्ष्म मण्डल में रखनेवाले का ज्ञान बढ़ जाता है। वह पुरानी बातों का जानकार हो जाता है, जैसे किसी ने पुराणों को पढ़ा हो। कर=किरण (चेतन-धार), हाथ। भैंसा=तामसी वृत्तिवाला ज्ञान। ऊँट=ऊँचाई से देखनेवाला। घोड़े=तीव्र गति से चलनेवाले। मगन=मग्न, आनन्दित। तान तोड़े=आपेक्ष करे। बैल=मोटी बुद्धिवाला। बकरी=निर्बल पशु, बकरीवत् सुरत। बाघ=मन। हिरन (हिरण)=तीव्र गति से भागनेवाली हिरणवत् सुरत। चीता=मन। अटकोरे=मुँडेरा, पिण्ड का शिखर, तीसरा तिल। ढोल बाजे=अनहद ध्वनि होती है। टुण्डा=जिसका हाथ कट गया हो, लूला, लुंजा, लूल्हा, बाहरी इन्द्रियों से अन्दर की ओर सिमटी हुई सुरतवाला। मिरदंग झारे=अनहद ध्वनि सुनता है।

पद्यार्थ–क्या कोई गुरु के ज्ञान का विद्वान है, जो (बहिर्मुख से अन्तर्मुख) उलटकर ज्ञान बूझता है? पानी में आग लगी अर्थात् वीर्य-संचयी के अन्दर ब्रह्मतेज का उदय होता है। बाह्य दृश्य को नहीं देखनेवाले अन्धे को सूझता है॥ आध्यात्मिक रोगों को मारनेवाला पहले सुरत को धारण करता है अर्थात् सुरत-धारों को समेटकर धारण करता है। वह स्थूल मण्डल के किनारे अर्थात् अन्तिम विन्दु के विशेष संग में नाचता है अर्थात् गतिशील होता है। इन्द्रियों के गोलकों से अपनी वृत्तियों को खींचकर अन्दर में केन्द्रित होनेवाला मन-रूपी कछुआ तुम्हारे संग विचरण करेगा। अपने को विशेष काल तक अपने अन्दर के सूक्ष्म मण्डल-रूप बिल में रखनेवाले अभ्यासी (चूहे) का ज्ञान बढ़ जाता है। वह पुरानी बातों का जानकार हो जाता है, जैसे किसी ने पुराणों को पढ़ा हो॥ स्थूलता में फैले हुए विषय-मद-मत्त सुरत-रूप हाथी को चाहिए कि अपनी किरणों या धाराओं को समेटकर केन्द्रित करे अर्थात् पिये, तो तामसी वृत्तिवाला ज्ञान हाथ जोड़ेगा–अधीन हो जायगा अर्थात् प्रबल नहीं रहेगा। सूक्ष्म मण्डल पर चढ़ा हुआ अभ्यासी

ऊँचाई से देखनेवाला (ऊँट) और तीव्र गति से ऊर्ध्व को चलनेवाला अभ्यासी (घोड़ा) प्रसन्न हुआ और मोटी बुद्धि के लोग उसपर कटाक्ष करते हैं॥ मन और इन्द्रियों के वश में पड़ी हुई सुरत (बकरी) ने ध्यानाभ्यास-द्वारा मन और इन्द्रियों का संग छोड़कर मन-मण्डल के ऊपर उठ, मन को वश में कर लिया। ध्यानाभ्यास-द्वारा ऊर्ध्व-पथ में तीव्रता से गतिशील सुरत (हिरण) ने चीता-रूप मन को मार डाला। ध्यान-बल में तथा गगन-पथ में विचरण करने में न्यून सुरत (बटेरी या बटेर) विशेष ध्यानाभ्यास से अनहद ध्वनि (नगाड़ा) बजाकर अर्थात् धरकर चली, विशेष बलवती (चील) हुई और मन-मण्डल को पार कर मन-रूप बाज को मार डाला अर्थात् वश में कर लिया॥ मुँडेरे–तीसरे तिल पर ढोल बजता है अर्थात् अनहद ध्वनि होती है। अरे स्थूल ज्ञान से ऊपर उठे हुए, स्थूल ध्वनियों को नहीं सुनते हुए बहरे! सुन, दृष्टियोग में निरत स्थूल दृश्यों को नहीं देखते हुए अन्धे ने (काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और मात्सर्य) मन के विकार-रूप चोरों को वश में किया और स्थूल विषयों की ओर की गति में शिथिल (लँगड़ा) अन्तर-पथ में दौड़ा॥ स्थूल विषयों के कर्मों में नहीं रहनेवाला लूल्हा मृदंग बजाता है अर्थात् अनहद ध्वनि ग्रहण करता है और उस दशा में तब वह मुँह से कुछ नहीं बोलता है। गूँगा होकर अनहद नाद सुनता रहता है, मानो पद गाता हो। कबीर साहब कहते हैं कि उस वर्णन को थोड़े लोग देख पाते हैं॥

॥ मूल पद्य ॥

कोई देखो लोगो नैया बीच, नदिया डूबी जाय॥ टेक॥
चिंउटी चलल अपन ससुररिया, नौ मन कजला लगाय।
हाथी मारि बगल तर लीन्हा, ऊँटवा के लियो लटकाय॥
एक चिंउटी के मरने से, नौ सौ गिद्ध अघाय।
ताहू में कुछ बाकी रह गये, ता पर चिल्ह मँडराय॥
एक चिंउटी के थूके से, बन गये नदी हजार।
पापी नरकी पार उतर गये, धर्मों बूड़े मझधार॥
एक आश्चर्य हम ऐसा देखा, गदहा के दो सींग।
चिंउटी गला में रस्सी बाँधि के, खैंचत अर्जुन भीम॥
एक आश्चर्य हम ऐसा देखा, बन्दर दूहे गाय।

दूध दही सब खाय-खाय के, माखन बनारस जाय॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, यह पद है निरवानी।
जो कोइ याको अर्थ लगावै, पहुँचे मूल ठेकानी॥

पद्यार्थ—हे लोगो! कोई देखो, शरीर-रूपी नाव में अन्तर्मुखी होती हुई सुरत डूबी जा रही है।।टेक।। पिण्ड के नौ द्वारों में मन के पसार को समेटकर उसे अपने में काजलवत् लगाकर सुरत-रूप चींटी अपने प्रभु के पास चली। मन-रूपी हाथी को मारकर और तृष्णा-रूपी ऊँट को लटकाकर अर्थात् काबू में रखकर वह ले चली।। सिमटी हुई सुरत (एक चींटी) स्थूल शरीर से ऊपर उठकर सूक्ष्म शरीर में प्रवेश पाकर, उसके इस दिव्य मृत्यु में मरने पर बहुत-से दूरदर्शी—दृष्टियोग-साधक (विन्दुग्राही* बहुत दूर तक देखनेवाले) रूप गिद्धगण संतुष्ट होते हैं। जिस आनन्द-भोग से उपर्युक्त गिद्धगण संतुष्ट होते हैं, उसमें और कुछ बचा रहता है, जिसके चारो तरफ शब्द-अभ्यासी शून्यगामी (चील) मँड़राते रहते हैं।। एक सिमटी हुई सुरत—चींटी ने अन्तर की सूक्ष्मता में प्रवेश कर आध्यात्मिक अनुभूतियाँ प्राप्त कीं। फिर स्थूल ज्ञान में उतरकर थूक दिया अर्थात् अपनी अनुभूतियों के ज्ञान को मुख से कहा, जिसे हजारों—अनेक मनुष्यों ने प्राप्त किया और इन अनेकों के द्वारा ज्ञान-प्रचार की अनेक धाराएँ बह गईं। पापी और नारकीय लोगों ने इस ज्ञान-नदियों को पार कर लिया अर्थात् इनकी अवहेलना की और धर्मात्मा लोग कथित ज्ञान-नदियों में डूब गये अर्थात् बहुत आदर किया।। मैंने एक ऐसा आश्चर्य देखा कि आध्यात्मिक रोगों को दूर करनेवाले (गद+हा) के ज्ञान और ध्यान-रूप दो सींग हैं (जिनसे वह संसार के आक्षेपों को दूर करता है।) और सुरत-चींटी को गुरु-भेद के रस्से में बाँधकर, मन और इन्द्रिय आदि के अन्दर से ज्ञान-बल के बड़े-बड़े बलवान खींच रहे हैं।। एक आश्चर्य मैंने ऐसा देखा कि चंचल और उछल-कूद करनेवाला मन (बन्दर) इन्द्रिय—(गो) गाय को दुहता है अर्थात् ध्यानाभ्यास-द्वारा सुरत की धारों को इन्द्रियों में से निकालकर केन्द्रित करता है। सुरत के खिंचाव के सुख-रूप दूध-दही को वह

---

* विन्दौ मनोलयं कृत्वा दूरदर्शनमाप्नुयात्॥
—योगशिखोपनिषद्, अ० ५, श्लोक ४७

अर्थ—विन्दु में मन को लीन करके दूर-दर्शन प्राप्त करते हैं।।४७।।

खाता है और उसका सार निर्मल सुरत-रूप मक्खन बनारस (वाराणसी*) रूप आज्ञाचक्र में जा पहुँचता है॥ कबीर साहब कहते हैं कि सुनो भाई साधो! यह निर्वाणी पद है अर्थात् मोक्ष-विषयक शब्द है। जो कोई इसका अर्थ लगावे, वह मूल स्थान को पहुँचे॥

॥ मूल पद्य, साखी ॥

गगन गरजि बरसे अमी, बादल गहिर गम्भीर।
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भींजै दास कबीर ॥१॥
प्रथमै नगर पहूँचते, परिगो सोग सन्ताप।
एक अचम्भा हम देखा, जो बिटिया ब्याहै बाप ॥२॥
समधी के घर समधी आये, आये बहू के भाय।
गोडे चूल्हा दै दै, चरखा दियो रि ढाय ॥३॥
पहले जनम पुत्र का भयऊ, बाप जनमिया पाछै।
बाप पूत के एकै नारी, इ अचरज कोइ काछै ॥४॥
इन्दुर राजा टीका बैठे, विषहर करे खवासी।
स्वान बापुरो घरनि ढाकलो, बिल्ली घर में दासी ॥५॥

शब्दार्थ–प्रथमै नगर=पहला नगर, संत-साधना का पहला स्थान–आज्ञाचक्र, योग-हृदय, षष्ठचक्र। बिटिया=कन्या, पिण्डी मन की पुत्री इच्छा। बाप=पिता, पिण्डी मन। गोडे चूल्हा दै दै=दृष्टिधारों को

---

* सर्वानिन्द्रियकृतान्दोषान्वारयतीति तेन वरणा भवति।
सर्वानिन्द्रियकृतान्पापान्नाशयतीति तेन नाशी भवतीति ॥
कतमं चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः स एष द्योर्लोकस्य
परस्य च सन्धिर्भवतीति। एतद्वै सन्धिं सन्ध्यां ब्रह्मविद् उपासत इति ॥ २॥
–जाबोलोपनिषद्

अर्थ–सब इन्द्रिय-कृत दोषों को जो दूर करता है, वही वरणा है और जो सब इन्द्रिय-कृत पापों को नष्ट करता है, वही नाशी कहलाता है। कहाँ वह स्थान है ? दोनों भौंओं का और नासिका का जो मिलन-स्थान है (वही वह स्थान है)। वह द्युर्लोक और परलोक का भी मिलन-स्थान है। इस संधि-स्थान में ब्रह्मज्ञानी अपनी सन्ध्या की उपासना करते हैं अर्थात् वहाँ पर ध्यान करके ब्रह्म-साक्षात्कार की चेष्टा करते हैं।।२।।

बनारस का पुराना नाम वाराणसी है, वरणा और नाशी कहकर वाराणसी को ही व्यक्त किया जाता है।

विन्दु में दे-देकर। चरखा=मन-चक्र। रि=सम्बोधन। ढाय=ढाह गिराया, नष्ट किया। इन्दुर=चूहा (जीवात्मा)। टीका=गादी, प्रणव-विन्दु। विषहर= साँप, विषधर मन। घरनि=घरनी, गृहिणी, भार्या।

पद्यार्थ—कबीर साहब कहते हैं कि (अन्तर) आकाश में (अंधकार) बादल गहिर-गम्भीर गर्जन (अनहद ध्वनि) करके अमृत (चेतन-धार) बरसाता है। चारों तरफ बिजली चमकती है। (इस वर्षा में) अन्तर-साधक भक्त भींगता है॥१॥ सुरत की चढ़ाई या पहुँच पहले स्थान (आज्ञाचक्र) में होते ही (काम-क्रोधादिक मनोविकारों को) शोक-संताप पड़ गया। मैंने एक आश्चर्य देखा कि पिण्डी मन* (बाप) से उत्पन्न हुई, उसकी पुत्री इच्छा से उस मन-रूपी पिता ने विवाह कर लिया अर्थात् मन के वश में इच्छा हो गई॥२॥

अरी सखी! प्रणव-विन्दु-रूप चूल्हे में युगल दृष्टि-धारों (गोड़ों, पैरों) को दे-देकर अर्थात् दृष्टियोग का अभ्यास कर-करके पिण्डी मन सिमटकर ब्रह्माण्डी मन में जा मिला। आत्मबोध का उदय हुआ। इच्छा, चिन्ता, डर और मानस-चक्र ढह गये—नष्ट हो गये॥३॥ भक्त साधक के अन्तर में पहले विवेक उत्पन्न होता है, पीछे परम प्रभु परमात्मा सर्व-पिता को भी वह पाता है। अतएव पहले पुत्र का

---

*आज्ञाचक्र में स्थित मन के केन्द्रीय रूप को ब्रह्माण्डी मन कहते हैं और पिण्ड में फैलनेवाली उसकी धारों को पिण्डी मन कहते हैं। पिण्डी मन की दूसरी पुत्री चिन्ता है, ब्रह्माण्डी मन का पुत्र बोध है। बोध और चिन्ता का विवाह हुआ। अर्थात् चिन्ता बोध के वश में हो गयी। चिन्ता का भाई डर है; क्योंकि यह भी पिण्डी मन से उत्पन्न हुआ है। साधन-द्वारा पिण्डी मन ब्रह्माण्डी मन के घर गया, उससे मिला। इस तरह समधी के घर समधी गया। ब्रह्माण्डी मन की बहू—पतोहू चिन्ता का भाई डर भी अपने बाप के साथ वहाँ गया। पिंडी मन में इच्छा, चिन्ता और डर उपजते रहते हैं। जब यह सिमटकर अपने केन्द्र (ब्रह्माण्डी मन) में केन्द्रित होता है, तब आत्म-बोध का उदय होता है; इच्छा, चिन्ता और डर दूर हो जाते हैं। दृष्टि-धारों को आज्ञाचक्र के केन्द्र-विन्दु में बारम्बार लगाने से पिंडी मन ब्रह्माण्डी मन से मिलकर रहता है और इच्छा, चिन्ता, डर तथा सारे मनोविकारों से बना पिण्डी मन का चक्र नाश को प्राप्त होता है।

जन्म हुआ, पीछे पिता का जन्म हुआ*। तब परम प्रभु के वश में रहनेवाली माया उस भक्त के वश में भी हो गयी। इसलिए बाप-पुत्र की एक ही स्त्री हुई। ऐसा आश्चर्य कोई बनावे।।४।। जीवात्मा-रूप चूहा प्रणव-विन्दु-रूप गद्दी पर बैठा हुआ राजा है। मन-रूप सर्प उसकी खवासी करता है। कुत्ती-रूप इच्छा उस जीवात्मा के वश में होती है–विषयों की ओर से फिरी रहती है, अध्यात्म-बल को सुरक्षित रखती है और हिंसा-वृत्ति-रूपी बिल्ली उसकी दासी बन जाती है अर्थात् अधीन हो जाती है।।५।।

॥ मूल पद्य ॥

ठगिनी क्या नैना चमकावे, कबिरा तेरे हाथ न आवे ॥
कद्दू काटि मृदंग बनाया, नीबू काटि मजीरा ।
सात तरोई मंगल गावे, नाचे बालम खीरा ॥
रूपा पहिर के रूप दिखावे, सोना पहिर तरसावै ।
गले डाल तुलसी की माला, तीन लोक भरमावै ॥
भैंस पद्मिनी आसिक चूहा, मेढ़क ताल लगावै ।
छप्पर चढ़ कर गदहा नाचे, ऊँट विष्णु पद गावै ॥
आम डारि चढ़ि कछुआ तोड़ै, गिलहरी चुन-चुन लावै ।
कहत कबीर सुनो भाइ साधो, बगुला भोग लगावै ॥

शब्दार्थ–ठगिनी=माया। कद्दू=स्थूल शरीर, पिण्ड, अंधकार। मृदंग=अनहद ध्वनि। नीबू=श्याम विन्दु। सात तरोई=प्रकाश के सात तल (१. बिजली-तल, २, पाँच तत्त्वों के रंगों का तल, ३. केवल एक ही तारा का तल, ४. अनेक ताराओं का तल, ५. चाँदनी-तल, ६. चाँद-तल तथा ७. सूर्य-तल)। बालम खीरा=संसार और परिवार सबसे मिला-जुला रहते हुए अन्तर में सबसे अलग रहने का गुणवाला। नाचे=आनन्द से अन्तर और बाहर विचरण करे। भैंस=छह चक्रों में बद्ध ज्ञान-अहंकारवाली सुरत। आसिक=प्रेमी। चूहा=पिण्ड-रूपी बिल में रहनेवाला मन। मेढ़क=केवल परोक्ष ज्ञान का वक्ता। छप्पर=स्थूल वा

*अगवानी तो आइया, ज्ञान विचार विवेक ।
पीछे गुरु भी आयेंगे, सारे साज समेत ॥
–कबीर साहब

पिण्ड के ऊपर का विन्दु, जो सूक्ष्म या ब्रह्माण्ड के सबसे निम्नतल का विन्दु है। गदहा (गद=रोग+हा=हनन करनेवाला)=आध्यात्मिक रोगों को दूर करनेवाला। ऊँट=तीन गुणों के काँटों को खानेवाला और लम्बे-ऊँचे उठे हुए गले पर के मस्तक की ऊँचाई पर की आँखों की दृष्टि से दूर तक देखनेवाला अर्थात् सूक्ष्म दिव्य दृष्टि से देखनेवाला, जिसको सारे ब्रह्माण्ड का दृश्य देखने में आता है। विष्णु पद=सुषुम्ना की सात्त्विक अनहद ध्वनि। आम डारि=अमरत्व प्राप्त करानेवाली अमृत-धारा (अनहद ध्वनि)। कछुआ=जैसे कछुआ अपनी गर्दन और पैरों को अपने शरीर में बाहर से खींचकर रखता है, इसी तरह जो अभ्यासी अपनी चेतन-धारों को अपनी इन्द्रियों के गोलकों से अन्दर में केन्द्रित करता है। गिलहरी=ऊपर-चढ़ाई में प्रमाद-रहित अभ्यासी। बगुला=शरीर स्थिर रखकर एक दृष्टि से अभ्यास करनेवाला।

पद्यार्थ—कबीर साहब माया से कहते हैं कि अरी माया ठगनी! आँख क्या चमकाती है? कबीरा तेरे हाथ में नहीं आता॥ कद्दू (अंधकार) को काटकर मृदंग के अनहद नाद और श्याम तिल का भेदन करके मँजीरे की ध्वनि मैंने सुनी है। सातो प्रकाश के तल से मंगलमयी ध्वनियाँ सुनने में आती हैं। मैं बालम खीरा बन (अन्तर में सम्बन्ध-रहित, बाहर में सबसे सम्बन्ध रखते हुए रहकर) अन्दर और बाहर विचरण करता हूँ॥ सोने-रूपे के जेवरों से सजकर भक्ति के चिह्न तुलसी की माला पहनकर स्त्री ललचाती है और तीनों लोकों में भरमाती है॥ छह चक्रों में बद्ध परन्तु ज्ञान-अहंकारवाली सुरत (भैंस) पद्मिनी सुन्दरी है, उसका प्रेमी पिण्ड-रूपी बिल में रहनेवाला पिण्डस्थ मन है। श्वेत विन्दु-रूप छप्पर पर चढ़कर मनोविकारों (आध्यात्मिक रोगों) को नष्ट करनेवाला अभ्यासी चलता है और दृष्टियोग का अभ्यासी (सुषुम्ना में) सात्त्विकी अनहद ध्वनि (विष्णु पद) को अवगत करता है॥ आम-डारि—अमृत फल की डार—अमृत धारा-रूप शब्द पर चढ़कर अन्तर में सिमटी हुई सुरत (कछुआ) अमृत फल तोड़ता है और वह ऊपर चढ़ने में प्रमाद-रहित (अभ्यासी) गिलहरी चुन-चुनकर संग्रह करती है। कबीर साहब कहते हैं कि सुनो साधो भाई! शरीर को स्थिर रखकर एक ध्यान से रहनेवाला (बगुला) उस फल का भोग लगाता है॥

॥ मूल पद्य ॥

अवधू सो जोगी गुरु मेरा, या पद का जो करै निबेरा ॥ टेक॥
तरवर एक मूल बिन ठाढ़ा, बिन फूले फल लागे।
साखा पत्र नहीं कछु वाके, अष्ट कमल दल गाजे ॥१॥
चढ़ तरवर दो पंछी बैठे, एक गुरू एक चेला।
चेला रहा सो चुन-चुन खाया, गुरू निरन्तर खेला ॥२॥
बिन करताल पखावज बाजै, बिन रसना गुन गावै।
गावनहार के रूप न रेखा, सतगुरु मिलें बतावै ॥३॥
गगन मंडल में अधोमुख कुइयाँ, जहाँ अमी को बासा।
सगुरा होय सो भर-भर पीवै, निगुरा जाय पियासा ॥४॥
सुन्न सिखर पर गइया बियानी, धरती छीर जमाया।
माखन रहा जो सन्तन खाया, छाछ जगत भरमाया ॥५॥
पंछी को खोज मीन को मारग, कहै कबीर दोउ भारी।
अपरम्पार पार पुरुषोत्तम, मूरत की बलिहारी ॥६॥

भावार्थ—हे साधारण जन! वह योगी मेरा गुरु है, जो इस पद का निर्णय करे।टेक॥ बिना मूल के एक श्रेष्ठ वृक्ष खड़ा है, उसमें बिना फूल के फल लगता है, डाल और पत्ते उसको कुछ नहीं है। अष्टकमल की पत्तियाँ उसमें खिली हुई हैं। (तात्पर्य यह कि जड़ात्मिका प्रकृति-रूप वृक्ष बिना मूल के खड़ा है। बिना फूल के ही इसमें मन, बुद्धि, अहंकार, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश-फल लगे हुए हैं। इस वृक्ष में इन आठ फलों के भिन्न-भिन्न आठ मण्डल बनकर उसकी प्रकृतियाँ—वृत्तियाँ पत्तों के रूप में खिली हुई हैं)॥१॥ उस वृक्ष के ऊपर दो पक्षी बैठे हुए हैं। एक गुरु—परमात्मा, एक चेला—जीवात्मा है। चेला—जीवात्मा फलों को चुन-चुनकर खाता है अर्थात् अष्टधा प्रकृति का भोग भोगता है और गुरु—परमात्मा सर्वदा जीवात्मा के खेल को देखता है॥२॥ बिना करताल और पखावज के बाजा बजता है, बिना जिह्वा के गुण गाया जाता है, गानेवाले को रूप-रेखा नहीं है—इस रहस्य को सद्गुरु मिलें तो बतावें॥३॥ गगन-मण्डल में एक नीचे मुखवाला कुआँ है, वहाँ अमृत का वासा है। जो गुरु का साथी है, वह अमृत को पूरा-पूरा पीता है, परन्तु जो निगुरा है, वह प्यासा ही चला

जाता है।।४।। स्थूल आकाश की चोटी पर गौ बियायी अर्थात् सब इन्द्रियों में की चेतन-धारें उनसे निकलकर उस शून्य शिखर पर एक रूप में प्रकट हुईं। इस भूमण्डल पर उसने (अर्थात् इस प्रकार का अभ्यास करनेवाले ने) ज्ञान-रूप दूध को जमा दिया अर्थात् प्रचार-द्वारा संसार में स्थिर कर दिया। उसमें जो सार-रूप मक्खन था, संतों ने खाया और जो छाँछ असार था, उसको लेकर सांसारिक जीव भ्रम में पड़ गया।।५।। पक्षी की खोज और मछली का रास्ता, दोनों को जानना भारी दुर्गम है। कबीर साहब कहते हैं कि क्षराक्षर-पार अपरम्पार पुरुषोत्तम की बलिहारी है।।६।।

॥ मूल पद्य ॥

कोई सुनता है गुरु ज्ञानी, गगन में आवाज होती झीनी ।।१।।
पहले होता नाद विन्दु से, फेर जमाया पानी ।।२।।
सब घट पूरन पूर रहा है, आदि पुरुष निर्वानी ।।३।।
जो तन पाया पटा लिखाया, त्रिस्ना नहीं बुझानी ।।४।।
अमृत छोड़ि विषय रस चाखा, उलटी फाँस फँसानी ।।५।।
ओअं सोहं बाजा बाजै, त्रिकुटी सुरत समानी ।।६।।
इड़ा पिंगला सुखमन सोधे, सुन्न धुजा फहरानी ।।७।।
दीद बरदीद हम नजरों देखा, अजरा अमर निसानी ।।८।।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, यही आदि की बानी ।।९।।

शब्दार्थ—दीद=आँख। बरदीद=ऊपर की आँख।

पद्यार्थ—अन्तराकाश में झीनी ध्वनि होती है, जिसको कोई ज्ञानी गुरु सुनता है।। पहले विन्दु से नाद होता है, तब उस नाद में मन लगाकर मन-रूपी पानी को जमाया जाता है।।२।। इस तरह मन के थिर हो जाने पर उस अभ्यासी को निर्वाणपद-स्थित आदिपुरुष घट-घट में भरपूर व्यापक प्रत्यक्ष होता है।।३।। जिसने शरीर पाकर तृष्णा को शान्त नहीं किया, उसने मानो शरीर को अपने साथ रखने का पट्टा या अधिकार-पत्र (अधिकारी—सृष्टिकर्त्ता से) लिखा लिया हो। भावार्थ यह कि तृष्णा शान्त किये बिना ही शरीर में रहने से शरीर का भोग सुख-दुःखादि सदा पाता रहेगा अर्थात् आवागमन का चक्र नहीं छूटेगा।।४।। वह अमृत को छोड़कर विषय-रस चखता है और अपने को उलटे फाँस में फँसाता है अर्थात् मनुष्य-शरीर पाकर आवागमन से छूटना हो

सकता था, सो नहीं होकर उलटे ही उस चक्र की फाँस में फँस गया॥५॥ त्रिकुटी में समायी हुई सुरत ॐ एवं सोऽहम् के बजते हुए बाजों को सुनती है॥६॥ इड़ा-पिंगला को सुषुम्ना में लाकर शुद्ध करे, तो उसकी ध्वजा शून्य में फहराएगी अर्थात् उसको शून्य पर अधिकार होगा॥७॥ आँख के ऊपर की आँख (तीसरी आँख, शिवनेत्र) से अजर-अमर के चिह्न को मैंने नजरों से देखा है॥८॥ कबीर साहब कहते हैं कि हे साधु भाई! सुनो, आदिपद को व्यक्त करने का शब्द यही है॥९॥

॥ मूल पद्य ॥

साईं ने पठाया, न्यामत हू मत लाना ॥
पहली भिक्षा अन्न का लाना, गाँव नगर के पास न जाना ।
अमीर-गरीब छोड़ के लाना, लाना झोली भर के ॥१॥
दूजी भिक्षा मास् का लाना, जीव-जन्तु के पास न जाना ।
जिन्दा मुर्दा छोड़ के लाना, लाना हंडी भर के ॥२॥
तीजी भिक्षा जल का लाना, कुआँ बावरी पास न जाना ।
ताल तलैया छोड़ के लाना, लाना तुम्बी भर के ॥३॥
चौथी भिक्षा लकड़ी लाना, रूख वृक्ष के पास न जाना ।
गीली-सूखी छोड़ के लाना, लाना गट्ठर भर के ॥४॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, यह पद है निरबाना ।
जो या पद को अर्थ लगावै, सोई चतुर सुजाना ॥५॥

शब्दार्थ—अन्न=चेतनात्मिका ज्योति, जो साधक को ध्यान में प्राप्त होती है। झोली=अनुभव का थैला। मास्=चन्द्र, चन्द्रमा, जिसका दर्शन ध्यान में अभ्यासी को प्राप्त होता है। हंडी=हाँड़ी, मूर्द्धा या मस्तक। जल=चेतनात्मिक शब्दमयी चेतन-धारा, जो अभ्यासी को ध्यानाभ्यास में मिलती है। तुम्बी=सुरत। लकड़ी=दसो इन्द्रियों के अन्दर की चेतन-धारें, ध्यान-अभ्यास में सिमटाव होने पर इसका गट्ठर बँध जाता है।

पद्यार्थ—श्री गुरु-प्रभु ने आज्ञा देकर भेजा कि उत्तम भोज्य पदार्थ भी मत लाना॥ परन्तु पहली भिक्षा आन्तरिक चेतनात्मिका ज्येति-रूप अन्न की लाना। गाँव-नगर और अमीर-गरीब के पास नहीं जाना; परन्तु अनुभव की झोली को भरकर लाना। (जिस तरह अन्न के सेवन से भूख मिटती है और तृप्ति होती है, उसी तरह आन्तरिक

चेतनात्मिका ज्योति को साधन-द्वारा अन्तर में पाने पर आन्तरिक ज्योति प्राप्त करने की भूख मिटती है और तृप्ति होती है। यह समाधि-जनित अनुभव में प्राप्त होनेयोग्य है। अतएव उपर्युक्त अन्न को अनुभव की झोली में भरकर लाने कहा)॥१॥ दूसरी भिक्षा यह लाना कि जीव-जन्तु और जिन्दा-मुर्दा को छोड़कर मास् अर्थात् चन्द्र को मूर्द्धा या मस्तक में भरकर लाना। तात्पर्य यह कि जन-समूह से अलग हो, एकान्त में बैठ, बाहर की ओर से अपनी वृत्तियों को उलट अन्तर्मुख हो नेत्र-स्थान से ऊपर उठ, सहस्त्रदलकमल में चन्द्र-दर्शन करके अपने मस्तक-रूप हण्डी को भर लो॥२॥ तीसरी भिक्षा चेतनात्मक शब्द-धार-जल को सुरत-रूप तुम्बी में भरकर लाना; परन्तु किसी जलाशय के पास नहीं जाना। (यह जल साधन-द्वारा अपने में मिलता है, बाहर के जलाशयों में जाने की कोई आवश्यकता नहीं होती है)॥३॥ चौथी भिक्षा इस तरह की लाना कि इन्द्रियस्थ चेतन-धारों को अन्दर में ध्यानाभ्यास से समेटकर, मानो उन धारों की लकड़ियों को समेट—एकत्र कर यानी गट्ठर बाँध कर लाना॥४॥

संत कबीर साहब कहते हैं कि हे साधु भाइयो! यह बन्धन- रहित पद की बात है। जो इस पद्य का अर्थ लगाता है, वह सही सुजान है॥५॥

॥ मूल पद्य ॥

संतो भक्ति सतोगुर आनी।
नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझो पंडित ज्ञानी॥
पाहन फोरि गंग इक निकसी, चहुँ दिसि पानी पानी।
तेहि पानी दोउ पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी॥
उड़ि माखी तरुवर कै लागै, बोलै एकै बानी।
वह माखी को माखा नाहीं, गर्भ रहा बिनु पानी॥
नारी सकल पुरुष लै खाये, तातैं रहै अकेला।
कहहि कबीर जो अबकी समझै, सोइ गुरू हम चेला॥

पद्यार्थ—हे सन्तगण! सद्गुरु जिस भक्ति का प्रचार करते हैं, वह (साधारण—जड़ात्मिका—अपरा—स्थूल) भक्ति (से भिन्न ही है) दूसरी ही है। जड़ात्मिका मूल प्रकृति-रूपा नारी से ब्रह्म* और जीव-रूप,

---

*'अवधू छाड़हु मन विस्तारा।
सो पद गहहु जाहि ते सद्गति, पार ब्रह्म ते न्यारा॥'
'नहिं अच्छर नहिं अविगत भाई, ये सब जग के मूलं॥' —कबीर साहब

दो पुरुषों को उत्पन्न किया। हे पण्डित ज्ञानी! इस बात को बूझो॥ पत्थर (जड़ तत्त्व) को फोड़कर एक बहती हुई पवित्र धारा गंगा (निर्मल सुरत) निकल गई और निर्मल सुरत-सागर अर्थात् चेतन सिन्धु में जाकर समा गई, जहाँ सर्वत्र चेतन-ही-चेतन है। उस चेतन सिन्धु-रूप पानी में जीव और ब्रह्म-रूप दोनों पर्वत विलीन हो गये। मानो तरंगें समुद्र में समा गयीं॥ सिमटी हुई सुरत उड़ी और श्रेष्ठ वृक्ष*रूप परम प्रभु परमेश्वर में जाकर लग गई। जहाँ से एक ही ध्वन्यात्मक प्रणव ध्वनि–सारशब्द ध्वनित होता है। परम प्रभु परमात्मा से लगी हुई उस मुक्त निर्मल सुरत को वश में रखनेवाला (मन और माया) अब नहीं है। उसको पानी–वीर्य–कारण के बिना ही (अनुभव या ज्ञान से पूरित) गर्भ रहा अर्थात् उसको लिखित या कथित ज्ञान की अपेक्षा नहीं रही॥ अद्वैतावस्था को प्राप्त उस निर्मल सुरत-रूपी नारी ने ज्ञान, योग, विराग आदि पुरुषों को तथा काम-क्रोध आदि विकार-रूप पुरुषों को भी खाया अर्थात् अपने अन्दर में लेकर पचा गई। इस हेतु वह अकेली रह गई। कबीर साहब कहते हैं कि इस बार अर्थात् मनुष्य-शरीर प्राप्त करने के समय में जो इसको समझता है, वह ज्ञानदाता ज्ञानी पुरुष है और हम अर्थात् अहंकार उसका शिष्य अर्थात् वशवर्ती है॥

॥ मूल पद्य ॥

साधो यह तन ठाठ तँबूरे का ॥ टेक॥
ऐंचत तार मरोरत खूँटी, निकसत राग हजूरे का ॥१॥
टूटे तार बिखरि गई खूँटी, हो गया धूरम धूरे का ॥२॥
या देही का गर्व न कीजै, उड़ि गया हंस तँबूरे का ॥३॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, अगम पंथ कोइ सूरे का ॥४॥

भावार्थ–हे साधु! इस शरीर की बनावट तँबूरे की-सी है॥ इन्द्रिय-रूपी खूँटी को मरोड़कर अर्थात् बहिर्मुख से अन्तर्मुख फिराकर तार अर्थात् चेतन-धारा को अन्तर्मुख खींचने पर परम प्रभु परमात्मा से निकला हुआ राग अर्थात् आदिनाद प्रत्यक्ष होता है॥१॥ जब शरीर के अन्दर का चेतन-तार टूट जाता है अर्थात् शरीर को वह छोड़ देता है, तब इन्द्रिय-रूपी सब खूँटियाँ बिखर जाती हैं। यह शरीर धूल बन जाता

*अछय पुरुष एक पेड़ है, निरंजन वाका डार।
तिरदेवा साखा भये, पात भया संसार॥

है॥२॥ इस देह का गौरव मत करो, इस तंबूरे का हंस अर्थात् जीव निकल जाता है॥३॥ कबीर साहब कहते हैं कि हे साधो भाई! सुनो, बुद्धि से भी परे मार्ग पर कोई शूरमा चला है (वही उस हजूरे के राग को सुनता है)॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

अँखियाँ लागि रहन दो साधो, हिरदे नाम सम्हारा।
रीझै बूझै साहिब तेरा, कौन पड़ा है द्वारा॥१॥
जम-जालिम के सब डर मिटिगे, जा दिन दृष्टि निहारा।
जब सतगरु ने किरपा कीन्हीं, लीन्हो आप उबारा॥२॥
लख चौरासी बन्धन छूटे, सदा रहै गुरु संगी।
प्रेम पियाला हरदम पीवै, सदा मस्त बौरंगी॥३॥
जब लगि वस्तु पिछाने नाहीं, तब लगि झूठी आसा।
झिलमिल ज्योति लखै कोइ गुरुमुख, उनमुनि घर कै वासा॥४॥
सब की दृष्टि पड़ै अविनाशी, बिरला सन्त पिछानै।
कहै कबीर यह भर्म किवाड़ी, जो खोलै सो जानै॥५॥

शब्दार्थ—बौरंगी=बौराहा।

पद्यार्थ—हे साधो! मानस जप करके दृष्टि को (मानस ध्यान और सुषुम्ना-द्वार में) लगे रहने दो। (इससे) तुम्हारा प्रभु तुमपर रीझेगा और बूझेगा कि द्वार पर कौन पड़ा हुआ है॥१॥ जिस दिन दृष्टि से देखोगे, उसी दिन से निर्दय यम से मिलनेवाले सब दुःख मिट जाएँगे। जब सद्गुरु कृपा करेंगे, तब तुमको वह आप उबार लेंगे॥२॥ गुरु का संगी सदा बना रहे, तो चौरासी लाख बन्धन छूटेंगे और गुरु तथा ईश्वर-सम्बन्धी प्रेम-रस को सदा पीता रहे, तो वह उस रस की मस्ती में मस्त रहेगा॥३॥ जबतक परमात्म-तत्त्व का प्रत्यक्ष परिचय न हो, तबतक की आशा झूठी है। जो गुरुमुख मनोलय के घर में अपना बासा बनाता है, वह झिलमिल ज्योति को लखेगा॥४॥ अविनाशी परमात्मा सबकी दृष्टि में पड़ते हैं; परन्तु बिरला ही संत उनको पहचानते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि इस बात को वे जानते हैं, जो माया की किवाड़ी को खोल देते हैं॥५॥

॥ मूल पद्य ॥

बागों ना जा रे ना जा, तेरे काया में गुलजार ॥
करनी क्यारी बोइ के, रहनी करु रखवार ।
दुर्मति काग उड़ाइ के, देखै अजब बहार ॥१॥
मन-माली परबोधिये, करि संयम की बार ।
दया पौद सूखे नहीं, छिमा सींच जल ढार ॥२॥
गुल औ चमन के बीच में, फूला अजब गुलाब ।
मुक्त कली सतमाल की, पहिरू गूँथि गलहार ॥३॥
अष्ट कमल से ऊपजै, लीला अगम अपार ।
कहै कबीर चित चेत के, आवागमन निवार ॥४॥

शब्दार्थ–बागों=बाग, फुलवाड़ी, वाटिका, उद्यान। गुलजार=बाग, वाटिका। पौद=पौधा। गुल=गुलाब का फूल। चमन=हरी-भरी क्यारी, फुलवाड़ी। आवागमन=बार-बार जन्म लेना और मरना।

भावार्थ–हे भजन-अभ्यासी साधु! बाहर की फुलवाड़ियों में मत जा, मत जा! तेरे शरीर के अन्दर ही फुलवाड़ी है॥ साधन-कर्म को क्यारी में बोकर अपने सदाचरण को उसका रखवार बना और दुर्बुद्धिरूप काग को उड़ाकर आश्चर्यमय वसन्त ऋतु को देख॥१॥ संयम का बेड़ा बनाकर मन-रूप माली को सावधान कर। दया के पौधे को क्षमा का जल ढारकर सींच कि वह सूखे नहीं॥२॥ फूल और फुलवाड़ी के अन्दर अनूठा गुलाब का फूल फूला हुआ है, उसमें मुक्ति-रूपी कलियों को (कोढ़ियों को) गूँथकर सत्य-माला बना अपने गले में हार पहन॥३॥ अष्टदल कमल* (आज्ञाचक्र) से अगम-असंख्य लीलाएँ उपजती हैं। कबीर साहब कहते हैं कि हे साधु! अपने चित्त में चेत कर, बारम्बार जन्म-मरण में आने-जाने को रोक दे॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

सन्त जन करत साहिबी तन में ॥ टेक॥
पाँच पचीस फौज यह मन की, खेलैं भीतर तन में ।
सतगुरु सबद से मुरचा काटो, बैठो जुगत के घर में ॥१॥

* आज्ञाचक्र से पाँच तत्त्व और तीन गुणों की स्थूल धाराएँ प्रकट होती हैं, इसलिए इसको अष्टदलकमल कहते हैं तथा इसके अन्दर ह और क्ष–दो वर्णों को मानते हैं, इसलिए इसको द्विदलकमल भी कहते हैं।

बंक नाल का धावा करके, चढ़ि गये सूर गगन में।
अष्ट कँवल दल फूल रह्यो है, परखे तत्त नजर में ॥२॥
पच्छिम दिसि की खिड़की खोलो, मन रहे प्रेम मगन में।
काम क्रोध मद लोभ निवारो, लहरि लेहू या तन में ॥३॥
शंख घंट सहनाई बाजै, सोभा सिंध महल में।
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, अजर साहिब लख घट में ॥४॥

शब्दार्थ–बंक नाल=टेढ़ी और कठिन राह।

भावार्थ–सन्तजन अपने शरीर के अन्दर में प्रभुताई या मालिकपना करते हैं।टेक॥ पाँच तत्त्व और पचीस प्रकृतियाँ मन की सेनाएँ हैं, जो शरीर के अन्दर खेलती हैं। युक्ति के घर में बैठकर अर्थात् अन्तस्सा-धना की युक्ति जानकर उसका अभ्यास करते हुए रहकर सद्गुरु-शब्द के द्वारा उपर्युक्त सेना के छिपकर रहने के बचाव-स्थान को काट डालो॥१॥ बंकनाल होकर धावा करके शूरमा–भक्त-अभ्यासी गगन में चढ़ जाता है। उसके लिए पाँच तत्त्व और तीन गुणों के पृथक्-पृथक् रंग*वाले मण्डल खुल जाते हैं और वह उन तत्त्वों को देखकर परखता है॥२॥ प्रकाश की ओर की खिड़की खोल दो, मन ईश्वर-विषयक प्रेम में डूबा रहेगा। काम, क्रोध, मद और लोभ को हटाकर इस शरीर की निर्मल तरंग में गोता लगाओ॥३॥ शोभासिन्धु- महल में शंख, घंट और शहनाई बजती हैं। कबीर साहब कहते हैं कि हे साधु भाई! अविनाशी प्रभु के दर्शन घट में करो॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

वारी जाऊँ मैं सद्गुरु के, मेरा किया भरम सब दूर ॥ टेक॥
चन्द चढ़ा कुल आलम देखै, मैं देखूँ भ्रम दूर ॥ १ ॥

---

* स्याही सुरख सफेदी होई। जरद जाति जंगाली सोई॥
–संत तुलसी साहब, हाथरस

स्याह अग्नि का, सुरख जल का, सफेदी आकाश का, जरद पृथ्वी का और जंगाली वायु का रंग है।

'अकारः पीवर्णः स्याद्रजोगुण उदीरितः।
उकारः सात्त्विकः शुक्लो मकारः कृष्ण तामसः ॥१२,१३॥'
–ध्यानविन्दूपनिषद्

अ=रजोगुण–पीत वर्ण। उ=सतोगुण–शुक्ल वर्ण। म्=तमोगुण–कृष्ण वर्ण।

हुआ प्रकास आस गइ दूजी, उगिया निर्मल नूर ॥ २ ॥
माया मोह तिमिर सब नासा, पाया हाल हजूर ॥ ३ ॥
विषय-विकार लार है जेता, जारि किया सब धूर ॥ ४ ॥
पिया पियाला सुधि बुधि बिसरी, हो गया चकनाचूर ॥ ५ ॥
हुआ अमर मरे नहिं कबहूँ, पाया जीवन मूर ॥ ६ ॥
बन्धन कटा छुटिया जम से, किया दरस मंजूर ॥ ७ ॥
ममता गई भई उर समता, दुख सुख डारा दूर ॥ ८ ॥
समझे बने कहे नहिं आवे, भयो आनन्द भरपूर ॥ ९ ॥
कहै कबीर सुनो भाइ साधो, बजिया निरमल तूर ॥ १०॥

पद्यार्थ—मैं सद्‌गुरु पर अपने को न्योछावर करता हूँ, मेरे सब भ्रमों को उन्होंने दूर किया।।टेक।। मैंने चन्द्रमण्डल अर्थात् सहस्त्रदलकमल में आरोहण किया, सारा ब्रह्माण्ड दरसने लगा और मेरा भ्रम दूर हो गया।।१।। ब्रह्मतेज का उदय हो गया। दूसरी सब आशाएँ चली गईं अर्थात् मिट गईं और पवित्र तेज का उदय हुआ।।२।। माया, मोह और अंधकार; सभी नष्ट हो गये। प्रत्यक्ष परमात्मा को वर्त्तमान काल में पा लिया।।३।। विषय के जितने विकार साथ में थे, सभी को जलाकर धूल कर दिया।।४।। मैंने प्रेम का प्याला पिया, मेरी सांसारिक सुधि-बुधि जाती रही, प्रेम-मद में मैं चकनाचूर हो गया।।५।। मैं (मर्त्य संसार से छूटकर) अमर हो गया। अब कभी नहीं मरूँगा; मैंने संजीवनी बूटी पायी।।६।। भव-बंध कट गया, यम से छुटकारा हो गया, परमात्मा ने मुझे दर्शन देने को मंजूर कर लिया।।७।। सांसारिक ममता चली गयी, हृदय में समता प्राप्त हुई और संसार-सम्बन्धी सब दुःख दूर हो गये।।८।। पूर्ण आनन्द प्राप्त हुआ, जो समझने में बनता है, कहने में नहीं आता है।।९।। कबीर साहब कहते हैं कि हे साधु भाई! अनाहत नाद की पवित्र तुरही बजने लगी।।१०।।

॥ मूल पद्य ॥

सन्तौ अचरज भौ इक भारी, पुत्र धइल महतारी ॥
पिता के संगे भई बावरी, कन्या रहल कुमारी ।
खसमहि छाड़ि ससुर संग गौनी, सो किन लेहु विचारी ॥

भाई के संगे सासुर गौनी, सासुहिं सावत दीन्हा।
ननद भौज परपंच रचो है, मोर नाम कहि लीन्हा॥
समधी के संग नाहीं आई, सहज भई घरवारी।
कहहि कबीर सुनो हो सन्तो, पुरुष जनम भौ नारी॥

भावार्थ—हे सन्तो! एक बड़ा आश्चर्य हुआ है कि जीव-रूपी पुत्र ने माया-रूपी माता को धर लिया॥ माया कुमारी कन्या थी, सो (ज्योति निरंजन ब्रह्म-रूप) पिता[१] के संग पगली हो गयी है अर्थात् पिता से संग करके संसार को उत्पन्न किया है, जैसे स्त्री पुरुष का संग करके सन्तान उत्पन्न करती है। संसार की दृष्टि में पुत्री पिता से संग करके सन्तान उत्पन्न करे, यह उस पुत्री का बावरी या पगली होना है। इस तरह का कर्म तो माया ने अविद्या-रूपा होकर किया। पुनः वही माया विद्या-रूप में खसम (निरञ्जन ब्रह्म) का संग छोड़कर ससुर के (निरञ्जन ब्रह्म के पिता सत्पुरुष[२]—सच्चिदानन्द ब्रह्म के) संग में चली, सो क्यों नहीं विचार लेते हो? विद्या माया-रूपी बहन अपने भाई जीव (चेतन पुरुष) के साथ ससुराल (सहस्त्रदलकमल यानी ज्योति निरञ्जन के देश) गई। भाव यह कि जीव सहस्त्रदलकमल के नीचे—पिण्ड में उतरकर पिण्डी और स्थूल जगत् के दुःखों को पाकर इनसे विरक्त हो विद्या-द्वारा ज्ञान का सहारा पा, मायामय देश को त्यागने की युक्ति पाकर, भजन-अभ्यास करके पहले सहस्त्रदलकमल में ऊपर उठा। वहाँ अविद्या—चेतन जीव की माता-रूपा सास को, उसने (विद्या ने) सावत यानी ईर्ष्या प्रदान की।

---

१. कबीर-पंथ में 'अनुराग-सागर' नाम की एक पुस्तिका है, उसमें लिखा है कि माया (अष्टांगी देवी) को ज्योति निरंजन ने ग्रस लिया और फिर उसे बाहर निकाला। तब वह देवी उसे 'पिता! पिता!! कहने लगी। पुनः निरंजन से संग करके उसने ब्रह्मा, विष्णु और महेश को उत्पन्न किया और इन तीनों से सृष्टि का प्रसार किया। इसलिए निरंजन उसका पति हुआ और निरंजन का देश सहस्त्रदलकमल उसकी ससुराल हुआ; तथा बीजक में लिखा है—

अन्तर जोति शब्द एक नारी। हरि ब्रह्मा ताके त्रिपुरारी॥
ते तरिये भग लिंग अनन्ता। तेउ न जाने आदि औ अन्ता॥

२. अनुराग-सागर में लिखा है कि सत्पुरुष ने निरंजन को अपने शब्द से उत्पन्न किया।

अविद्या ने विद्या को ढँक रखा था, सो उसने जब देखा कि विद्या, चेतन जीव वा सुरत[1] के साथ मेरे आवरण को फाड़ती हुई मेरी हद से ऊपर उठी जा रही है, तब उसको विद्या से ईर्ष्या हुई। फिर वहाँ ज्योति निरंजन की बहन और भार्या ऋद्धि और सिद्धि[2] दोनों ने मिलकर जीव और विद्या को गिराने के लिए बहुत माया की रचना की। वहाँ उन दोनों (जीव और विद्या) ने (मोर) मेरा अर्थात् शब्द के वक्ता (सद्गुरु कबीर साहब) के नाम अर्थात् वह नाम जो सद्गुरु की युक्ति-द्वारा प्राप्त हुआ—को भजकर ऋद्धि-सिद्धि को अपना लिया अर्थात् उन्हें अपने अधीन में रखा, न कि उनके अधीन होकर पुनः वे अविद्या में बहके॥ जो सुरत समधी—समता में रहनेवाली बुद्धि (सम= समता। धी=बुद्धि) के साथ नहीं आई अर्थात् अन्तस्साधन में समत्व बुद्धि प्राप्त नहीं कर सकी और सांसारिक व्यवहारों में आयी, वह सहज ही घरवारी (संसारासक्त) हो गयी। संत कबीर साहब कहते हैं कि हे संतो! सुरत तो जन्म से पुरुष (अक्षर पुरुष)[3] है; परन्तु व्यावहारिक बोल में नारी[3] हुई है॥

सारांश—मायिक आवरणों के कारण चेतन-आत्मा जीवत्व-दशा को प्राप्त हुई है, मानो माया माता से जनमा है और उसने माया के भोगों में फँसकर माया को धर रखा है। वह विद्या* का या परमात्म-ज्ञान का सहारा लेकर, अन्तर में साधन करके मायिक आवरणों को पार करे और माया से मुक्त हो जाय। अन्तर-साधन की यात्रा के स्थानों से ऋद्धि-सिद्धियों के प्रलोभनों में पड़कर उनके अधीन हो फिर अविद्या* में न गिरे। बल्कि उन ऋद्धि-सिद्धियों को अपने वश में रखकर आगे

---

१. आदि सुरत सतपुरुष ते आई। जीव सोहं बोलिये सो ताई॥
—अनुराग-सागर

२. ऋद्धि-सिद्धि प्रेरइ बहु भाई। बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई॥
होइ बुद्धि जौं परम सयानी। तिन्ह तन चितव न अनहित जानी॥
—गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड

३. श्रीमद्भगवद्गीता, अ० ७, श्लोक ४-५; अध्याय १५, श्लोक १६, १७ एवं १८ पढ़िये।
अक्षर पुरुष=जीव=सुरत, इस तरह 'पुरुष जन्म भौ नारी।'

* श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय १३ के श्लोक ७ से ११ तक (ज्ञान=) विद्या और (अज्ञान=) अविद्या का बोध करना चाहिए।

बढ़े। साधन में समत्वबुद्धि प्राप्त करके तब साधक संसार के कर्त्तव्यों का सम्पादन करे।

॥ मूल पद्य, साखी ॥

कबीर गुरु की भक्ति कर, तजि विषया रस चौज।
बार बार नहिं पाइहैं, मानुष जन्म की मौज ॥१॥
भक्ति बीज बिनसै नहीं, आइ पड़ै जो चोल।
कंचन जो विष्टा पड़ै, घटै न ताको मोल ॥२॥
गुरु भक्ति अति कठिन है, ज्यों खाँड़े की धार।
बिना साँच पहुँचे नहीं, महा कठिन व्यौहार ॥३॥
भक्ति दुहेली गुरू की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारै हाथ से, सो लेसी सतनाम ॥४॥
भक्ति दुहेली नाम की, जस खाँड़े की धार।
जो डोलै तो कटि पड़ै, निहचल उतरै पार ॥५॥
कबीर गुरु की भक्ति का, मन में बहुत हुलास।
मन मनसा माँजै नहीं, होन चहत है दास ॥६॥
हरष बड़ाई देख करि, भक्ति करै संसार।
जब देखै कछु हीनता, औगुन धरै गँवार ॥७॥
भक्ति निसेनी मुक्ति की, संत चढ़े सब धाय।
जिन जिन मन आलस किया, जनम जनम पछिताय ॥८॥
भक्ति बिना नहिं निस्तरै, लाख करै जो कोय।
शब्द सनेही ह्वै रहै, घर को पहुँचे सोय ॥९॥
जब लग नाता जगत का, तब लग भक्ति न होय।
नात तोड़ हरि को भजै, भक्त कहावै सोय ॥१०॥
भक्ति प्रान तें होत है, मन दै कीजै भाव।
परमारथ परतीत में, यह तन जाव तो जाव ॥११॥

अर्थ—कबीर साहब कहते हैं कि विषय-रस की मौज छोड़कर गुरु-भक्ति करो। बारम्बार मनुष्य-जन्म की मौज नहीं पाओगे॥१॥ भक्ति-बीज का विनाश नहीं होता है, चाहे उस बीज को प्राप्त किया हुआ जीव ऊँच-नीच किसी (मनुष्य के) चोले में जन्म ले। जैसे—जो सोना विष्ठा में पड़ जाता है, तो भी उसका मोल नहीं घटता॥२॥

तलवार की धार पर चलने के समान गुरु की भक्ति बहुत कठिन है। बिना सचाई के उसपर चलकर भक्ति की पूर्णता तक पहँचा नहीं जा सकता। उसपर चलने का काम बहुत कठिन है॥३॥ गुरु की भक्ति कठिन है, यह साहसहीन का काम नहीं है। जो अपने हाथ से अपने मस्तक को उतार सकता है अर्थात् अपनी मान-प्रतिष्ठा को अपने से त्याग सकता है, वही सत्नाम को प्राप्त कर सकता है॥४॥ नाम-भजन भी कठिन है, जैसे तलवार की धार पर जाना हो। यदि स्थिर नहीं रहेगा–डोलेगा, तो कटकर–नाम-भजन के संबंध से कटकर गिरेगा; परन्तु जो स्थिर रहेगा, वह संसार-सागर को पार कर जाएगा॥५॥ कबीर साहब कहते हैं कि गुरु की भक्ति करने का मन में बहुत हौसला रहता है; परन्तु मन की इच्छा को माँजकर शुद्ध नहीं करते और भक्त होना कहते हैं अर्थात् मन-मनसा को माँजे बिना कोई भक्त नहीं हो सकता॥६॥ हर्ष और बड़ाई को देखकर संसारी लोग भक्ति करते हैं; परन्तु वे गँवार लोग जब कुछ हीनता देखते हैं, तब भक्ति में अवगुण है–मन में ऐसी धारणा धारण करते हैं॥७॥ मुक्ति में जाने के लिए भक्ति सीढ़ी है। सन्तगण दौड़ते हुए अर्थात् शीघ्रतापूर्वक उसपर चढ़ गये। जिन लोगों ने उसपर चढ़ने में आलस्य किया, वे जन्म-जन्म पछताते हैं॥८॥ कोई लाखों यत्न करे; परन्तु भक्ति के बिना संसार-सागर से उद्धार नहीं होता है। जो शब्द-अभ्यास का–नादानुसन्धान का-सुरत-शब्द-योग का–नाम-भजन का प्रेमी बना रहता है, वही मुक्ति के घर में पहुँचता है॥९॥ जबतक संसार का सम्बन्ध है–भजन-काल में संसार-संबंधी बातें मन में उदित होती रहती हैं, तबतक भक्ति नहीं होती है–भजन नहीं बनता है। संसार-सम्बन्ध छोड़कर जिसका मन भजन-काल में हरि-भजन करता है, वही भक्त कहलाता है॥१०॥ प्राण–जीवनी शक्ति–चेतन-धार को लगाकर भक्ति की जाती है। मन को समर्पित करके भक्ति में प्रेम कीजिये। परमार्थ-तत्त्व में विश्वास करने में शरीर जाय तो जाने दीजिये॥११॥

॥ मूल पद्य ॥

मुरशिद नैनों बीच नबी है ।
स्याह सफेद तिलों बिच तारा, अविगत अलख रबी है ॥
आँखी मद्धै पाँखी चमकै, पाँखी मद्धै द्वारा ।
तेहि द्वारे दुरबीन लगावै, उतरे भव जल पारा ॥

सुन्न सहर में बास हमारा, तहुँ सरवंगी जावै ।
साहब कबीर सदा के संगी, सब्द महल लै आवै ।।

शब्दार्थ—मुरशिद=गुरु, सद्गुरु। नबी=ईश्वर का दूत। स्याह=काला। रबी=रब=ईश्वर का विभूति-रूप। पाँखी=पक्षी, उड़नेवाली चीज, ज्योति। द्वार=दशम द्वार। सरवंगी=सर्वांग में पसरी हुई चेतन की धारा।

पद्यार्थ—हे गुरु! आँखों के बीच में ईश्वर का दूत है। काले और उजले तिलों—विन्दुओं के बीच में तारा है, जो सर्वव्यापी और अलख रबी—रब—ईश्वर का विभूति-रूप है।। (दृष्टियोग के अभ्यासी को श्याम विन्दु, फिर उसीपर श्वेत विन्दु और फिर उस श्वेत पर तारा दरसता है। 'दीपज्वालेन्दुखद्योतविद्युन्नक्षत्र भास्वराः । दृश्यन्ते सूक्ष्म रूपेण सदा युक्तस्य योगिनः ।'—योगशिखोपनिषद्। अर्थात् योगयुक्त योगी को सूक्ष्म रूप से दीप, ज्वाला, चन्द्रमा, जुगनू, बिजली, तारा तथा सूर्य देखने में आते हैं। 'तारा चड़िया लंमा'—गुरु नानक)।। आँखों के बीच में पाँखी—पक्षी अर्थात् उड़नेवाली चीज अर्थात् ज्योति* चकमती है और उस ज्योति-पक्षी के बीच में द्वार (दशम द्वार) है। उस द्वार में दृष्टियोग करो, संसार-सागर से पार हो जाओगे। शून्य शहर में मेरा बासा है अर्थात् मैं शून्य में ध्यान लगाये रहता हूँ। वहाँ उस ध्यान के कारण सर्वांग में पसरी हुई सुरत की धारें—चेतन-धाराएँ सिमटकर जाती हैं। कबीर साहब कहते हैं कि सदा साथ रहनेवाले प्रभु के महल में शब्द ले आता है अर्थात् पहुँचा देता है।। 'चुम्बक सत्त शब्द है भाई। चुम्बक शब्द लोक लै जाई।। लेइ निकारि होखै नहिं पीरा। सत्त शब्द जो बसै शरीरा।।' (दरिया साहब, बिहारी) भावार्थ यह है कि भक्तियोग के साधक को दृष्टियोग के अभ्यास में ब्रह्म-ज्योति-रूप ईश्वर का दूत—नबी मिलता है। यह नबी तब प्रकट होता है, जब साधक प्रथम श्वेत-श्याम के बीच परमात्मा के विभूति-रूप तारे का दर्शन पाता है। इस ध्यान को 'शून्य-ध्यान' भी कहते हैं। इसमें उपर्युक्त नबी के दर्शन होने पर अन्तर में आन्तरिक नाद ग्रहण होते हैं, जिनके द्वारा उस तल पर पहुँचा जाता है, जहाँ परमात्मा की प्रत्यक्षता होती है।

---

* जीवितों की आँखों में ज्योति चकमती है; परन्तु मृतकों की आँखों में यह चमक नहीं रहती। मानो वह उड़ जाती है, इसीलिए यह चमक या ज्योति पाँखी या पक्षी है।

॥ मूल पद्य, साखी ॥

उठा बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास॥
पाठान्तर–आया बगूला प्रेम का, तिनका उड़ा अकास।
तिनका तिनका से मिला, तिनका तिनके पास॥*
सबै रसायन मैं किया, प्रेम समान न कोय।
रति एक तन में संचरै, सब तत कंचन होय॥
पाठान्तर–सबै रसायन मैं किया, प्रेम समान न कोय।
रति इक तत में संचरै, सब तन कंचन होय॥*
यहि तन का दिबला करौं, बाती मेलौं जीव।
लोहू सींचौं तेल ज्यों, कब मुख देखौं पीव॥

अर्थ–प्रेम का बवण्डर उठा वा आया, तिनके (खर के टुकड़े) अर्थात् ईश्वर-भक्ति में कमजोर लोग–अनस्थिर प्रेमवाले भक्ति-गगन में उड़ गये अर्थात् विशेष भक्तिवाले मालूम होने लगे। वे लोग आपस में उस गगन में मिले, पुनः बवण्डर के समाप्त हो जाने पर उस गगन से नीचे गिरे और साधारण वा अपने सदृश तिनकों के पास पूर्ववत् आ पहुँचे। 'तिनका तिनके पास' का अभिप्राय है–अनस्थिर प्रेमवाले भजनाभ्यास में क्षणिक उन्नति से गिरकर पुनः शरीर-सम्बन्धी विषयों में आसक्त हो गये॥ मैंने स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए अनेक प्रकार के रसायनों का प्रयोग किया; परन्तु ईश्वर-भक्ति के समान कोई भी औषधि नहीं जँची। ईश्वर-प्रेम की औषधि एक रत्ती अथवा अल्प मात्रा में भी शरीर के अन्दर फैले, तो सब शरीर अथवा शरीर-सम्बन्धी सब तत्त्व सोना अर्थात् सुन्दर और नीरोग हो जाय॥ ईश्वर-दर्शन के लिए अपने वर्त्तमान शरीर को दीपक बनाता हूँ, उसमें जीवात्मा की बत्ती देता हूँ और उसको रक्त-रूपी तेल से भिंगाकर जला देता हूँ और यह उत्कण्ठा लगी रहती है कि ईश्वर का दर्शन कब करूँ? तात्पर्य यह कि ईश्वर-दर्शन के विरह में शरीर-सुख को भूलकर साधन-भजन करूँगा। अपने को और अपने रक्त को बत्ती और तेल की तरह लगाऊँगा और जलाऊँगा। भजन में दीपक-ज्योति प्रकट होती है–

* देखो–कबीर-साखी-संग्रह, बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

'जैसे मन्दिर दीपक बारा। ऐसे जोत होत उजियारा ॥'

—तुलसी साहब

'कबीर गुरु का भावता, दूरहिं से दीसन्त।
तन छीना मन अनमना, जग से रूठि फिरन्त॥
हँस हँस कन्त न पाइये, जिन पायाँ तिन रोय।
हाँसि खेले पिउ मिलैं, तो कौन दुहागिन होय॥'

—कबीर साहब

॥ मूल पद्य, साखी ॥

लव लागी तब जानिये, छूटि कभूँ नहिं जाय।
जीवत लव लागी रहै, मुए तहहिं समाय॥१॥
जब लग कथनी हम कथी, दूर रहा जगदीस।
लव लागी कल ना परै, अब बोलत न हदीस॥२॥
काया कमण्डल भरि लिया, उज्जल निर्मल नीर।
पीवत तृषा न भाजही, तिरषावन्त कबीर॥३॥
मन उलटा दरिया मिला, लागे मलि मलि न्हान।
थाहत थाह न आवई, सो पूरा रहमान॥४॥
गंग जमुन उर अन्तरे, सहज सुन्न लव घाट।
तहाँ कबीरा मठ रचा, मुनि जन जोवैं बाट॥५॥
जेहि बन सिंह न संचरै, पंछी उड़ि नहिं जाय।
रैन दिवस की गम नहीं, तहँ कबीर लव लाय॥६॥
लै पावौ तौ लै रहौ, लैन कहूँ नहिं जाव।
लै बूड़ै सो लै तिरै, लै लै तेरो नाँव॥७॥
लव लागी कल ना पड़ै, आप बिसरजनि देह।
अमृत पीवै आत्मा, गुरु से जुड़ै सनेह॥८॥
जैसी लव पहले लगी, वैसी निबहै ओर।
अपनी देह की को गिनै, तारे पुरुष करोर॥९॥
लागी लागी क्या करे, लागी बुरी बलाय।
लागी सोई जानिये, जो वार पार होइ जाय॥१०॥

अर्थ—परमात्मा की ओर चित्त की वृत्ति लगी है, ऐसा तब जानना चाहिए, जब उधर से चित्तवृत्ति कभी नहीं छूटे। जीवन-काल में

जहाँ चित्तवृत्ति लगी रहेगी, मरने पर चित्त की वृत्ति लगानेवाला वहीं समा जाएगा॥१॥ ज्ञान की कथनी जबतक मैं कहता रहा, तबतक परमात्मा मुझसे दूर रहा। चित्तवृत्ति परमात्मा में लग गई, अब शास्त्र की बातों का कथन नहीं करता हूँ॥२॥ शरीर-रूप कमण्डल में पवित्र ज्योतिर्मय जल भर लिया है, पीते-पीते भी प्यास नहीं मिटती है। संत कबीर प्यासे ही रह जाते हैं। तात्पर्य यह कि परमात्म-ज्योति प्राप्त हो जाने पर भी परमात्म-दर्शन प्राप्त नहीं हो पाता है, अतएव प्यास नहीं उतरती है॥३॥ [इसीलिए ईशावास्योपनिषद् में कहा है–'हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्। तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥१५॥' अर्थात् आदित्य मण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन्! मुझ सत्य-धर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिए तू उसे हटा दे॥१५॥'] मन बाहर से उलट गया, अन्तर्मुख हो गया और आन्तरिक पवित्र धारा में मन डूबा, जहाँ मन को मल-मलकर उसकी मैल-मलिनताओं को दूर करके उस धारा में स्नान करने लगा। जिसकी थाह पाने का यत्न करने पर थाह नहीं मिले अर्थात् जिसका अन्त नहीं मिले, वह पूर्ण दयामय परमात्मा है॥४॥ शरीरस्थ स्वाभाविक शून्य में पिंगला और इड़ा (दायीं धार और बायीं धार) के मिलन-घाट पर चित्तवृत्ति लगनी चाहिए। कबीर साहब ने वहाँ रहने का अपना स्थान बना लिया है। मुनिजन इनका रास्ता ढूँढ़ते हैं॥५॥ जिस जंगल में सिंह नहीं चल सकता है और जहाँ चिड़िया उड़कर नहीं जा सकती है, जहाँ दिन और रात की गति नहीं, जो देशकालातीत पद है, वहाँ कबीर साहब सुरत को लगाते हैं॥६॥ प्रभु में चित्तवृत्ति या सुरत की लीनता को प्राप्त कर सको, तो उसे प्राप्त करके स्थिर रहो, उसको लेने के वास्ते कहीं मत जाओ। हे प्रभु! जो तुम्हारा नाम-भजन करते-करते तुममें लवलीन होकर डूबता है, वह तुम्हें प्राप्त करके संसार-सागर को तर जाता है॥७॥ प्रभु में चित्तवृत्ति जिसकी लगती है, उसको सांसारिक विषय में चैन नहीं पड़ता। शरीर और अहंता को वह त्याग देता है। उसकी आत्मा अमृत पीती है, उसका प्रेम परमात्म-गुरु से जुट जाता है अर्थात् लग जाता है॥८॥ आरम्भिक अनुराग में जिस तरह लौ लगती है, उसी तरह यदि अन्त तक लौ रह जाय, तो केवल अपना ही क्या हिसाब है, वह तो करोड़ों को तार सकता है॥९॥ अजी! लागी-लागी क्या करते हो अर्थात् चित्तवृत्ति को प्रभु में लगाने के बारे में क्या पूछते

हो? यह तो बहुत बुरी आफत या आपदा है। लागी उसीको कहते हैं, जो संसार-समुद्र के इस पार से उस पार तक पहुँच जाय॥१०॥

॥ मूल पद्य ॥

उनमुनि चढ़ी अकास को, गई धरनि से छूटि।
हंस चला घर आपने, काल रहा सिर कूटि ॥१६॥
उनमुनि सों मन लागिया, गगनहिं पहुँचा जाय।
चाँद बिहूना चाँदना, अलख निरंजन राय ॥१७॥
मेरी मिटी मुक्ता भया, पाया अगम निवास।
अब मेरे दूजा नहीं, एक तुम्हारी आस ॥१८॥
सुरति समानी निरत में, अजपा माहीं जाप।
लेख समाना अलेख में, आपा माहीं आप ॥१९॥
सुरति समानी निरत में, निरति रही निरधार।
सुरत निरत परिचय भया, तब खुला सिन्धु का दुवार ॥२०॥

पद्यार्थ—ध्यान-योग के अभ्यास से मन के संकल्प-विकल्पों को त्यागकर सुरत आकाश पर चढ़ गई और स्थूल शरीर-रूपी धरती से छूट गई। उस पवित्र सुरत—हंस ने अपने घर सच्चिदानन्द-पद (सत्य लोक) की ओर चल दिया और संसार-चक्र में रखनेवाले असुर भाव (काल पुरुष) सिर पीटता हुआ—दुःखी होता हुआ रह गया॥१६॥ मन उन्मनी से लगा, गगन में जाकर पहुँच गया, जहाँ चाँद के बिना चाँदनी में अलख-निरंजन राय विराजते हैं॥१७॥ सांसारिक चीजों से 'मेरी' भाव (आसक्ति) को मिटाकर मोती—शुद्ध-पवित्र-चमकदार बन गया और बुद्धि की पहुँच से ऊपर के पद को प्राप्त किया। अब मुझको दूसरे की आशा नहीं है; हे प्रभु! एक तुम्हारी ही आशा है॥१८॥ सुरत अत्यन्त संलग्नता में समा गई और अजपा के अन्दर ही जप होने लग गया, अणु विभु में समा गया और आत्मा में ही आत्मा हो गई॥१९॥ सुरत अत्यन्त संलग्नता में समा गई, विशेष संलग्नता ठहरी रही। (साधक को) सुरत की विशेष संलग्नता की पहचान हुई, तब समुद्र का—सतलोक का द्वार खुल गया॥२०॥

॥ मूल पद्य ॥

भाइ रे नयन रसिक जो जागे।
पारब्रह्म अविगत अविनासी, कैसहुँ के मन लावै ॥
अमली लोग खुमारी तृष्णा, कतहुँ सन्तोष न पावै।
काम क्रोध दोनों मतवाले, माया भरि भरि आवै ॥
ब्रह्म-कलाल चढ़ाइन भाठी, लै इन्द्री रस चावै।
संगहि पोच जु ज्ञान पुकारे, चतुरा होइ सु पावै ॥
संकर सोच पोच यह कलि महँ, बहुतक व्याधि सरीरा।
जहाँ धीर-गम्भीर अति निश्चल, तहँ उठि मिलहु कबीरा ॥

पद्यार्थ–अरे भाई! जो दृष्टियोग-संबंधी रस का रसिक है, वह जगता है। सर्वव्यापी, अविनाशी पारब्रह्म में किसी तरह मन की लौ लगाता है॥ माया-मद में रहनेवाले लोगों को तृष्णा की खुमारी होती है, वे कहीं भी संतोष नहीं पाते हैं। काम-क्रोध दोनों मतवालों में माया भर-भर आती है॥ ब्रह्म-रस चुलानेवाले ब्रह्म-कलाल भट्ठी पर इन्द्रियों को चढ़ाते हैं और उनका रस चुवा लेते हैं। तात्पर्य यह है कि दृष्टियोग का अभ्यास ब्रह्म-कलाल है, वह विचार और साधन-रूप भट्ठी पर इन्द्रियों को चढ़ाते हैं। इन्द्रियों की चेतन-धारा शिवनेत्र में खिंचकर केन्द्रित होती है, तब वह ब्रह्म-कलाल केन्द्रित इन्द्रिय-चेतन-धारा-रस को प्राप्त करता है। तब उस अभ्यासी का मन, जो नीच था, ज्ञान की पुकार करने लगता है अर्थात् ज्ञान में रहकर ज्ञान का प्रचार करता है। जो कोई चतुर होते हैं, वे उपर्युक्त रस और ज्ञानमय मन पाते हैं॥ इस कलिकाल में दुःख-सुख, हानि-लाभ, शत्रु-मित्र आदि दो भेदों के मिलाप की नीच चिन्ता में लोग रहते हैं और उनके शरीर में भी बहुत व्याधियाँ रहती हैं। इसलिए कबीर साहब कहते हैं कि जहाँ धीर, गम्भीर और अति निश्चल पारब्रह्म अविगत अविनाशी है, वहाँ आरोहण कर उनसे मिलो॥

॥ मूल पद्य ॥

संतो जागत नींद न कीजै।
काल न खाय कल्प नहिं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै ॥१॥
उलटि गंग समुद्रहिं सोखै, ससि और सुरहिं ग्रासै।
नव ग्रह मारि रोगिया बैठे, जल महँ बिम्ब प्रकासै ॥२॥

बिनु चरनन को चहुँ दिसि धावै, बिनु लोचन जग सूझै।
ससकहिं उलटि सिंह को ग्रासै, ई अचरज को बूझै ॥३॥
औंधे घड़ा नहीं जल बूड़ै, सूधे सों जल भरिया।
जिहि कारन नर भिन्न-भिन्न करै, गुरू परसादे तरिया ॥४॥
पैठि गुफा महँ सब जग देखै, बाहर कुछ नहिं सूझै।
उलटा बान पारिधिहि लागै, सूरा होय सो बूझै ॥५॥
गायन कहै कबहुँ नहिं गावै, अनबोला नित गावै।
नटवत बाजा पेखनि पेखै, अनहद हेत बढ़ावै ॥६॥
कथनी वन्दनि निज कै जोहै, ई सब अकथ कहानी।
धरती उलटि अकासहिं बेधै, ई पुरुषन की बानी ॥७॥
बिना पियालेहिं अमृत अँचवै, नदी नीर भरि राखै।
कहहि कबीर सो युग-युग जीवै, राम सुधा-रस चाखै ॥८॥

अर्थ—हे संतो! जाग्रत अवस्था में रहते हुए सो मत जाओ—अचेत मत बने रहो—केवल आधिभौतिक की ओर मत लगे रहो। आध्यात्मिक की ओर होओ (अध्यात्म-ज्ञान-विचार तथा तुरीय अवस्था में प्रवेश करने के साधन-द्वारा आध्यात्मिकता की ओर हुआ जाता है। अर्थात् जाग्रत-नींद को छोड़कर जगा जाता है। इसके लिए दृष्टियोग-अभ्यास-द्वारा एकविन्दुता प्राप्त करनी अत्यन्त अपेक्षित है।)।

'जन्म जन्म तोहि सोवत बीते, अजहुँ न जाग सबेरे।'

—कबीर साहब

'माया मुख जागे सभे, सो सूता कर जान।
दरिया जागे ब्रह्म दिसि, सो जागा परमान॥'

—दरिया साहब, मारवाड़ी

मोह निसा सब सोवनिहारा। देखइ सपन अनेक प्रकारा॥
एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच बियोगी॥

—गोस्वामी तुलसीदासजी

जाग्रत-नींद को छोड़ने से तुम उस स्वरूप को प्राप्त होओगे, जिसको काल नहीं खाता है। कल्प (ब्रह्मा का एक दिन वा एक रात—चौदह मन्वन्तर वा चार अरब बत्तीस करोड़ वर्ष बीतने पर) के प्रलय का कष्ट तुमको नहीं व्यापेगा और तुम्हारी उस देह—चिन्मय शरीर को

बुढ़ापा नष्ट नहीं करेगा॥१॥ शरीरस्थ बहती हुई पवित्र चेतन धारा (सुरत) बहिर्मुख से उलटकर अन्तर्मुख हो माया-समुद्र को सोख ले और शशि–इड़ा–इंगला–बायीं धारा तथा सूर–सूर्य–पिंगला–दायीं धारा; दोनों को वह ग्रस ले अर्थात् दोनों वृत्तियों का दो नहीं रहने देकर, एक कर सुषुम्ना में लय कर दे। जीवत्व दशा को प्राप्त हुआ रोगी जीवात्मा आँख के दो, कान के दो, नाक के दो, मुँह का एक, गुदा का एक और उपस्थ का एक; इन नवो द्वारों में बरतता हुआ सुरत या चेतन की धाराओं को अन्तर्मुख सिमटाव के साधन से मारकर अर्थात् वश में करके बैठता है अर्थात् स्थिर हो जाता है, तो अत्यन्त स्वच्छ जल-रूप आन्तरिक ज्योति में चेतन आत्मा की प्रतिमूर्त्ति प्रकाशित होती है॥२॥ बिना पैर के ही दसो दिशाओं में द्रुतगति से चलता है। आँख के बिना ही सारा विश्व उसको सूझता है। निर्बल पशु खरहा-रूप घटस्थ जीवात्मा ही बहिर्मुख से अन्तर्मुख उलटकर सिंह-रूप मन को ग्रस लेता है अर्थात् काबू में कर लेता है। इस आश्चर्य को वह बूझता है॥३॥ औंधा घड़ा–जिस घड़े का मुख नीचे की ओर है, उसके सदृश जो सुरत बाह्य विषयों की ओर बाह्य इन्द्रियों के द्वारा रहकर अधोमुखी है, वह चेतनमय जल में डूबकर उससे नहीं भर जाती है; परन्तु जो सुरत इससे विपरीत होती है, उलटकर सीधी हो जाती है अर्थात् जिसका मुख (रुख) ऊपर हो जाता है, वह चेतन-जल से भर जाती है। जिस अज्ञानता और माया के कारण मनुष्य एकात्म भाव नहीं, बल्कि भिन्न-भिन्न भावों में रहकर काम करता है, उस अज्ञानता और माया को वह गुरु की कृपा से तर जाता है॥४॥ जो अपने अन्तर-रूप गुफा में पैठता है, वह सारे विश्व को देखता है। इस देखने की बराबरी में बाहर में कुछ नहीं सूझता है। अपने को बहिर्मुख से उलटकर अपने अन्दर की ओर प्रवेश करनेवाला अपने अन्दर में शब्द-वाण[१] मारता है। इस बात को अन्तर-साधन का शूरमा साधक जो होता है, सो बूझता है॥५॥ गायक तो गान करता है; परन्तु कभी नहीं गाता है और जो

१. किसी के द्वारा फेंका हुआ साधारण वाण फेंकनेवाले को नहीं लगकर उसके सम्मुख बाहर जाता है; परन्तु अन्तर-ग्राह्य आन्तरिक ध्वन्यात्मक शब्द-वाण अपने आकर्षण-द्वारा सुरत को अन्तर के अन्त तक खींच लाता है, बाहर की ओर धक्का नहीं देता है। इसलिए साधारण वाण के गुण के विपरीत इसका गुण होता है और यह शब्द 'उलटा वाण' कहलाता है।

बोलता नहीं है, वह प्रतिदिन गाता है। भाव यह है कि मुँह से गानेवाले गायन या गायक उस स्वर में नहीं गा सकते, जिस स्वर की अनुभूति सुरत-शब्द-योग के अभ्यासी को होती है। जो चुपके बैठा रहता है, पर आन्तरिक अलौकिक स्वर की अनहद ध्वनियों की अनुभूतियों में तल्लीन रहता है, वह नट के बाजे और खेल के सदृश खेल देखता है अर्थात् जैसे नट खेल करता है, बाजा बजाता है और गाना गाता है, उसी तरह वह अभ्यासी अपने अन्दर में अनहद नादों के बाजों में रहते हुए विविध प्रकार की ज्योतियों[२] का खेल देखता है, जो उस साधक के अनहद-ध्यानाभ्यास-संबंधी अनुराग[३] को अधिक बढ़ाता है॥६॥ कहने की बात यह है कि अपने को खोजो[४] उपर्युक्त बातें कहनेयोग्य बातें नहीं हैं। पिण्ड में फँसी हुई सुरत मिट्टी के समान स्थूलता और अज्ञानता के भाव को ग्रहण किये हुई है। वह बहिर्मुख से अन्तर्मुख, नौ द्वारों से दसवें द्वार, पिण्ड से ब्रह्माण्ड और स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर उलटकर आकाश को बेधती है अर्थात् अंधकारमय स्थूलाकाश को पार करती है, साधनशील पुरुषों के ये वचन हैं॥७॥ वह साधक बिना कटोरे का अमृत पीता है और उस चैतन्य अमृत-जल से अपनी साधनामयी नदी को भरकर रखता है। कबीर साहब कहते हैं कि वह साधक भक्त अनन्त जीवन में रहकर सर्वेश्वर राम की प्राप्ति-संबंधी अमृतरस चखता है॥८॥

॥ मूल पद्य ॥

ये ततु राम जपहु रे प्रानी, तुम बूझहु अकथ कहानी।
जाको भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी॥

---

२. सत सुरत समझि सिहार साधौ, निरखि नित नैनन रहौ॥
धुनि धधक धीर गम्भीर मुरली, मरम मन मारग गहौ॥
सम सील लील अपील पेलै, खैल खुलि खुलि लखि परै॥
नित नेम प्रेम पियार पिउ कर, सुरति सजि पल-पल भरै॥
—संत तुलसी साहब, हाथरस

३. यह अपने अन्दर की बात है, बाहर की नहीं।

४. 'भजन में होत आनन्द आनन्द।
बरसत बिसद अमी के बादर, भींजत है कोइ संत॥
अगर बास तहँ तत की नदिया, मानो धारा गंग……॥
—संत कबीर साहब (कबीर-शब्दावली)

डाइनि डारे सुनहा डोरे, सिंघ रहे बन घेरे।
पाँच कुटुम मिलि जूझन लागे, बाजत बाजु घनेरे॥
रोहु मृगा संसे बन हाँके, पारथ बाना मेलै।
सायर जरै सकल बन डाहै, मछ अहेरा खेलै॥
कहहि कबीर सुनो हो संतो, जो यह पद अरथावै।
जो यहि पद को गाय विचारै, आप तरै औ तारै॥१९॥

शब्दार्थ–रोहु=आखेट में सहायता देनेवाला व्यक्ति विशेष (बीजक के साथ में लगा हुआ कोश–कबीर-ग्रंथ-प्रकाशन-समिति, हरक, जिला–बाराबंकी)। मछ=मछली पानी की उलटी धारा पर भाठे से सिरे की ओर चढ़ती है। इसी तरह सुरत-शब्द-योग के अभ्यासी की सुरत, शब्द की धारा के द्वारा नीचे से ऊपर को चढ़ती है। इसलिए शब्द-धार पर चढ़नेवाली सुरत 'मछ' है।

पद्यार्थ–रे प्राणी! तुम राम को जपो, यह सार (वस्तु) है और तुम अकथ कहानी को बूझो। जिसको ईश्वर से प्रेम होता है, वह दिन-रात जगता रहता है। तात्पर्य यह कि ईश्वर का प्रेमी ईश्वर-भजन में दिन-रात संलग्न रहता है॥ विषय-लोलुप प्राणी-रूप कुत्ते को गले में डोरी डालकर माया पकड़े हुई है। मन-रूप सिंह रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द विषय-रूप जंगल से घिरा हुआ रहता है। स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण और कैवल्य; पाँच मण्डलों के केन्द्रीय शब्द-रूप कुटुम्ब से मिलकर सुरत उन (मन-माया) से लड़ने लगती है, तो बहुत-से बाजे बजते हैं। तात्पर्य यह कि सुरत-शब्द-योग-अभ्यास में उपर्युक्त पाँचो मंडलों के केन्द्रीय शब्दों के अतिरिक्त उन मंडलों में और भी बहुत-सी ध्वनियाँ जो होती रहती हैं, अभ्यासी को उनकी भी अनुभूति होती रहती है॥ आखेट या शिकार (साधन-भजन) में सहायक (गुरु) संशय-रूप मृगा को उपर्युक्त वन में हाँक देता है, जहाँ साधक–पारथ–पारधी–शिकारी भजन-साधन का तीर चलाता है। साधक के भजन-अभ्यास के तेजोमय अग्नि-वाण से संसार-समुद्र–आवागमन का चक्र जल जाता है और उपर्युक्त सम्पूर्ण वन को वह जला देता है अर्थात् पाँचो विषयों की आसक्ति को वह नष्ट कर देता है। तब संशय-मृगा-सहित मन-सिंह को वह मछली-सदृश शब्द की उलटी धारा पर चढ़कर शब्द के उद्‌गम

की ओर जानेवाला अभ्यासी पराजित कर जीत लेता है। कबीर साहब कहते हैं कि हे संतगण! जो इस पद्य का अर्थ करता है (सुलझाता है), वह अपने तरता है और दूसरे को भी तारता है॥१९॥

॥ मूल पद्य ॥

संतो कहौं तो को पतिआई। झूठ कहत साँच बनि आई ॥१॥
लौके रतन अबेध अमोलिक। नहिं गाहक नहिं साईं ॥२॥
चिमिकि चिमिकि चमके दृग दहूँ दिसि। अर्ब रहा छिरिआई ॥३॥
आपेहिं गुरु कृपा कछु कीन्हों। निर्गुन अलख लखाई ॥४॥
सहज समाधि उनमुनि जागे। सहज मिले रघुराई ॥५॥
जहँ जहँ देखौं तहँ तहँ सोई। माणिक बेध्यो हीरा ॥६॥
परम तत्त्व गुरु हिं ते पायेउ। कहै उपदेस कबीरा ॥७॥

पद्यार्थ–हे संतो! भजन-साधन में अनुभूति-विषयक बातों को कहता हूँ, तो कौन विश्वास करता है? लोग तो उसे झूठ कहते हैं; परन्तु वह मुझको साँच बनकर उपस्थित है॥१॥ बिना बिंधा हुआ बहुमूल्य रत्न देखने में आता है। न उसका गाहक है और न उसका प्रभु है (उसका कोई खास मालिक नहीं है, जो लेनेवाले को उसे लेने से निवारण करे।)॥२॥ वह रत्न आँख के अन्दर दसो दिशाओं में अर्थात् सर्वत्र चमक-चमककर चमकता है और वह रत्न अर्ब–बहु संख्यक रूप में छिरयाया हुआ है॥३॥ स्वयं गुरु ने कुछ ऐसी कृपा की कि अलख निर्गुण ब्रह्म को लखा दिया॥४॥ उन्मुनी मुद्रा में जगने से सहज समाधि लगी और सहज ही ईश्वर मिले॥५॥ जहाँ-जहाँ देखता हूँ, तहाँ-तहाँ वही हैं। मानो माणिक हीरा से बेधा हुआ है अथवा सम्पूर्ण विश्व-रूप माणिक ईश्वर-रूप हीरा से बेधा हुआ है। सब संसार उस ईश्वर से गुँथा हुआ है॥६॥ यह सर्वोत्कृष्ट सार पदार्थ है, गुरु से ही प्राप्त किया है। यह उपदेश कबीर साहब कहते हैं॥७॥

॥ मूल पद्य ॥

संतो आवै जाय सो माया।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके•ना कहुँ गया न आया ॥१॥
क्या मकसूद मच्छ• कछ• होना, शंखासुर न संहारा।
है दयाल द्रोह नहिं वाको•, कहहु कौन को मारा ॥२॥

नहिं वै● कर्त्ता ब्राह● कहायो, धरणि धरो नहिं भारा ।
इ सब काम साहिब● के नाहीं, झूठ कहै संसारा ।।३।।
खम्भ फोरि जो बाहर होई, ताहि पतिज सब कोई ।
हिरनाकस नख उदर बिदारे*, सो नहिं कर्त्ता होई ।।४।।
बावन* ह्वै नहिं बलि को जाँच्यो, जो जाँचे सो माया।
बिना विवेक सकल जग भरमे, माया जग भरमाया ।।५।।
परसुराम* ह्वै छत्रि न मारा, ई छल माया कीन्हा ।
सतगुरु भक्ति भेद नहिं जान्यो, जीवन मिथ्या दीन्हा ।।६।।
सिरजनहार न ब्याही सीता, जल पषाण नहिं बन्धा ।
वै रघुनाथ* एक को सुमिरै, जो सुमिरै सो अंधा ।।७।।
गोपी ग्वाल* न गोकुल आयो, कर ते कंस न मारा ।
मेहरबान सबन के साहिब, नहिं जीता नहिं हारा ।। ।।
नहिं वै कर्त्ता बुद्ध* कहायो, नहिं असुरन को मारा ।
ज्ञानहीन करता सब भरमे, माया जग संहारा ।।९।।
नहिं वै कर्त्ता भये कलंकी*, नहीं कलिंगहि मारा ।
ई छल-बल सब माया कीन्हा, यत्त सत्त सब टारा ।।१०।।
दस अवतार ईश्वरी माया, कर्त्ता कै जिन पूजा ।
कहहि कबीर सुनो हो सन्तो, उपजै खपै सो दूजा ।।११।।

टिप्पणी–ग्यारह पदवाले इन समस्त शब्दों का अर्थ सरल है। सर्वसाधारण की समझ में आनेयोग्य है। ●चिह्नवाले सब शब्दों में ईश्वर की स्थिति का बोध दृढ़ाया गया है। और *चिह्न के शब्द से विदित किया गया है कि दस अवतारों से भिन्न दूसरे कोई हैं, जो मायातीत सर्वेश्वर हैं।

अवतारवाद-विषयक कबीर साहब के उपर्युक्त ख्याल में और अध्यात्म-रामायण, प्रथम सर्ग की 'राम-हृदय-गीता, शिव-पार्वती-संवाद' में एक मेल-सा ज्ञात होता है–

'अथ राम-हृदय-गीता, शिव-पार्वती-संवाद' श्लोक-संख्या ३२ से ४४ तक पण्डित रामेश्वर भट्ट-कृत टीका से उद्धृत–

"सीताजी बोलीं–(हे हनुमान!) तुम रामजी को परब्रह्म सच्चिदानन्द, द्वैत-रहित, सम्पूर्ण (स्थूल-सूक्ष्म) उपाधियों से रहित,

सत्ता मात्र कहिए, वस्तु मात्र के व्यवहार को चलानेवाले, मन-वाणी के विषय से परे, आनन्द-स्वरूप, निर्मल, शांत, निर्विकार, निरंजन अर्थात् मायाकृत अज्ञान-रहित, सर्वव्यापी, स्वयंप्रकाश और पाप-रहित परमात्मा जानो (॥३२-३३॥) और (हे हनुमान!) मुझे उत्पन्न, पालन और नाश करनेवाली मूल प्रकृति जानो, उन रामजी के समीप-मात्र होने से मैं आलस्य-रहित होकर इस संसार को रचती हूँ॥३४॥ और उस परमात्मा के समीप-मात्र होने से मेरे रचे हुए जगत् को अज्ञानी लोग उसे परमात्मा में आरोपण करते हैं। उसी परमात्मा का जन्म अयोध्या नगरी में अत्यन्त निर्मल वंश में होना (॥३५॥), विश्वामित्र की सहायता करना, उनके यज्ञ की रक्षा करना, अहल्या का शाप दूर करना, शिवजी का धनुष भंग करना (॥३६॥), फिर मेरे साथ विवाह करना, परशुरामजी का गर्व तोड़ना, फिर अयोध्या में मेरे साथ बारह वर्ष रहना (॥३७॥), फिर दण्डकारण्य में जाना, विराध का मारना, माया-रूपी मारीच का वध करना और माया की सीता का हरण होना (॥३८॥), जटायु का मोक्ष-लाभ होना, कबन्ध को पाप से छुटाना, शवरी का पूजन ग्रहण करना और फिर सुग्रीव से समागम होना (॥३९॥), फिर बालि का वध करना, सीता को ढुँढ़वाना, समुद्र पर पुल बँधवाना, फिर लंका पर चढ़ाई करना (॥४०॥), फिर युद्ध में दुष्ट रावण को पुत्र-सहित मारना, विभीषण को राज्य देना, फिर पुष्पक विमान में बैठकर मेरे साथ (॥४१॥) अयोध्या को आना, फिर रामजी का गद्दी पर बैठना इत्यादि सब कर्म मेरे किये हैं (॥४२॥), उनको अज्ञानी जन इन निर्विकार परमात्मा रामजी में आरोपण करते हैं, वास्तव में रामजी न चलते हैं, न बैठते हैं, न शोक करते हैं, न कुछ चाहते हैं, न कुछ त्यागते हैं और न कुछ करते हैं। वे तो आनन्द की मूर्त्ति, अचल और परिणाम-रहित अर्थात् एकरस हैं। केवल माया के गुणों के कारण कर्म में प्रवृत्त दीखते हैं। (॥४४॥)" और–

'वाम भाग सोभित अनुकूला । आदि सक्ति छविनिधि जग मूला ॥
भृकुटि विलास जासु जग होई । राम वाम दिसि सीता सोई ॥
आदि सक्ति जेहि जग उपजाया । सोउ अवतरहिं मोरि यह माया ॥'

रामचरितमानस, बालकाण्ड में राजा स्वायम्भुव मनु और रानी की कथा के अभ्यन्तर की इन चौपाइयों में सीताजी को रामजी की माया

कहा गया है। अध्यात्म-रामायण में सीताजी अपने लिए उपर्युक्त बातें ही कहती हैं और संत कबीर साहब आने-जानेवाले पदार्थ को माया कहकर अवतारी रूपों को माया ही कहते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड में अवतार-विषयक विचार में यह भी कहते हैं–

'भगत हेतु भगवान प्रभु, राम धरेउ तनु भूप।
किये चरित पावन परम, प्राकृत नर अनुरूप॥'
'यथा अनेकन वेष धरि, नृत्य करइ नट कोइ।
सोइ सोइ भाव दिखावइ, आपुन होइ न सोइ॥'

॥ मूल पद्य ॥

संतो मते मातु जन रंगी।
पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सत्संगी ॥१॥
अरधे उरधे भाठी* रोपिन्ह, ब्रह्म अगिनि उदगारी।
मूदे मदन काटि कर्म कसमल, संतन चुवत अगारी ॥२॥

---

*दृष्टियोग से यह भट्ठी रोपी जाती है और यहाँ स्थिर रहते हुए अनुभूति में ब्रह्माग्नि और चूते हुए पीयूष-रस की प्रत्यक्षता होती है।

विद्वान् समग्रीवशिरो नासाग्रदृग्भ्रूमध्ये। शशभृद्बिम्बे पश्यन्नेत्राभ्याममृतं पिबेत् ॥

–शाण्डिल्योपनिषद्, अध्याय १

अर्थात् विद्वान गला और शिर को सीधा करके नासिका के आगे दृष्टि रखते हुए भ्रुवों के बीच में चन्द्रमा के बिम्ब को देखते हुए नेत्रों से अमृत का पान करें।

नासाग्रे शशभृद्बिम्बे विन्दुमध्ये तुरीयकम्।
स्रवन्तममृतं पश्येन्नेत्राभ्यां सुसमाहितः॥

–श्रीजाबालदर्शनोपनिषद्, खंड ५

अर्थात् नाक के आगे चन्द्र-बिम्ब-विन्दु के मध्य में उस तुरीय और चूते हुए अमृत को अच्छी तरह समाधिस्थ होकर आँखों से देखे।

सत सुरत समझि सिहार साधौ, निरखि नित नैनन रहौ।
धुनि धधक धीर गम्भीर मुरली, मरम मन मारग गहौ॥
सम सील लील अपील पेलै, खेल खुलि खुलि लखि पड़ै।
नित नेम प्रेम पियार पिउ कर, सुरति सजि पल पल भरै॥

–संत तुलसी साहब, हाथरस

***तत्र लब्धपदं चित्तमाकृष्य व्योम्नि धारयेत्।**
तच्च त्यक्त्वा मदारोहो न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥

–श्रीमद्भागवत पुराण, स्कन्द ११, अध्याय १४

गोरख दत्त वशिष्ट व्यास कपि, नारद सुक मुनि जोरी ।
सभा बैठि संभु सनकादिक, तहाँ फिरे अधर कटोरी ।।३।।*
अंबरीष और जाग जनक जड़, सेस सहस मुख पाना ।
कहँ लौं गनौं अनन्त कोटि लौं, अमहल महल दिवाना ।।४।।
ध्रू प्रहलाद भभीषण माते, माती सबरी नारी ।
सगुन ब्रह्म माते बींद्रावन, अजहु लागु खुमारी ।।५।।
सुर नर मुनि जति पीर औलिया, जिन्ह रे पिया तिन्ह जाना ।
कहहि कबीर गूँगे की सक्कर, क्यों करि करै बखाना ।।६।।

पद्यार्थ–हे संतगण! धर्म में मस्त होकर भक्तगण अपने रँग जाते हैं और दूसरों को भी रँगा देते हैं। वे प्रेम के अमृत-रस का प्याला पीते-पीते मस्त सत्संगी बन जाते हैं।।१।। वे ऊपर के आधे (आज्ञाचक्र के नीचे के आधे भाग को छोड़कर उसके ऊपर के आधे भाग) में

अर्थात् (मुखारविन्द में) चित्त के स्थिर हो जाने पर उसे वहाँ से हटाकर आकाश में स्थिर करे। तदनन्तर उसको भी त्यागकर मेरे शुद्ध स्वरूप में आरूढ़ हो और कुछ भी चिन्तन न करे।

न ध्यानं ध्यानमित्याहुर्ध्यानं शून्यगतं मनः।
तस्य ध्यानप्रसादेन सौख्यं मोक्षं न संशयः।।

–ज्ञान-संकलिनी तन्त्र

अर्थात् ध्यान को ध्यान नहीं कहते हैं, शून्यगत मन को ही ध्यान कहते हैं। उसी ध्यान की प्रीति के द्वारा ही सुख और मोक्ष लाभ होते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

'शून्य ध्यान सबके मन माना। तुम बैठो आतम असथाना।।'

–संत कबीर साहब

'गगनि निवासि आसणु जिसु होई। नानक कहे उदासी सोई।।'

–गुरु नानक (प्राण-संगली, भाग १)

स्त्रुति ठहरानी रहे अकासा। तिल खिड़की में निस दिन बासा।।'

–संत तुलसी साहब, हाथरस

'इक पहर एकान्त ह्वै के सुन्न ध्यान लगावनं।'

–संत पलटू साहब

सुनके मंदिल में अनहद के धमक, दामिन में दोमिल में बिजुली की छटक।'

–संत शिवनारायण स्वामी

भेदी गुरु से युक्ति पाकर अभ्यास करने पर निज अनुभूति प्राप्त कर इन सब पद्यों का मेल 'अधर-कटोरी' से मिल जाता है।

भट्ठी स्थापित करते हैं। वीर्य-रक्षा पूर्णरूपेण कर ब्रह्माग्नि प्रकाशित करके पाप कर्म काट डालते हैं। उनके आगे में वह प्रेम-सुधा-रस चूता रहता है॥२॥ गोरख, दत्तात्रेय, वशिष्ठ, व्यास, हनुमान, नारद, शुकदेव मुनि, शम्भु (महादेवजी) और सनकादिक (सनक, सनन्दन, सनत्कुमार और सनातन) जहाँ सभा जोड़कर बैठते हैं, वहाँ प्रेम-सुधा-रस की अधर कटोरी फिरती रहती है। अर्थात् ये सब भक्त योगिगण अधर (शून्य)-ध्यान में प्राप्त प्रेममय ब्रह्म-पीयूष-रस का पान करते हैं॥३॥ अम्बरीष, याज्ञवल्क्य, जनक, जड़ भरत और हजार मुखवाले शेषनाग इस कटोरी का रस पीते हैं। कहाँ तक गिनें, ऐसे अगणित कोटि हैं, जो बिना घर के मस्त हैं अर्थात् शरीरातीत होकर रहते हुए मस्त हैं॥४॥ ध्रुव, प्रह्लाद, विभीषण और शवरी उक्त रस को पीकर मस्त थे। वृन्दावन के सगुण ब्रह्म (श्रीकृष्ण) इस रस के पान से ऐसे मस्त हैं, जो अब भी उनकी मादकता नहीं उतरी है॥५॥ देवता, मनुष्य, मुनि, यति, पीर और औलिया, जिन्होंने इस रस को पिया, वे इस रस के पान की मस्ती को जानते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि जैसे गूँगा शक्कर का स्वाद नहीं बता सकता, उसी तरह अधर-कटोरी के रस को पान कर उसके स्वाद का कोई वर्णन नहीं कर सकता॥६॥

॥ मूल पद्य ॥

अबधू छाड़हु मन विस्तारा।
सो गहहु जाहि ते सदगति, पारब्रह्म तें न्यारा॥१॥
नहीं महादेव नहीं महम्मद, हरि हजरत तब नाहीं।
आदम ब्रह्मा नहिं तब होते, नहीं धूप औ छाहीं॥२॥
असी सहस पैगम्बर नाहीं, सहस अठासी मूनी।
चाँद सूर्य तारागन नाहीं, मच्छ कच्छ नहिं दूनी॥३॥
वेद कितेब सुम्रिति नहिं संजम, नहीं जवन परसाही।
बंग निमाज न कलमा होते, रामौ नाहिं खोदाई॥४॥
आदि अन्त मन मध न होते, आतस पौन न पानी।
लख चौरासी जीव न होते, साखी सब्द न बानी॥५॥
कहहिं कबीर सुनहु हो अवधू, आगे करहु विचारा।
पूरन ब्रह्म कहाँ ते प्रगटे, किरतम किन उपराजा॥६॥

पद्यार्थ–हे अबुद्धगण अथवा अवधूतगण! मन का विस्तार अर्थात् मन की पहुँच जहाँ तक है, वहाँ तक का त्याग करो। उस पद को ग्रहण करो, जिससे सद्‌गति होती है, जो पारब्रह्म से भी परे का पद है। (जड़ प्रकृति मण्डल–अपरा प्रकृति मंडल में व्यापक आत्मतत्त्व को पूरण ब्रह्म वा पूर्ण ब्रह्म और चेतनात्मिका परा प्रकृति मंडल में व्यापक आत्मतत्त्व को पारब्रह्म कहते हैं) तात्पर्य यह कि क्षर पुरुष–असत् पद और अक्षर पुरुष–सत् पद से न्यारे पद को ग्रहण करो, जिससे सद्‌गति होगी। यही पारब्रह्म से न्यारा पद अनाम, शब्दातीत–पुरुषोत्तम पद है॥१॥ तब महादेव, मुहम्मद, हरि-विष्णु, हजरत अर्थात् महापुरुष नहीं थे, आदम और ब्रह्मा नहीं थे, धूप और छाँह नहीं थी॥२॥ अस्सी हजार पैगम्बर और अठासी हजार मुनि, सूर्य, चन्द्र और तारेगण, मच्छ और कच्छ और संसार नहीं था॥३॥ वेद, कितेब या कुरान, स्मृति-संयम नहीं थे। मुसलमानी बादशाही नहीं थी; बाँग, नमाज, कलमा नहीं थे; अवतारी पुरुष राम भी ईश्वर नहीं कहलाते थे॥४॥ आदि, मध्य और अन्त (वाला प्रकृति फैलाव) और मन नहीं था; अग्नि, हवा और पानी नहीं था; चौरासी लाख जीव-योनियाँ नहीं थीं। साखी, शब्द और अन्य शब्द नहीं थे॥५॥ कबीर साहब कहते हैं कि हे अवधू! सुनो, सबसे आगे का विचार करो, पूर्ण ब्रह्म कहाँ से प्रकट हुए और बनावटी संसार को किनने उत्पन्न किया है, सो विचार करो॥६॥

टिप्पणी–इस शब्द से यह नहीं विदित होता है कि मन की गति के परे पूर्ण ब्रह्म, पारब्रह्म, महादेव, मुहम्मद, हरि, आदम, पैगम्बर, मुनि और सारे संसार के पसार से परे सर्वेश्वर की स्थिति नहीं है, बल्कि यह कहा गया है कि पारब्रह्म से न्यारा कोई सर्वोपरि पद है, जिसको पकड़ने से सद्‌गति–मोक्ष होगा, उसको पकड़ो। कबीर साहब के इस शब्द को पढ़कर कोई-कोई कहते हैं कि कबीर साहब ने इस पद में अनीश्वरवाद को दृढ़ाया है; किन्तु मेरे विचार से ऐसा ख्याल भूल है।

॥ मूल पद्य ॥

चुअत अमीरस भरत ताल, जहाँ शब्द उठे असमानी हो।
सरिता उमड़ि सिन्धु को सोखै, नहिं कुछ जाय बखानी हो॥
चाँद सूरज तारागन नहिं वाँ, नहिं वहाँ रैनि बिहानी हो॥ १॥

बाजे बाजैं सितार बाँसुरी, ररंकार मृदुवाणी हो।
कोटि झिलमिली जहँ वहाँ झलकैं, बिन जल बरसत पानी हो ॥ २॥
सिव अज विष्णु सुरेस सारदा, निज निज मति अनुमानी हो ।
दस अवतार एक तत्त्व राचे, स्तुति सहज सुहानी हो ॥ ३॥
कहै कबीर भेद की बातें, बिरला कोई पहचानी हो ।
कर पहिचान फेर नहिं आवै, जम जुल्मी की खानी हो ॥ ४॥

भावार्थ–जहाँ अन्तराकाश में ध्वनि (अनहद-नाद) प्रकट होती है, वहाँ चेतन यानी ज्योति की वर्षा होती है तथा आज्ञाचक्र-केन्द्र-रूप कुण्ड या तालाब भरता है। जो सुरत-रूप नदी ज्योति और नाद की उपासना में लगती है, वह स्थूल वा पिण्ड में से उमड़कर ऊपर उठती है, ब्रह्माण्ड वा सूक्ष्म में बढ़ चलती है और मायामय समुद्र को सोखती है। यह ऐसी लीला है, जो वर्णन करने में नहीं आती। वहाँ चाँद नहीं है, सूर्य नहीं है, तारे भी वहाँ नहीं हैं और वहाँ रात एवं प्रात भी नहीं होते हैं।।१।। सितार-बाँसुरी के कोमल स्वर में ररंकार-ध्वनि बजती रहती है। करोड़ों झिलमिली ज्योति की झलक पानी-वर्षा की तरह झलकती हुई बिना पानी के बरसती है।।२।। शिव, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र और सरस्वती ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुकूल अनुमान किया है। दस अवतार एक-ही-एक (आत्म) तत्त्व में रत हैं। उनकी स्वाभाविक स्तुति सुहावनी लगती है।।३।। कबीर साहब कहते हैं कि (अन्तर-साधन के) रहस्य की बातों को अल्पसंख्यक लोग ही पहचानते हैं। जो पहचानते हैं, वे रहस्य को पहचान अत्याचारी यम की खान (आवागमन) में नहीं लौटकर आते हैं।।४।।

॥ मूलपद्य ॥

अरे दिल गाफिल गफलत मत कर, एक दिन जम तेरे आवेगा रे ॥
सौदा करन को या जग आया, पूँजी लाया मूल गँवाया ।
प्रेम नगर का अन्त न पाया, ज्यों आया त्यों जावेगा रे ॥ १॥
सुन मेरे साजन सुन मेरे मीता, या जीवन में क्या-क्या कीता ।
सिर पाहन का बोझा लीता, आगे कौन छुड़ावेगा रे ॥ २॥
परली पार तेरा मीता खड़िया, उस मिलने का ध्यान न धरयिा ।
टूटी नाव ऊपर जा बैठा, गाफिल गोता खावेगा रे ॥ ३॥

दास कबीर कहै समुझाई, अन्तकाल तेरो कौन सहाई।
चला अकेला संग न कोई, किया आपना पावेगा रे॥४॥

पद्यार्थ—अरे असावधान मन! असावधानी मत कर। एक दिन तेरा यम आवेगा अर्थात् तेरी मौत होगी॥ इस संसार में कुछ लेने आया था; परन्तु जिस पूँजी से वह लेता, उस मनुष्य-शरीर-रूप मूल पूँजी को ही गँवा दिया और परमात्म-पद-रूप प्रेमनगर का मर्म नहीं पाया। जैसे खाली हाथ आया, वैसे ही खाली हाथ चला जायगा॥१॥ मेरे सज्जन! मेरे मित्र! सुनो, तूने इस जीवन में क्या-क्या किया है? सिर पर जड़ता का बोझ ले लिया। शरीर-जीवन के बाद इस जड़ता (अज्ञान-दशा) से तुझको कौन छुड़ावेगा?॥२॥ भव-सागर के दूसरे किनारे पर तेरा मित्र विद्यमान है, उससे मिलने का तूने ध्यान नहीं किया। टूटी नाव (जिस कर्म-धर्म से संसार-सागर को नहीं तरा जा सकता) के ऊपर जाकर बैठ गया है, हे असावधान! डूब जाएगा॥३॥ कबीर दासजी समझाकर कहते हैं कि अन्त समय में अर्थात् मृत्युकाल में तुझको कौन सहायता देगा? अकेला चल पड़ेगा, कोई भी संग में नहीं रहेगा, अपने कर्मों का फल पावेगा॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

मन तू थकत थकत थकि जाई।
बिन थाके तेरे काज न सरिहैं, फिर पाछे पछिताई॥१॥
जब लग तोकर जीव रहतु है, तब लग परदा भाई।
टूटि जाय ओट तिनुका की, रसक रहै ठहराई॥२॥
सकल तेज तज होय नपुंसक, यहि मति सुन ले मेरी।
जीवत मृतक दसा विचारै, पावै वस्तु घनेरी॥३॥
याके परे और कछु नाहीं, यह मति सबसे पूरा।
कहै कबीर मार मन चंचल, हो रहु जैसे धूरा॥४॥

अर्थ—हे मन! तू निदिध्यासन करते-करते थकते-थकते थक जाएगा—तेरा चलना बन्द हो जाएगा—तेरी चंचलता छूट जाएगी। बिना थके तेरा काम नहीं बनेगा, जिसके बिना तू फिर पछताएगा॥१॥ जबतक तेरे वश में जीव रहता है, तभी तक ईश्वर और जीव के बीच में परदा रहता है—माया का आवरण रहता है। यह पट्टी या आवरण टूट जाय, तो सूक्ष्म माया मण्डल में ही लसककर ठहरा हुआ रहेगा

अर्थात् तेरा संकल्प-विकल्प छूट जाएगा और तू विलीन हो जाएगा॥२॥ सांसारिक तभी तेजों को छोड़कर उस ओर नपुंसक–शक्तिहीन हो जा, यह मेरी बुद्धि की बात सुन ले। जीवन-काल में मृतक-दशा का विचारकर रहेगा अर्थात् इन्द्रियों की गति को बाहर के विषयों की ओर से समेटकर रहेगा, तो पारमार्थिक बहुत पदार्थ पाएगा॥३॥ इसके आगे और कुछ नहीं है, यह बुद्धि दूसरी सब बुद्धियों से विशेष पूर्ण है। कबीर साहब कहते हैं कि चंचल मन को मार अर्थात् इसको संकल्प-विकल्प-विहीन कर और जैसे पैर-तले की धूल रहती है, उसी तरह अर्थात् घमण्ड छोड़कर रह॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

ऐसी बानी बोलिये, मन का आपा खोय।
औरन को सीतल करै, आपहु सीतल होय॥
जग में बैरी कोइ नहीं, जो मन सीतल होय।
या आपा को डारि दे, दया करै सब कोय॥
हस्ती चढ़िये ज्ञान की, सहज दुलीचा डारि।
स्वान रूप संसार है, भूसन दे झख मारि॥
बाजन देह जंतरी, कलि कूँ कहीं मत छोड़।
तुझे पराई क्या परी, अपनी आप निबेड़॥
कबीर काहे को डरै, सिर पर सिरजनहार।
हस्ती चढ़ि दुरिये नहीं, कूकर भुँसै हजार॥
आवत गारी एक है, उलटत होय अनेक।
कहै कबीर नहिं उलटिये, वही एक की एक॥

अर्थ–अपने मन के अहंभाव को छोड़कर इस तरह का वचन बोलिए, जो अन्यों के चित्त को शीतल करे और स्वयं भी शीतल अर्थात् शान्त चित्त (ठण्ढा) हो॥ यदि अपना मन शीतल (प्रशान्त) हो, तो संसार में कोई भी शत्रु नहीं हो सकता। अथवा यदि अहंकार को छोड़ दो, तो सभी जन दया करेंगे॥ (श्रवण, मनन और निदिध्यासन-रूप) ज्ञान की हस्ति (हाथी) पर (आत्म-अनुभव-रूप) गद्दी डालकर सवार होइये। यह संसार कुत्ते के समान है, इसको झख मारकर भूँकने दीजिये। तात्पर्य यह कि इस तरह की हस्ती पर चढ़नेवाले, सांसारिक

लोगों के व्यंग्य और स्तुति-निन्दा की परवाह न करें॥ संसार में बाजाओं को बजने दो। तुम कलियुगी (तमोगुणी वृत्तिवाले) लोगों से कहीं छेड़छाड़ मत करो। तुमको दूसरे के लिए क्या पड़ा हुआ है? अपने आपके लिए निर्णय करो॥ संत कबीर साहब कहते हैं कि (तुम्हारे) सिर पर परमात्मा (रक्षक) हैं, तुम क्यों डर रहे हो? हाथी पर चढ़कर दूर भागना नहीं चाहिए, चाहे हजारों कुत्ते भूँकते हों? तात्पर्य यह कि ज्ञान पाकर गम्भीर होना चाहिये, उतावला नहीं होना चाहिए॥ (गाली देनेवाले की ओर से पहले) एक ही गाली आती है, (गाली सुननेवाले के द्वारा) उलटाये जाने पर अनेक गालियाँ हो जाती हैं। संत कबीर साहब कहते हैं कि (यदि गाली-श्रवणकर्त्ता-द्वारा) उसको उलटाया नहीं जाय, तो वह एक की एक ही गाली रहेगी॥

॥ मूल पद्य ॥

सतगुरु सोई दया करि दीन्हा, तातें अनचिन्हार मैं चीन्हा ॥
बिन पग चलना बिन पर उड़ना, बिना चुंच का चुगना ।
बिना नैन का देखन-पेखन, बिना सरवन का सुनना ॥ १॥
चन्द न सूर दिवस नहिं रजनी, तहाँ सुरत लौ लाई ।
बिना अन्न अमृत रस भोजन, बिन जल तृषा बुझाई ॥ २॥
जहाँ हरष तहाँ पूरन सुख है, यह सुख का से कहना ।
कहै कबीर बल बल सतगुरु की, धन्य शिष्य का लहना ॥ ३॥

अर्थ–सद्गुरु ने दया करके मुझे वह वस्तु दी, जिसके द्वारा अपरिचित अर्थात् जिससे मैं कभी परिचित नहीं था, तात्पर्य परमात्मा की मैंने पहचान की॥ उसकी पहचान में बिना पैर के चलना होता है, बिना पंख के उड़ना होता है, बिना चोंच के दाना चुगना होता है, बिना आँख के देखना होता है और बिना कान के सुनना होता है॥१॥ वह देशकालातीत पद ऐसा है, जहाँ न चन्द्रमा है, न सूर्य ही और न दिवस है, न रात ही। मैंने वहाँ सुरत से लौ लगायी, तो बिना अन्न के अमृत के स्वाद का भोजन मिला और बिना पानी के प्यास बुझ गई॥२॥ जहाँ परम प्रसन्नता है, वहाँ पूर्ण सुख है; लेकिन इस सुख की बात किससे कही जाय? संत कबीर साहब कहते हैं कि यह सद्गुरु महाराज की बलिहारी है और वह शिष्य भी धन्य है, जो उस पद को प्राप्त करता है॥३॥

॥ मूल पद्य ॥

गगन घटा घहरानी साधो, गगन घटा घहरानी ॥ टेक॥
पूरब दिसि से उठी बदरिया, रिमझिम बरसत पानी ।
आपन-आपन मेंड़ि सम्हारो, बह्यो जात यह पानी ॥ १॥
मन के बैल सुरत हरवाहा, जोत खेत निर्वानी ।
दुबिधा दूब छोल करु बाहर, बोवो नाम की धानी ॥ २॥
जोग जुक्ति करि करु रखवारी, चर न जाय मृग धानी ।
बाली झार कूटि घर लावै, सोई कुसल किसानी ॥ ३॥
पाँच सखी मिलि कीन्ह रसोइयाँ, एक से एक सयानी ।
दूनों थार बराबर परसे, जेवैं मुनि अरु ज्ञानी ॥ ४॥
कहै कबीर सुनो भाई साधो, यह पद है निर्वानी ।
जो या पद को परचा पावै, ताको नाम विज्ञानी ॥ ५॥

अर्थ–हे साधक! अन्धकारमय शून्य ध्वनित होता है॥ साधक जन पहले-पहल इस अंधकार को पाता है। ध्यानाभ्यास में जल-वर्षा-जैसी बूँदें झरती हुई देख पाता है। हे साधक-वृन्द! अपनी-अपनी इन्द्रियों के घाटों को सँभालकर रखो कि अनुभूति-रूप यह पानी बहता जा रहा है अर्थात् क्षय होता जा रहा है॥१॥ मन को बैल और सुरत को हलवाहा बनाकर मुक्ति के खेत जोतो। अर्थात् तनमन को निजमन के अधीन में करो, तो मुक्ति का खेत बनेगा। ('मन उलटे तो सुरत कहावे'–संत कबीर साहब। तनमन–शरीरमुखी मन–पिण्डी मन जब बहिर्मुखता छोड़ता है अर्थात् उलटकर निजमन–आत्ममुखी मन–ब्रह्माण्डी मन में बारम्बार केन्द्रित होता है, तब वह आत्ममुखी मन-रूपी सुरत के वश में हो जाता है। इस तरह मन का बैल और सुरत का हलवाहा होता है।) इस खेत में दुविधा-दूब-रूप जंगल को छीलकर बाहर करो और नाम-रूप धान को बोओ॥२॥ योग की युक्ति जानकर अभ्यास करो, उसीसे खेत की रखवाली करो कि मनोविकार-रूप मृग उस धान को चर न जाय। फिर जो धान के शीश या बाली को झाड़-कूटकर अर्थात् अन्न-रूप मोक्ष प्राप्त करे, वही प्रवीण किसान है॥३॥ इस बात को इस ख्याल के मित्रगण ने, जो एक से एक सयाने होते हैं, मिलकर मोक्ष के इस ज्ञान को पका दिया अर्थात् दृढ़ कर लिया है। ये ऐहलौकिक और पारलौकिक,

दोनों ओर के कर्त्तव्य-ज्ञान को बराबर-बराबर देते हैं और मननशील ज्ञानी लोग इसका भोजन करते हैं अर्थात् साधन-भजन और आचरण करते हैं॥४॥ कबीर साहब कहते हैं–हे साधो भाई! सुनो, मैंने यह निर्वाण–मुक्ति का पद्य गाया है, जो इस पद्य का परिचय पावेगा, वह विज्ञानी कहलावेगा॥५॥

॥ संत कबीर साहब की वाणी समाप्त ॥

गुरु नानक साहब की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

काइआ नगरु नगर गड़ अंदरि। साचा बासा पुरि गगनंदर॥
असथिरु थान सदा निरमाइलु। आपे आपु उपाइदा॥
अंदरि कोट छजे हट नाले। आपे लेवै वसतु समाले॥
बजर कपाट जड़े जड़ि जाणै। गुर सबदी खोलाइदा॥
भीतर कोट गुफा घर जाई। नउ घर थापे हुकमि रजाई॥
दसवै पुरषु अलेखु अपारी। आपे अलखु लखाइदा॥
पउण पाणी अगनी इकि वासा। आपे कीतो खेलु तमासा॥
वलदी जलि निवरै किरपा ते। आपे जलनिधि पाइदा॥
धरती उपाइ धरी धरमसाला। उतपति परलउ आप निराला॥
पवणै खेलु किया सभ थाई। कला खींचि ढाहाइदा॥
भार अठारह मालणि तेरी। चउर ढुलै पवणै लै फेरी॥
चन्द सूरज दुइ दीपक राखे। ससि घरि सूरु समाइदा॥
पंखी पंच उडर नहिं धावहि। सफलिउ विरख अंम्रित फल पावहि॥
गुरुमुखि सहजि रवै गुण गावै। हरि रसु चोग चुगाइदा॥
झिलमिल झिलकै चन्दु न तारा। सूरज किरणि न बिजुलि गैणारा॥
अकथी कथहु चिहनु नहिं कोई। पूरि रहिआ मन भाइदा॥
पसरी किरणि जोति उजिआला। करि करि देखै आपि दइआला॥
अनहद रुण झुणकारु सदा धुनि। निरभउ कै घरि वाइदा॥
अनहद बाजै भ्रम भउ भाजै। सगल बिआपि रहिआ प्रभु छाजै॥
सभ तेरी तू गुरुमुखि जाता। दरि सौहै गुण गाइदा॥
आदि निरंजनु निरमल सोई। अवरु न जाणा दूजा कोई॥

ऐकंकार वसै मनि भावै। हउमैं गरबु गँवाइदा।।
अम्रित पीआ सतिगुरि दीआ। अवरु न जाणा दूआ तीआ।।
ऐको ऐकु सु अपरपरंपरु। परखि खजानै पाइदा।।
गिआनु धिआनु सच गहिर गंभीरा। कोइ न जाणै तेरा चीरा।।
जेती है तेती तुधु जाचै। करमि मिलै सो पाइदा।।
करम धरमु सबु हाथि तुमारै। बेपरवाह अखुट भण्डारै।।
तू दइआलु किरपालु सदा। प्रभु आपै मेलि मिलाइदा।।
आपे देखि दिखावै आपे। आपे थापि उथापे आपे।।
आपे जोड़ि बिछोड़े करता। आपे मारि बिजमन्दरि।।
जेति है तेती तुधु अंदरि । देखहि आपि बैसि जिवाइदा।।
नानकु साचु कहै बेनंती। हरि दरसनि सुखु पाइदा।।

शब्दार्थ–काइआ=काया, शरीर। गड़=गढ़, किला। गगनं-दर=आकाश के भीतर। असथिरु=स्थिर, थिर। थान=स्थान। निरमाइलु=निर्माया। आपे आपु=स्वयं या खुद अपने से। उपाइदा=रचा, बनाया, पैदा किया। कोटि=किला। छजै=छत। हट=हाट। नाले=साथ। जड़े जड़ि=मजबूत जड़े हुए। थापे=स्थापन किए। रजाई=मरजी। कीतो=किया। वलदी=जलती। जलि=धिंधोर। निवरै=बचे। जलनिधि=समुद्र। पाइदा=डालना, देना। उपाइ=रचकर। थाई=जगह। कला=अंश। ढाहाइदा=गिराया है, ढाहा है। भार अठारह=सब प्रकार के वृक्ष और लताएँ। ढुलै=झुलाता है, डुलाता है। ससि=चन्द्रमा। सूरु=सूर्य। पंखी=पक्षी। उडर=उड़कर। पंखी पंच=पाँच-पक्षी (यहाँ पर तात्पर्य है पाँच प्राण से)। सफलिउ विरख=फलदार पेड़। रवै=रमे। चोग=दाना, अहरा। चुगाइदा=चुगाया, खिलाया। गैणारा=जुगनू, तारा। चिहनु=चिह्न, निशाना। भाइदा=पसन्द आया, भाया। रुण=मीठा-मीठा शब्द। वाइदा=बजाता है। छाजै=शोभा पा रहा है। जाता=जानता है। दरि=दरवाजा, द्वार। सोहै=शोभा पावे। ऐकंकार=ॐकार। गरबु=घमण्ड। सु=सुन्दर, वह। अपरपरंपरु=सबसे परे। पाइदा=दाखिल किया। चीरा=हद, पसारा, किनारा, अन्त। तुधु=तुमको। करमि=दया का दान, बख्शिश। पाइदा=प्राप्त किया। अखटु=नहीं घटनेवाला। थापि=कायम करके। उथापे=मिटाता है। बिजमंदरि=ऊँचा महल।

भावार्थ–शरीर नगर है। इस नगर-गढ़ के अन्दर गगनपुरी में

सत्य (परम पुरुष) का निवास-स्थान है। इस सदा स्थिर निर्मायिक स्थान को स्वयं अपने से (उस प्रभु ने) रचा है॥१॥ (इस काया) कोट के अन्दर छत (वाले भवन के) साथ हाट है। मनुष्य को चाहिए कि वह उस हाट की वस्तु को अपने से प्राप्त करे और सँभाले। उसको जानना चाहिए कि (उस हाट के फाटक पर) दृढ़ वज्रकपाट जड़ा हुआ है, जो गुरु के शब्द से खुलता है॥२॥ वज्रकपाट के खुलने पर काया-कोट की गुफा में उस कपाट को खोलनेवाला जाएगा। उस सत्य परम पुरुष की आज्ञा–(शब्द) की तरंग ने नौ घरों की स्थापना की है। नौ घर–(१) षष्ठ चक्र, (२) सहस्त्रदल कमल, (३) त्रिकुटी, (४) शून्य, (५) महाशून्य, (६) भँवर गुफा, (७) सतलोक या सचखण्ड, (८) अलख लोक और (९) अगम लोक। दसवें अलख, दुर्बोध अपार पुरुष है। उस अलख पुरुष को भक्त-साधक अपने से लख पाता है॥३॥ यह शरीर पवन, पानी और अग्नि का एक बासा है। इस खेल और तमाशे को उस प्रभु ने स्वयं किया है। उपर्युक्त बासा-रूप जलती हुई आग से प्रभु-कृपा से बचें और स्वयं अपने को उस प्रभु-रूप समुद्र में डालें॥४॥ उस प्रभु ने धरती को रचकर धर्मशाला बना रखा है। उत्पन्न होने और नष्ट होने से वह आप अलग है। सभी स्थानों में पवन का खेल किया है और (उनमें-से) अपने अंश को खींचकर ढाहता है–नष्ट करता है॥५॥ हे प्रभु! पवन-रूप मालिनी सब प्रकार के वृक्ष और लता-रूपी चँवर लेकर डुलाती है। चन्द्र और सूर्य दो दीपक रखे हुए हैं। चन्द्र और सूर्य घर में समाए हुए हैं॥६॥ ज्ञान-इन्द्रियों में मन की पाँच वृत्तियाँ-रूपी पाँच पक्षी यदि उड़कर विषयाकाश में नहीं दौड़े, तो सुरत-पक्षी निर्विषय-रूप फलदार वृक्ष का अमृत फल प्राप्त करे। गुरु-बुद्धि के अनुकूल चलनेवाला (गुरुमुख) सहज ही उस अमृतफल में रमता है, प्रभु-गुण गाता है और कथित फल के हरि-रस-रूप दाने को चुगता है–खाता है॥७॥ चन्द्रमा, तारे, सूर्य-किरणें, बिजली और जुगनू नहीं हैं। झिलमिल ज्योति झलकती है। यह अकथनीय का कथन करता हूँ। बाहरी जगत् में इसका कोई चिह्न नहीं है; परन्तु यह अन्तर में परिपूर्ण हो रहा है, मन को अच्छा लगता है॥८॥ ज्योति की किरणें पसर गई हैं। इन्हें निर्माण करके स्वयं दयालु प्रभु देखता है। उस भय-रहित प्रभु के घर में रुन-झुनकार अनहद ध्वनि बजती रहती

है॥९॥ अनहद बजता है, सुननेवालों का भ्रम-जाल दूर हो जाता है। सर्वव्यापी होता हुआ वह प्रभु शोभायमान है। हे प्रभु! सब तुम्हारी है, तुम गुरुमुख को जानते हो। वह तुम्हारे शोभायमान द्वार पर तुम्हारा गुण गाता है॥१०॥ जो मायातीत आदिपुरुष है, वह पवित्र है, वही निर्मल है। मैंने किसी दूसरे को नहीं जाना है। मुझमें एक ॐकार बसता है, वह मन को बहुत भाता है। अहंकार और घमण्ड को मैंने गँवा दिया है॥११॥ सद्गुरु ने अमृत दिया, मैंने पिया है और दूसरे-तीसरे को मैंने नहीं जाना है। वह एक-ही-एक अपरम्पार पुरुष है, जिस भंडार को परखकर मैंने अपने को उसमें लीन किया है॥१२॥ हे सच्चे प्रभु! आपका ज्ञान और ध्यान गहरा–गम्भीर है। आपके अन्त को–किनारे को कोई नहीं जानता है। जितने हैं, सभी आपसे याचना करते–माँगते हैं। आपके दयादान से जो मिलता है, सो वे प्राप्त करते हैं॥१३॥ कर्म और धर्म सब आपके वश में हैं। आप बेपरवाह और अघट भण्डार हैं। आप सदा दयालु और कृपालु प्रभु हैं। स्वयं आप मेल मिला देते हैं॥१४॥ स्वयं देखते और दिखाते हैं, स्वयं स्थिर करते हैं और स्वयं मिटाते हैं। हे कर्त्ता पुरुष! आप स्वयं जोड़कर फिर अलग-अलग कर देते हैं और आप स्वयं मारकर जिला देते हैं॥१५॥ जो कुछ भी है, सो सब आपके अन्दर है, ऊँचे महल में बैठकर आप सबको देखते हैं। गुरु नानक सच्ची विनती करते हैं–'हरि दर्शन से सुख पाता हूँ'॥१६॥

॥ मूल पद्य ॥

तारा चड़िया लंमा किउ नदरि निहालिआ राम॥
सेवक पूर करंमा सतिगुर सबदि दिखालिआ राम॥
गुर सबदि दिखालिआ सचु समालिआ
अहिनिसि देखि विचारिआ॥
धावतु पंच रहे घरु जाणिआ कामु क्रोध विषु मारिआ।
अन्तरि जोति भई गुरु साखी चीने राम करंमा।
नानक हउमैं मारि पतीणे तारा चड़िआ लंमा॥१॥
गुरमुखि जागि रहे चूकी अभिमानी राम।
साचि समानी गुरमुखि मनि भानी गुरमुखि साबुत जागे।
साचु नामु अंम्रितु गुरि दीआ हरि चरनी लिव लागे।

प्रगटी जोति जोति महि जाता मनमुखि भरमि भुलाणी।
नानक भोर भइआ मनु मानिआ जागत रैणि विहाणी।।२।।
अउगुण वीसरिआ गुणी घरु कीआ राम।
एको रवि रहिआ अवरु न बीआ राम।
रवि रहिआ सोइ अवरु न कोई मन ही ते मनु मानिआ।
जिनि जल-थल त्रिभवण घटु-घटु थापिआ
सो प्रभु गुरमुखि जानिआ।
करण कारण समरथ अपारा त्रिविध मेटि समाई।
नानक अउगुण गुणह समाणे ऐसी गुरमति पाई।।३।।
आवण जाण रहे चूका भोला राम।
हउमैं मारि मिलै साचा चोला राम।
हउमैं गुरि खोई परगटु होई चूके सोग संतापै।
जोति अंदरि जोत समाणी आपु पछाता आपै।
पेईअड़ै घरि सबदि पतीणी साहुरड़ै पिर भाणी।
नानक सतिगुरि मेलि मिलाई चूकी काणी लोकाणी।।४।।

शब्दार्थ—लंमा=फाँदकर। नदरि=नजर। किउ=किया। करंमा=कर्म। अहिनिसि=दिन-रात। धावतु=चलायमान। पंच=पाँच। साखी=गवाह। करंमा=दया। हउमैं=अहंकार। पतीणे=विश्वास किया। भानी=भाया, अच्छा लगा। साबुत=सोने से या सूतने से। लिव=लौ, लव। महि=में, अन्दर। जाता=जाना, ज्ञान प्राप्त किया। रैणि=रात। विहाणी=भोर हुआ, सबेरा हुआ। गुणी=गुण। रवि=व्यापक हो रहा है। बीआ=दूसरा। निहालिआ=मनोरथ पूर्ण किया। रहे=रुक गये।

भावार्थ—मैं फाँदकर तारे पर चढ़ा। (यह साधना-अनुभूति की बात है। साधक अन्धकार-मण्डल को टपकर अन्तराकाश के तारक ब्रह्मलोक में पहुँचता है।) दर्शन किया और राम ने मेरे मनोरथ को पूर्ण किया। सेवकाई के कर्मों से पूर्ण सेवक ने सद्गुरु राम के शब्द को पहचाना है। अपने गुरु के शब्द को पहचाना, सत्य को सँभाला और दिन-रात देख-देखकर सत्य-असत्य का निर्णय किया। पाँचो चंचल ज्ञान-इन्द्रियाँ रुक गईं। घर को पहचाना और काम-क्रोध विष को मार डाला। अन्तर की ज्योति गुरु की साक्षी हुई और राम का दया-दान

पहचान में आ गया। गुरु नानक कहते हैं, जिसने अहंकार का दमन करके विश्वास किया, वह फाँदकर तारे पर चढ़ गया॥१॥ गुरुमुख जगते हैं, चेतते हैं और अभिमानी या घमण्डी चूक जाते हैं। सत्य में समाने में गुरुमुख के मन को पसन्द आता है। गुरुमुख सोते या जग जाते हैं, उनको सत्यनाम–अमृत गुरु देते हैं और हरि-चरणों में उनकी लौ लगती है। उनके अन्तर में ज्योति प्रकट हो जाती है, ज्योति में उनको ज्ञान प्राप्त हो जाता है और मन-मुख भ्रम में भूले रहते हैं। गुरु नानक कहते हैं कि उनके लिए भोर या बिहान या दिन आरम्भ हो जाता है अर्थात् ज्ञान का उदय हो जाता है। उनका मन संतुष्ट हो जाता है, वे रात में जागते हैं, उनको बिहान हो गया है॥२॥ वे गुरुमुख अवगुण को भूल जाते हैं और अपने अन्दर गुणों को रखते हैं। एक ही (प्रभु परमात्मा) सर्वव्यापक है और दूसरा व्यापक नहीं है। केवल वही व्यापक हो रहा है, दूसरा व्यापक नहीं है। इस विषय में मन ही से मन संतुष्ट हो गया है। (गुरु के मन की जानकारी की बातों को श्रद्धालु गुरुमुख का मन जानकर संतुष्ट हुआ है।) जिन प्रभु ने जल, थल, त्रिभुवन और सब घटों को रचा है, उनको गुरुमुख ने पहचाना। जो करनेवाला तथा बीज-रूप (निमित्त और उपादान-रूप) समर्थ प्रभु अपार है, गुरुमुख त्रय गुणों को पार कर उसमें समाता है। गुरु नानक साहब कहते हैं कि उनका अवगुण गुण में लीन हो जाता है॥३॥ वह ऐसा गुरु-ज्ञान प्राप्त करता है कि उसका आवागमन रुक जाता है; परन्तु बुद्धिहीन चूक जाता है। अहंकार का दमन करने से सच्चा चोला (सच्चिदानन्दमय देह) मिलता है। गुरु अहंकार को दूर करते हैं, यह प्रकट होता है और शोक-सन्ताप दूर होते हैं। ज्योति के अन्दर ज्योति समाती है और साधक अपने को आप पहचानता है। जो नैहर (इहलोक) में शब्द का विश्वास (नादानुसन्धान, सुरत-शब्द-योग) करता है, वह सासुर (परमात्म-पद) में प्रभु को पसन्द आता है। गुरु नानक साहब कहते हैं कि सद्गुरु ने यह मेल मिलाया है, लोक-लज्जा दूर हो गई है॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

जोगु न खिंथा जोग न डंडै जोगु न भसम चड़ाईऐ।
जोगु न मुंदी मूंडि मूड़ाइऐ जोग न सिंञी वाईऐ।
अंजन माहि निरंजनि रहीऐ जोग जुगति इव पाईऐ॥१॥

गली जोगु न होई।
एक द्रिसटि करि समसरि जाणै जोगी कहीअै सोई ॥१॥
जोग न बाहरि मड़ी मसाणी जोग न ताड़ी लाईअै।
जोगु न देसि दिसंतरि भविअै जोग न तीरथि नाईअै।
अंजन माहि निरंजनि रहीअै जोग जुगति इव पाईअै ॥२॥
सतिगुरु भेटै ता सहसा तूटै धावतु बरजि रहाईअै।
निझरु झरै सहज धुनि लागै घर ही परचा पाईअै।
अंजन माहि निरंजनि रहीअै जोग जुगति इव पाईअै ॥३॥
नानक जीवतिआ मरि रहीअै अैसा जोगु कमाईअै।
बाजे बाझहु सिंञी बाजे तउ निरभउ पदु पाईअै।
अंजन माहि निरंजनि रहीअै जोग जुगति इव पाईअै ॥४॥

शब्दार्थ—खिंथा=गुदड़ी। मुंदी=मुद्रा, गोरखपंथी साधुओं के पहनने का एक कर्णभूषण। अंजन=माया। गली=गप करना। द्रिसटि=दृष्टि। समसरि=अच्छी तरह एक करना, सम करना। ताड़ी=नकली समाधि वा नकली ध्यान। भविअै=भ्रमण करके। नाईअै=स्नान करके। ता=तो। सहसा=संशय। निझरु झरै=अन्तर में प्रकाश-रूप चेतन की वर्षा होवै। सहज धुनि=ब्रह्मनाद। बाझहु=बजै।

पद्यार्थ—गुदड़ी और दण्ड (दण्डी संन्यासी का दण्ड या लाठी) धारण करने से, शरीर पर भस्म लगाने से, कान में मुद्रा पहनने से, मूँड़ मुँड़ाने से तथा सिंगी बाजा बजाने से योग नहीं होता है। तात्पर्य यह कि योगिवर गोरखनाथजी महाराज के योगियों-के-से धारण किए जानेवाले उपर्युक्त उपकरणों को धारण करने से ही योग नहीं होता है। माया में मायातीत परमात्मा वर्त्तमान रहते हैं, योगयुक्ति से उनकी प्राप्ति होती है॥१॥ प्रवचन करने से भी योग नहीं होता है। दृष्टिधारों को अच्छी तरह सम करके जाननेयोग्य वस्तु को जो जानता है, योगी उसी को कहते हैं॥१॥ गाँव से बाहर श्मशान-भूमि में झोपड़ा बनाकर रहने से और विषयों के चिन्तन का ध्यान लगाने से, देश-देशान्तर में भ्रमण करने से, तीर्थों में स्नान करने से योग नहीं होता है। माया में मायातीत परमात्मा वर्त्तमान रहते हैं, योग-युक्ति से उनकी प्राप्ति होती है॥२॥ जिसको सद्गुरु मिलते हैं, उसका संशय टूट जाता है, वह उपर्युक्त

दौड़-धूप से छूटकर रहता है। अपने अन्दर में ज्योति की वर्षा होती है, सुरत स्वाभाविक ध्वनि–ब्रह्मनाद में लग जाती है। इसका परिचय योग-अभ्यासी को घर ही में प्राप्त हो जाता है। माया में मायातीत परमात्मा वर्त्तमान रहते हैं, योग-युक्ति से उसकी प्राप्ति होती है॥३॥ बाबा नानक कहते हैं कि योग-अभ्यास ऐसा करो कि जीते-जी मर जाओ अर्थात् अपने शरीर के अन्दर-ही-अन्दर चलकर स्थूल, सूक्ष्म आदि शरीरों को त्याग सको और सब इन्द्रियाँ विषयों से विमुख होकर काबू में हो जाएँ। जब तुम्हारे अन्दर बाजे बजें और सिंगी भी बजे, तब भय-रहित पद को प्राप्त करोगे। माया में मायातीत परमात्मा वर्त्तमान रहते हैं, योग-युक्ति से उनकी प्राप्ति होती है॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

सुनि मन भूले बावरे, गुरु की चरणी लागु।
हरि जपि नाम धिआइ तू, जम डरपै दुख भागु॥
दूखु घणो दोहागणी, किउ थिरु रहै सोहागु॥१॥
भाई रे अवर नाहीं मैं थाउ।
मैं धनु नाम निधानु है, गुरि दीआ बलि जाउ॥१॥रहाउ॥
गुरमति पति साबासि तिसु, तिस कै संग मिलाउ।
तिस बिनु घड़ी न जीवऊ, बिनु नावै मरि जाउ॥
मैं अंधुले नामु न बीसरै, टेक टिकी घरि जाउ॥२॥
गुरू जिना का अंधुला, चेले नाहीं ठाउ।
बिनु सतिगुरु नाउ न पाइऔ, बिनु नावै किआ सुआउ॥
आइ गइआ पछुतावना, जिउ सुंञे घरि काउ॥३॥
बिन नावै दुख देहुरी, जिउ कलर की भीति।
तब लगु महलु न पाइऔ, जब लगु साचु न चीति॥
सबदि रपै घरु पाइऔ, निरवाणी पदु नीति॥४॥
हउ गुर पूछउ आपणे, गुरु पुछि कार कमाउ।
सबदि सलाही मनि वसै, हउमै दुख जलि जाउ॥
सहजे होइ मिलावणा, साचे साचि मिलाउ॥५॥
सबदि रते सो निरमले, तजि काम क्रोध अहंकारु।
नामु सलाहनि सद सदा, हरि राखहि उर धार॥

सो किउ मनहु विसारीअै, सभ जीआ का आधारु॥६॥
सबदि मरे सो मरि रहै, फिरि मरै न दूजी बार।
सबदै ही ते पाइअै, हरि नामे लगै पिआरु॥
बिनु सबदै जगु भूला फिरै, मरि जनमै बारोबार॥७॥
सभ सालाहै आप कउ, बडहु बडेरी होइ।
गुरु बिनु आपु न चीनिअै, कहे सुणे किआ होइ॥
नानक सबदि पछाणीअै, हउमैं करै न कोइ॥८॥

शब्दार्थ—दोहागणी=व्यभिचारिणी, कुलटा स्त्री (यहाँ इसका तात्पर्य है अभक्त)। थाउ=स्थान। मैं=मुझे। निधानु=भरपूर। पति=प्रतिष्ठा। नावै=नाम। नाउ=नाम। सुआउ=सुभाग। सुंञे=सूम, कंजूस। काउ=काग। देहुरी=देह में। कलर=ऊसर मिट्टी, ऊस, रेह। भीति=दीवाल। रपै=विलास करै। सबदि रपै=शब्द में विलास करने से। नीति=नित्य, असली, सत्य। हउ=सम्बोधन (हे लोगो!)। कार=कर्म। सलाही=साधना। रते=लवलीन होवे। सलाहनि=अभ्यास। सद=सदा, हमेशा। बडहु बडेरी=बड़े-से-बड़ा।

भावार्थ—रे भूले हुए पागल मन! गुरु के चरणों में लग। हरि का जप करके उनके नाम का ध्यान कर, तो तुझसे यम डरेगा और तेरा दुःख भाग जायगा। व्यभिचारिणी (एक परम प्रभु का विश्वास और भरोसा के अतिरिक्त औरों का भी भरोसा रखनेवाले कुभक्त) को बहुत दुःख होते हैं। उसका सौभाग्य किस तरह स्थिर रहेगा? अर्थात् उसका सौभाग्य स्थिर नहीं रहेगा॥१॥ भाई रे! मुझे तो दूसरा स्थान या अवलम्ब नहीं है। मुझे तो नाम ही पूर्ण धन है, जो गुरु ने दिया है। मैं उनकी बलिहारी जाता हूँ॥१॥ गुरु-बुद्धि में रहनेवाले की प्रतिष्ठा है और धन्यता है। उनके संग मिलो, उनके बिना घड़ी भर भी मत जिओ और बिना परमात्म-नाम के मर जाओ। मुझ (जगत् की ओर से) अन्धे को नाम नहीं भूलता है, उसकी टेक टिकी हुई है, घर (मोक्ष-धाम) को जाता हूँ॥२॥ जिसका गुरु अन्धा है, उसके चेले को स्थान नहीं है। बिना सद्‌गुरु के नाम नहीं प्राप्त होता है और परमात्म-नाम के बिना क्या शोभा है? अर्थात् शोभा नहीं है। जैसे सूने घर में कौआ जाय, तो वहाँ से वह बिना कुछ पाये ही लौट जाता है, उसी तरह से जो संसार में आकर ईश्वर का नाम नहीं प्राप्त करता है, वह पछताते हुए खाली-खाली संसार से चला जाता है॥३॥ बिना उस नाम के देह

दुःखरूप है और रेह या नुनही मिट्टी की दीवाल की तरह है। तबतक प्रभु का महल नहीं प्राप्त होता है, जबतक चित्त में सचाई नहीं है। शब्द-अभ्यास में आनंद प्राप्त करने से निर्वाण का सत्यपद प्राप्त होता है॥४॥ अपने गुरु से पूछो और शब्द-अभ्यास की कमाई करो। मन में शब्द-अभ्यास बसे, तो अहंकार का दुःख जल जाय और सहज ही सत्य में सत्य (परमात्मा में जीवात्मा) का मिलाप हो जाय॥५॥ जो शब्द (अन्तर्नाद) में रत होते हैं, वे काम, क्रोध और अहंकार को छोड़कर पवित्र हो जाते हैं, नाम-ध्यान के अभ्यास से हृदय में हरि को सदा धारण किये रहते हैं। जो सब जीवों का आधार (परमात्मा) है, उसको मन में क्यों भूलना चाहिए? अर्थात् नहीं भूलना चाहिए॥६॥ जो शब्द-अभ्यास करते-करते शरीर छोड़ते हैं, सो ऐसा मरे रहते हैं कि फिर दूसरी बार नहीं मरते हैं अर्थात् उनका दूसरा जन्म नहीं होता है। शब्द से ही परमात्मा पाये जाते हैं, उस हरि के नाम में प्रेम लगाना चाहिए। संसार के लोग बिना ईश्वर के नाम या शब्द के भूले-फिरते हैं और बारम्बार जनमते-मरते रहते हैं॥७॥ सब लोग अपनी प्रशंसा चाहते हैं, बड़े-से-बड़ा होना चाहते हैं; परन्तु गुरु के बिना अपनी (आत्मा की) पहचान नहीं होती है। कहने-सुनने से क्या होगा? गुरु नानक साहब कहते हैं कि शब्द (नाम) को पहचाने तो कोई अहंकार में नहीं बरतेगा॥८॥

॥ मूल पद्य ॥

मोहु कुटंबु मोहु सभकार। मोहु तुम तजहु सगल बेकार॥१॥
मोह अरु भरमु तजहु तुम बीर। सचु नामु रिदे रवै शरीर॥२॥रहाउ॥
सचु नामु जा नवनिधि पाई। रोवै पूत न कलपै माई॥३॥
एतु मोहि डूबा संसारु। गुरुमुखि कोई उतरै पार॥४॥
एतु मोहि फिरि जूनि पाहि। मोहे लागा जमपुरी जाहि॥५॥
गुरु दीखिआ जपु तपु कमाहि। न मोहु तूटै ना थाई पाहि॥६॥
नदरि करै ता एहु मोहु जाइ। नानक हरि सिउ रहै समाइ॥७॥

शब्दार्थ—सगल=सकल, बिल्कुल, समस्त। रिदे=हृदय। रवै=व्यापक है। जा=जिससे। नव=नौ। निधि=धन। एतु=इस। थाई=जगह। ता=ते।

पद्यार्थ—कुटुम्ब और सांसारिक सब कार्यों की ममता निरर्थक है, इनको तुम छोड़ दो॥१॥ तुम वीर पुरुष! मोह और भ्रम को त्याग दो

और सत्यनाम, जो शरीर में व्यापक है, उससे अपने हृदय को अर्थात् सुरत को लगाओ॥२॥ सत्यनाम, जिसने नवो निधियाँ (कुबेर के नौ प्रकार के रत्न—१. पद्म, २. महापद्म, ३. शंख, ४. मकर, ५. कच्छप, ६. मुकुन्द, ७. कुन्द, ८. नील और ९. वर्च्च) पायी जाती हैं, को प्राप्त करने से पुत्र और माता नहीं रोवेंगे॥३॥ सांसारिक पदार्थों के मोह में सांसारिक लोग डूबे हुए हैं। बिरला गुरुमुख इससे पार उतर जाता है॥४॥ इस मोह से फिर जन्म मिलता है और मोह में लगा हुआ यमपुर को जाता है॥५॥ गुरु से दीक्षा लेकर जप-तप कमाते हैं; परन्तु न मोह टूटता है, न मोह-रहित (मोक्ष) पद प्राप्त होता है॥६॥ गुरु नानक साहब कहते हैं कि परमात्मस्वरूप के दर्शन* से यह मोह दूर होता है और परमात्मा-हरि में समाकर रहता है॥७॥

॥ मूल पद्य ॥

अनहदो अनहदु बाजै, रुण झुणकारे राम।
मेरा मनो मेरा मनु राता, लाल पिआरे राम॥
अनदिनु राता मनु वैरागी, सुन्न मंडलि घरु पाइआ।
आदि पुरुष अपरंपरु पिआरा, सतिगुरि अलखु लखाइआ॥
आसणि बैसणि थिरु नाराइणु, तितु मनु राता बीचारे।
नानक नाम रते वैरागी, अनहद रुण झुणकारे॥१॥
तितु अगम तितु अगम पुरे कहु, कितु विधि जाइऔ राम।
सचु संजमो सारि गुन गुरु, सबद कमाइऔ राम॥
सचु सबदु कमाइऔ निजु घरि जाइऔ पाइऔ गुणी निधाना।
तितु साखा मूलु पतु नहीं डाली, सिरि सभना परधाना॥
जपु तपु करि करि संयम थाकी, हठि निग्रहि नहीं पाइऔ।
नानक सहजि मिले जगजीवन, सतिगुर बूझ बुझाइऔ॥२॥

शब्दार्थ—सारि=सार।

भावार्थ—राम के अनहद रुण-झुणकार की ध्वनियाँ बजती हैं। मेरा मन प्यारे राम-रूप लाल रत्न में लवलीन हो गया है। संसार की ओर से विरक्त मन ने दिन-रात राम की ओर लगा हुआ होकर शून्य

---

*भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ —महोपनिषद्

मण्डल में घर प्राप्त किया है। इस प्यारे राम आदिपुरुष, सबसे परे और अलख (आँख के देखने की शक्ति से बाहर) का सद्‌गुरु ने दर्शन* कराया। आसन पर थिर से बैठकर वहाँ परमात्म-नारायण के विचार में मन को रत करे–अत्यंत लौलीन करे। गुरु नानक कहते हैं कि हे वैरागी! रुण-झुनकार के अनहद नाद-रूप नाम में रत हो जाओ॥१॥ हे लोगो! कहो, उस अगमपुर में किस विधि से जाना चाहिए? (उत्तर) सत्य, संयम के सार गुण को धारण करके गुरु-शब्द की कमाई करनी चाहिए। सत्यशब्द की कमाई करके आत्म-घर में जाकर गुणों के भण्डार-रूप परमात्मा को प्राप्त करना चाहिए। उस परमात्म-रूप वृक्ष को मूल नहीं है, शाखा नहीं है, पत्र नहीं है, छोटी-छोटी डालियाँ भी नहीं हैं। वह सबके शीश में प्रधान पुरुष है। जप, तप और संयम करके लोग थक जाते हैं, हठयोग-द्वारा मनोनिरोध से परम प्रभु परमात्मा नहीं पाए जाते हैं। गुरु नानक साहब कहते हैं कि इस संसार के जीवन-रूप वह प्रभु सहज ही मिलते हैं, यह बूझ सद्‌गुरु बुझा देते हैं॥२॥

॥ मूल पद्य॥

अलख अपार अगम अगोचरि, ना तिसु काल न करमा।
जाति अजाति अजोनी संभउ, ना तिसु भाउ न भरमा।रहाउ॥
साचे सचिआर विटहु कुरवाणु,
ना तिसु रूप बरणु नहिं रेखिआ, साचे सबदि नीसाणु॥१॥
ना तिसु मातु पिता सुत बंधप, ना तिसु काम न नारी।
अकुल निरंजन अपरपरंपरु, सगली जोति तुमारी॥२॥
घट घट अन्तरि ब्रह्मु लुकाइआ, घटि-घटि जोति सबाई।
बजर कपाट मुकते गुरमती, निरभै ताड़ी लाई॥३॥
जंत उपाई कालु सिरिजंता, बसगति जुगति सबाई।
सतिगुरु सेवि पदारथु पावहि, छूटहि सबदु कमाई॥४॥
सूचै भाडै साचु समावै, बिरले सूचाचारी।
तंतै कउ परम तंतु मिलाइआ, नानक सरणि तुमारी॥५॥

शब्दार्थ–अलख=देखने के बाहर। अपार=असीम। अगम=मन और बुद्धि की गति से परे। अगोचरि=इन्द्रियों से परे। ना तिसु

*यह दर्शन केवल आत्मा से होता है।

काल=कालातीत। अजोनी=अजन्मा। भाउ=संकल्प, ख्याल। भरमा=भूल। सचिआर=सत्य। विटहु=उसके ऊपर। कुरवाणु=न्योछावर। नीसाणु=चिह्न। अकुल=जिसका कुल नहीं। अपरपरंपरु=सबसे परे। सबाई=समाई। ताड़ी=समाधि। बसगति=वश में आया। सूचै=पवित्र। भाडै=बरतन, अन्तःकरण। सूचाचारी=पवित्र आचरणवाला। तंतै=जीवात्मा, सुरत। परम तंतु=सारशब्द।

पद्यार्थ—परम प्रभु परमात्मा देखने की शक्ति से परे, असीम, मन और बुद्धि की पहुँच के परे, कुल-विहीन, काल और कर्म से रहित तथा भूल और मनोमय संकल्प से हीन है। उसकी स्थिति अवश्य है, उसके ऊपर अपने को न्योछावर करो। उसको रंग, रूप और रेखा नहीं है। सत्यशब्द उसका विभूति-रूप चिह्न है॥१॥ उसको माता, पिता, बेटा, भाई, काम और स्त्री नहीं है। वह कुल-रहित, माया-रहित और सबके ऊपर है। सारा प्रकाश उसका ही है॥ ब्रह्म-पुरुष सब घटों में गुप्त है। उसकी ज्योति घट-घट में समाई हुई है। गुरु की बुद्धि के अनुकूल चलनेवाला निडर ध्यान लगाकर वज्रकपाट (अन्धकार) को खोलकर उस ज्योति को देखता है॥३॥ उस प्रभु ने जीवों को और समय को उत्पन्न किया तथा अपने वश में युक्ति से उन सबको रख लिया। सद्गुरु की सेवा करके उस प्रभु-रूप पदार्थ को गुरुमुख पाता है और शब्द-साधन का अभ्यास करके संसार से छूट जाता है॥४॥ पवित्र अन्तःकरणरूप बर्तन में सत्य समाता है और पवित्रता का आचरण करनेवाला बिरला होता है। गुरु नानक कहते हैं कि सुरत को सारशब्द में लीन करके, हे परम प्रभु! वह तुम्हारी शरण में हो जाता है॥५॥

॥ मूल पद्य॥

जतु सतु संजमु साचु द्रिड़ाइआ, साच सबदि रसि लीणा।
मेरा गुरु दइआल, सदा रंग लीणा।
अहिनिसि रहै एक लिव लागी, साचे देखि पतीणा॥१॥ रहाउ॥
रहै गगन-पुरि द्रिसटि समैसरि, अनहद सबदि रंगीणा॥२॥
सतु बंधि कुपीन भरि पुरि लीणा, जिहवाँ रंगि रसीणा॥३॥
मिलै गुर साचे जिन रचु राचे, किरतु बीचारि पतीणा॥४॥
एक महि सरब सरब महि एका, एह सतिगुर देखि दिखाई॥५॥
जिनि कीए खंड मण्डल ब्रह्मण्डा, सो प्रभु लखनु न जाई॥६॥

दीपक ते दीपकु परगासिया, त्रिभवण जोति दिखाई॥७॥
साचै तखति सच महली बैठे, निरभउ ताड़ी लाई॥८॥
मोहि गइआ वैरागी जोगी, घटि-घटि किंगुरी वाई॥९॥
नानक सरणि प्रभू की छूटे, सतिगुर सचु सखाई॥१०॥

शब्दार्थ–जतु=यतिपन। सतु=सचाई। संजमु=परहेजगारी। पतीणा=विश्वास किया। समैसरि=एक ही तरह, थिर। कुपीन=कौपीन, लँगोटी। रचु राचे=बना दिया।

भावार्थ–यतिपन, सत्यता एवं शम-दम यथार्थ रूप में दृढ़ करके जो सत्यशब्द के रस में डूबे रहते हैं, वे उस रंग में सदा लीन मेरे दयालु गुरु हैं॥ वे दिन-रात एक परम प्रभु परमात्मा में लौ लगाये हुए उस सत्य पुरुष का दर्शन करके उसका विश्वास किए हुए हैं॥१॥ वे गगनपुर में दृष्टि को एक ही तरह वा थिर करके अनहद शब्द में अपने को रँगकर रखते हैं॥२॥ वे पूर्ण रूप से सचाई का कौपीन बाँधते हैं। भजन में डूबे और जिह्वा से हरि-रंग-रस को ग्रहण किये रहते हैं अर्थात् हरि-भक्ति-संबंधी बातों का वर्णन करते रहते हैं॥३॥ जिन्होंने अपने को सुधारा और बनाया है, जिनके यश को विचारकर विश्वास किया जाय, ऐसे सच्चे गुरु मिलें। सारी सृष्टि उस एक (परमात्मा) में है और वह एक (परमात्मा) सबमें है, यह सद्गुरु ने देखकर* दिखलाया है। जिस प्रभु ने ब्रह्माण्ड के खण्ड और मण्डल बनाए हैं, वह प्रभु देखने में नहीं आता है अर्थात् वह नेत्र का विषय नहीं है। दीपक से दीपक जलाया, उस ज्योति से त्रयलोक दरसता है अर्थात् ज्ञानवान साधनशील ज्योति-मण्डल पर आरूढ़ पुरुष-रूप दीपक के सत्संग से जो अपने को भी वैसा दीपक बनाता है, उसको त्रयलोक दरसता है। वह सत्य की चौकी पर सत्य के महल में निर्भय ध्यान लगाता है। वह विरक्त योगी घट-घट में बजनेवाले मजीरे की ध्वनि से मोहित हो जाता है। गुरु नानक साहब कहते हैं कि प्रभु परमात्मा की शरण यदि छूटे, तो सद्गुरु सच्चे मित्र हैं अर्थात् ये न छूटने पावें।

---

*वह देखना नेत्र इन्द्रिय का नहीं है, नेत्रादि इन्द्रियों से ऊपर उठकर कैवल्य दशा में स्थित चेतन आत्मा का यह देखना होता है।

॥ मूल पद्य ॥

अउहठि हसत मड़ी घरु छाइआ धरणि गगन कल धारि॥१॥
गुरमुखि केती सबदि उधारी संतहु॥ रहाउ॥
ममता मारि हउमै सोखै त्रिभवणि जोति तुमारी॥२॥
मनसा मारि मनै महि राखै सतिगुरु सबदि विचारी॥३॥
सिंञी सुरति अनाहदि बाजै घटि घटि जोति तुमारी॥४॥
परपंच वेणु तही मनु राखिआ ब्रह्म अगनि परजारी॥५॥
पंच ततु मिलि अहिनिसि दीपकु निरमल जोति अपारी॥६॥
रवि ससि लउकै इह तनु किंगुरी बाजै सबदु निरारी॥७॥
सिव नगरी महि आसणु अउधू अलखु अगंमु अपारी॥८॥
काइआ नगरी एहु मनु राजा पंच वसहि वीचारी॥९॥
सबदि रबै आसणि घरि राजा अदलु करे गुणकारी॥१०॥
कालु विकराल कहे केहि बपुरे जीवत मूआ मनु मारी॥११॥
ब्रह्मा बिसन महेस इक मूरति आपे करता कारी॥१२॥
काइआ सोधि तरै भव सागरु आतम ततु वीचारी॥१३॥
गुर सेवा ते सदा सुखु पाइआ अंतरि सबदु रविआ गुणकारी॥१४॥
आपे मेलि लए गुणदाता हउमै त्रिसना मारी॥१५॥
त्रैगुण मेटै चउथै वरतै एहा भगति निरारी॥१६॥
गुरमुखि जोग सबदि आतमु चीनै हिरदै एक मुरारी॥१७॥
मनुआँ असथिरु सबदे राता एहा करणी सारी॥१८॥
वेदु वादु न पाखण्ड न अउधू गुरुमुखि सबदि वीचारी॥१९॥
गुरुमुखि जोग कमावै अउधू जतु सतु सबदि वीचारी॥२०॥
सबदि मरे मन मारे अउधू जोग जुगति वीचारी॥२१॥
माइआ मोह भवजलु है अवधू सबदि तरै कुल तारी॥२२॥
सबदि सूर जुग चारे अवधू वाणी भगति वीचारी॥२३॥
एहु मन माइआ मोहिआ अउधू निकसै सबदि वीचारी॥२४॥
आपे बखसे मेलि मिलाए नानक सरणि तुमारी॥२५॥

शब्दार्थ—अउहठि=छोड़कर। हसत=हाथी, अहंकार। कल=कला, तेज। सोखै=सुखावै। सिंञी=सिंगी, सींग से बना हुआ बाजा। परपंच=संसार। वेणु=वेणु बाजा। परजारी=जलाई। निरारी=न्यारी। सिव नगरी=कल्याण

की नगरी। अउधू=साधु, जीव। रबै=रमै। अदलु=हुकूमत। गुणकारी=गुणवान। विकराल=भयंकर। बपुरे=तुच्छ। सोधि=शोध कर, मलिनता दूर करके। रविआ=रमकर। लए=मिला लिए। त्रैगुण=तीन गुण। चउथै=चौथा पद, सतलोक। एहा=यह। सबदि=शब्दयोग। असथिरु=स्थिर, थिर। राता=अत्यंत लवलीन होना। वादु=बहस। सूर=सूर्य। बखसे=देवे, दान करे।

भावार्थ—धरती और आकाश को अपने तेज से धारण करनेवाले प्रभु परमात्मा के हेतु मैंने अहंकारपद को छोड़कर अपनी छोटी कुटी बनायी है॥१॥ हे संतगण! उस परमात्मा के शब्दों ने बहुत गुरुमुखों का उद्धार किया है। ममता का दमन करके अहंकार को जो सुखा डालता है, हे प्रभु (परमात्मा)! वह तीनों भुवनों में आपकी व्यापक ज्योति को पाता है॥२॥ वह भक्त इच्छा का दमन करके मन में लय कर डालता है और सद्गुरु के शब्द का विचार करता है॥३॥ हे प्रभु! सब घट-घट में आपकी ज्योति है और सुरत से जाननेयोग्य सिंगी बाजा की अनहद ध्वनि भी बजती है॥४॥ ब्रह्म-अग्नि[१] को जलाकर अर्थात् दृष्टियोग-द्वारा ब्रह्म-प्रकाश को पाकर जहाँ मायिक वेणु बजता है, तहाँ मन को रखो॥५॥ पाँच तत्त्व मिलकर दीपक की निर्मल बड़ी ज्योति दिन-रात जलती रहती है[२]॥६॥ इस शरीर के अन्दर में सूर्य और चन्द्रमा का दर्शन होता है और मजीरे का न्यारा विलक्षण शब्द बजता है॥७॥ अलख, अगम और अपार कल्याणकारी नगरी—परमात्मपद में हे जीव! आसन करो॥८॥ इस शरीर में मन राजा है और विचार किया है कि इसमें पाँच मण्डल[३] हैं॥९॥ जो शब्द में रमता है, वह गुणवान उपर्युक्त धाम में आसन कर प्रमुख-लाभ करके मन राजा पर शासन करता है॥१०॥ जिसने जीते-जी मरकर मन को वश में किया है, उसको भयंकर काल क्या कर सकता है॥११॥ ब्रह्मा, विष्णु, महेश एक ही मूर्त्ति हैं अर्थात् एक ही बड़प्पनवाले हैं॥१२॥ स्वयं कर्त्ता (परम प्रभु) इनके उत्पन्न करनेवाले हैं। साधक शरीर की मलिनता को दूर करके और आत्म-तत्त्व को विचारकर संसार-सागर को पार करते हैं। प्रशंसनीय कर्म करनेवाले गुरु की सेवा में सदा सुख पाते हैं और अन्तर के शब्द में रमते हैं। जो

---

१. ये दिव्य और सूक्ष्म होने पर भी मायिक हैं।

२. साधक को पाँचो तत्त्वों के रंग अलग-अलग मालूम होते हैं, वही वहाँ की ज्योति है।

३. १. स्थूल, २. सूक्ष्म, ३. कारण, ४. महाकारण और ५.कैवल्य।

अहंकार और तृष्णा का दमन करते हैं, उन्हें गुण के देनेवाले प्रभु परमात्मा मिला लेते हैं। रज, तम, सत्त्व–तीन गुणों को पार करके चौथे पद सतलोक में पहुँचा दे, यह भक्ति न्यारी है अर्थात् मोटी भक्ति से भिन्न और विशेष है। गुरुमुख शब्द-योग-साधन से आत्मा को पहचानता है। उसके हृदय में केवल परमात्मा का ही विचार रहता है। स्थिर मन शब्द में रत रहे, यही सार कर्म (कथित न्यारी भक्ति का) है। हे लोगो! यह वेद का शास्त्रार्थ और पाखण्ड नहीं है, गुरुमुख को शब्द का विचारनेवाला होना चाहिए॥१९॥ गुरुमुख जीव यतिपन, सत्यता और शब्द-विचारी होकर योग-अभ्यास करता है॥२०॥ वह योग-युक्ति का विचार कर शब्द में मरता है और मन को वश में करता है॥२१॥ हे जीवो! यह माया-मोह संसार है, इसको शब्द-अभ्यास (सुरत-शब्द-योग) करके पार करो और कुल को तारो॥२२॥ हे जीव! संसार-रूप अंधकार को दूर करने के लिए शब्द (अनाहत नाद) चारो युगों में सूर्य है। सन्त-वचन से भक्ति का विचार कर लो॥२३॥ हे जीव! इस मन को माया ने मोहित कर लिया है। शब्द का विचार करके इस माया से निकलना चाहिए॥२४॥ हे परम प्रभु परमात्मा! तुम स्वयं दयादान दो, अपने में मेल मिला लो, नानक तुम्हारी शरण में है॥२५॥

॥ मूल पद्य ॥

काम क्रोध परहरु पर निन्दा, लबु लोभु तजि होहु निचिंदा॥
भ्रम का संगलु तोड़ि निराला, हरि अन्तरि हरि रस पाइआ॥१॥
निसि दामिनी जिउ चमकि चंदाइणु देखै, अहिनिसि जोति निरंतरि पेखै॥
आनन्द रूपु अनूपु सरूपा, गुरि पूरै देखाइआ॥२॥
सतिगुर मिलहु आपे प्रभु तारे, ससि धरि सूर दीपक गैणारे॥
देखि अदिसट रहहु लिव लागी, सभु त्रिभवणि ब्रह्मु सबाइआ॥३॥
अंम्रित रस पाए त्रिसना भउ जाए, अनभउ पदु पावै आपु गवाए॥
ऊची पदवी ऊचो ऊचा, निरमल सबदु कमाइआ॥४॥
अद्रिसटि अगोचरु नाम अपारा, अति रसु मीठा नामु पिआरा॥
नानक कउ जुगि-जुगि हरि जसु दीजै, हरि जपीऐ अन्तु न पाइआ॥५॥
अन्तरि नामु परापति हीरा, हरि जपते मनु मन ते धीरा॥
दुघट घट भउ भंजनु पाइऐ, बाहुडि जनमि न जाइआ॥६॥
भगति हेतु गुर सबदि तरंगा, हरि जसु नामु पदारथु मंगा॥
हरि भावै गुर मेलि मिलाए, हरि तारे जगतु सबाइआ॥७॥

बिनि जपु जपिउ सतिगुर मति वाके, जम कंकर कालु सेवक पग ताके॥
ऊतम संगति गति मति ऊतम, जगु भउजलु पारि तराइआ॥८॥
इहु भवजलु जगतु सबदि गुर तरीऐ, अन्तर की दुविधा अंतरि जरीऐ॥
पंच वाण ले जम कउ मारै, गगनंतरि धणखु चड़ाइआ॥९॥
साकत नरि सबद सुरति किउ पाइऐ, सबद सुरति बिनु आइऐ जाइऐ॥
नानक गुरमुख मुकति पराइणु, हरि पूरे भागि मिलाइआ॥१०॥
निरभउ सतिगुर है रखवाला, भगति परापति गुर गोपाला॥
धुनि अनन्दु अनाहदु बाजै, गुरि सबदि निरंजनु पाइआ॥११॥
निरभउ सो सिरि नाहीं लेखा, आपि अलेखु कुदरति है देखा॥
आपि अतीतु अजोनी संभउ, नानक गुरमति सो पाइआ॥१२॥
अन्तर की गति सतगुरु जाणै, सो निरभउ गुर सबदि पछाणै॥
अन्तरु देखि निरन्तरि बूझै, अनत न मनु डोलाइआ॥१३॥
निरभउ सो अभअन्तरि बसिया, अहिनिस नामि निरंजन रसिआ॥
नानक हरि जसु संगति पाइऐ, हरि सहजै सहजि मिलाइआ॥१४॥
अन्तर बाहरि सो प्रभु जाणै, रहै अलिपतु चलते घरि आणै॥
ऊपरि आदि सरब तिहु लोई, सचु नानक अंम्रित रसु पाइआ ॥ १५॥४॥२१॥

शब्दार्थ—परहरु=त्यागो। लबु=लालच। निचिंदा=निश्चिन्त। संगलु=जंजीर। निराला=न्यारा। दामिनी=बिजली। चन्दाइणु=चाँदनी। निरंतरि=सर्वदा। पेखै=देखै। गैणारे=सितारे, तारे। अदिसट=देखने के परे। लिव=लौ। सबाइआ=समाया। भउ=डर। जाए=जाता रहा। अनभउ= आत्म-पद। धीरा=पिण्डी मन को निज मन से धीरज मिलता है। दुघट=दुर्घट। तरंगा=उमंग। कंकर=किंकर। पंचवाण=पाँच ध्वनियाँ। गगनंतरि=अन्तर गगन के भीतर। धणखु=धनुष। साकत=निगुरा। पराइणु=प्रवृत्त, लगा हुआ। अतीतु=न्यारा। अजोनि संभउ=अज, अजन्मा। निरंतरि=लगातार, सघन। अभअन्तरि=अन्तर्गत। अलिपतु=निर्लेप। चलते=चंचल (मन)। लोई=लोक।

भावार्थ—काम, क्रोध और दूसरे की निन्दा करनी छोड़ दो। लोभ, लालच छोड़कर निश्चिन्त हो जाओ और भ्रम की जंजीर को तोड़कर (भ्रम से) न्यारे हो जाओ। हरि अपने अन्दर में हैं, हरिरस*

* ब्रह्म ज्योति तथा ब्रह्मनाद पाने का सुख।

प्राप्त करो ॥१॥ रात्रि (अन्धकार), बिजली की-सी चमक और चाँदनी देखै। दिन-रात सदा ज्योति ही ज्योति देखै, यह अनुपम आनन्द का स्वरूप पूरे गुरु ने दिखाया है ॥२॥ सद्गुरु से मिलो, प्रभु आप ही उद्धार करते हैं। चन्द्र (इड़ा) के घर में सूर्य (पिंगला) का मिलाप करो, दीपक (ज्योति) और तारे देखोगे। देखने से परे को देखकर लौ लगाये रहो, त्रिभुवन में सर्वत्र ब्रह्म समाया हुआ है ॥३॥ अमृत-रस (हरि-रस)* पाकर जिनकी तृष्णा और डर जाते रहे, वे आत्मपद को पाते हैं और अहंकार को छोड़ देते हैं। उनकी पदवी ऊँची-से-ऊँची होती है। पवित्र शब्द की कमाई करके यह दशा प्राप्त होती है॥४॥ देखने की शक्ति के परे तथा इन्द्रियों के ज्ञान के परे (अप्रत्यक्ष) अपरम्पार प्रभु परमात्मा का नाम है। वह प्यारा नाम है, उसका रस बहुत मीठा है। गुरु नानक कहते हैं कि हरि-यश का गान युग-युग करते रहो। हरि का जप करते रहो, हरि का अन्त नहीं ॥५॥ अन्तर में हीरा (बहुमूल्य)-रूप नाम प्राप्त होता है। हरि के जप से मन (पिण्डी मन) मन (ब्रह्माण्डी मन) को पाकर धीर और स्थिर हो जाता है। कष्ट-साध्य, डर-विनाशक (परमात्मा) को घट में प्राप्त करके पुनः जन्म नहीं होता है ॥६॥ भक्ति का कारण (अर्थात् जिसके द्वारा भक्ति होती है) गुरु-शब्द की लहर है। हरि का यश और नाम-पदार्थ को माँगो। हरि को भावेगा, गुरु से मेल मिलायेंगे। हरि सारे जगत् को तारेंगे ॥७॥ जिन्होंने जप जपा है, उनकी बुद्धि सद्गुरु के अनुकूल है। यम और काल उनके पग के गुलाम और सेवक हैं। उत्तम संग, चलन और बुद्धि संसार-सागर से तार देते हैं ॥८॥ इस संसार-सागर को गुरु के शब्द से तरते हैं। उनके अन्तर की दुविधाएँ अन्तर में भस्म हो जाती हैं। शरीर के अन्तराकाश के अन्दर धनुष चढ़ाकर अर्थात् इन्द्रियों की वृत्तियों को अन्तर्मुख खींचकर पंच ध्वनियाँ-रूप पंच शरों से यम (मृत्यु) को मारते हैं ॥९॥ निगुरा मनुष्य शब्द-सुरत की युक्ति कैसे पा सकता है? (अर्थात् नहीं पा सकता है)। बिना सुरत-शब्द-योग के आवागमन में पड़ा रहता है। गुरु नानक कहते हैं—मुक्ति के साधन में लगा हुआ पूर्ण भाग्यवान गुरु-मुख शिष्य को हरि मिलते हैं ॥१०॥ भय-रहित सद्गुरु रक्षक होते हैं, भक्ति से परमात्म-गुरु प्राप्त होते हैं, आनंदरूप अनहद ध्वनि बजती है, गुरु-शब्द से मायातीत प्रभु प्राप्त होते हैं॥११॥ उस

भय-रहित सर्वश्रेष्ठ (प्रभु) की महिमाओं का हिसाब नहीं है। वह प्रभु स्वयं अपनी लेखा-रहित शक्तियों को देखता है। वह सबसे न्यारा और अजन्मा है। गुरु नानक कहते हैं–'उस प्रभु को गुरु की बुद्धि के अनुकूल चलनेवाले शिष्य पाते हैं' ॥१२॥ अन्तर की चाल को सद्गुरु जानते हैं। वह भय-रहित गुरु परमात्मा के शब्द को पहचानते हैं और अन्तर में दर्शन करके सदा उसी की बूझ में लगे रहते हैं, दूसरी ओर मन को नहीं डुलाते हैं ॥१३॥ वह भयाभीत परमात्मा अभ्यन्तर में बसते हैं। गुरु नानक कहते हैं–'मायातीत के नाम के रसिक दिन-रात हरि-यश के गाने के संग को अर्थात् सत्संग को प्राप्त करते हैं।' उनको हरि सहज-सहज मिल जाते हैं ॥१४॥ भक्त अपने अन्दर और बाहर प्रभु को जानता है, संसार में अलिप्त रहता है, चंचल और बहिर्मुख मन को उसकी निज बैठक में लाता है। सृष्टि के ऊपरी भाग के आरम्भ से सर्वत्र तीनों लोकों में वह सत्य (प्रभु) को पाकर अमृत-रस को प्राप्त करता है, यह गुरु नानक का कथन है ॥५॥४॥२१॥

॥ मूल पद्य ॥

दुविधा बउरी मनु बउराइआ। झूठे लालचि जनमु गँवाइआ॥
लपटि रहि फुनि बन्धनु पाइआ। सतिगुरि राखे नाम दिड़ाइआ॥१॥
ना मनु मरै न माइआ मरै।
जिनु कीछु किआ सोई जाणै। सबदु विचारि भउसागरु तरै॥१॥रहाउ॥
माइआ संचि राजै अहंकारी। माइआ साथि न चलै पियारी॥
माइआ ममता है बहुरंगी। बिनु नावै को साथि न संगी॥२॥
जिउ मनु देखहि पर मनु तैसा। जैसी मनसा तैसी दसा॥
जैसा करमु तैसी लिव लावै। सतिगुरु पूछि सहज घरु पावै॥३॥
रागि नादि मनु दूजै भाइ। अन्तरि कपटु महा दुखु पाइ॥
सतिगुरु भेटै सोझी पाइ। सचै नामि रहै लिव लाइ॥४॥
सचै सबदि सचु कमावै। सची वाणी हरिगुण गावै॥
निज घरि वासु अमर पदु पावै। ता दरि साचै सोभा पावै॥५॥
गुर सेवा बिन भगति न होई। अनेक जतनु करै जो कोई॥
हउमै मेरा सबदै खोई। निरमल नाम वसै मनि सोई॥६॥

इसु जग महि सबदु करणी है सारु। बिनु सबदै होर मोह गुवारु।।
सबदै नाम रखै उरि धार। सबदे गति मति मोख दुआर।।७।।
अवर नाहीं करि देखणहारो। साचा आपि अनूपु अपारो।।
राम नाम ऊतम गति होई। नानक खोजि लहै जनि कोई।।८।।

शब्दार्थ—फुनि=पुनि, फिर। बन्धनु=बन्धन। राखे=रक्षा किये। संचि=संग्रह कर। राजै=शोभित होते। नावै=नाम। को=कोई। दसा=हालत। करमु=कर्म। रागि=प्रेम, अनुराग। नादि=शब्द। दूजै=दूसरा भाव। भाइ=हे भाई। सोझी=सूझ। दरि=दरवाजा। 'हउमै मेरा सबदे खोई। निरमल नाम वसै मनि सोई'=शब्द-अभ्यास करके जो अहंकार को गँवा देता है, उसी के मन में पवित्र नाम बसता है। होर=और। अनूप=उपमा-रहित।

भावार्थ—पगली संशयात्मिका बुद्धि ने मन को पगला बना दिया है। झूठे लालच में जन्म को गँवाया है। मन विषयों में लिपटा रहा और फिर बन्धन पाया अर्थात् फिर बन्धन में पड़ गया। (उसको) सद्गुरु नाम-भजन में दृढ़ करके रक्षा करते हैं ।।१।। न मन मरता है, न माया मरती है, *जिसने इसके लिए कुछ किया है, वही जानता है कि शब्द का विचार करके लोग संसार-सागर को तर जाते हैं ।।१।। अहंकारी पुरुष माया बटोरकर शोभित होते हैं। परन्तु यह प्यारी माया उनके संग नहीं चलती है। माया-ममता तरह-तरह की होती है, बिना (प्रभु) नाम के कोई संगी-साथी नहीं है ।।२।। लोग अपना मन जैसा देखते हैं, दूसरे के मन को भी वैसा ही समझते हैं। जैसी इच्छा होती है, वैसी ही दशा होती है। कर्म के अनुकूल लौ लगती है, सद्गुरु से जिज्ञासा करके सहज घर—आत्म-घर प्राप्त करते हैं ।।३।। हे भाई! गान-विद्या के अनुरागी द्वैत बुद्धि में रहते हैं, अपने भीतर में महादुःखदायी कपट रखते हैं। सद्गुरु से मिलकर सूझ या ज्ञान प्राप्त करते हैं और सत्यनाम में लौ लगाये रहते हैं ।।४।। सत्शब्द की सच्ची कमाई करे अर्थात् आडम्बरहीन होकर नादानुसन्धान या सुरत-शब्द-योग का अभ्यास अत्यन्त प्रेमपूर्वक करे। हरिगुण-गान के सत्शब्दों का गान करे, तो आत्मपद में बासा, अमरत्व की प्राप्ति और परमात्म-पद में असली शोभा

*मन और माया के वशीभूत नहीं रहना, बल्कि उनको अपने वश में रखना; इसी को माया और मन को मारना कहते हैं। जिसका मन और माया इस भाँति है, उसका मन और माया मृतक है।

प्राप्त करे ।।५।। चाहे कोई अनेक यत्न करे, परन्तु गुरु-सेवा के बिना भक्ति नहीं होगी। नादानु- सन्धान करके जो अहंकार को गँवा देता है, उसी के हृदय में पवित्र नाम बसता है ।।६।। इस संसार में शब्द-अभ्यास करने का कर्म ही सार है। बिना शब्द-साधन के दूसरे सब कर्म मोह और अन्धकार हैं। शब्द ही नाम है, अपने हृदय में उसे धारण कर रखे। शब्द ही गति, बुद्धि और मोक्ष का द्वार है। (अर्थात् शब्द-अभ्यास करने से गति होती है, ज्ञान प्राप्त होता है और मोक्ष प्राप्त होता है) ।।७।। अद्वैत दृष्टि से देखनेवाले अथवा समता की दृष्टि से देखनेवाले अनुपम और अपार स्वयं प्रभु परमात्मा हैं। रामनाम से उत्तम गति होती है। गुरु नानक कहते हैं कि (उस नाम को) बिरले जन खोज कर पाते ।।८।।

॥ मूल पद्य ॥

सागर महि बूंद बूंद महि सागरु, कबणु बुझै विधि जाणै।
उतभुज चलत आपि करि चीनै, आपे ततु पछाणै।।१।।रहाउ।।
अैसा गिआन विचारै कोई, तिसते मुकति परमगति होई।।
दिन महि रैणि रैणि महि दीनी, अरु उसन सीति विधि सोई।
ताकी गति मति अवरु न जाणै, गुर बिनु समझ न होई।।२।।
पुरख महि नारि नारि महि पुरखा, बूझहु ब्रह्म गिआनी।
धुनि महि धिआनु धिआन महि जानिआ, गुरमुखि अकथ कहानी।।३।।
मन महि जोति महि मनुआँ, पंच मिले गुर भाई।
नानक तिनके सद बलिहारी, जिन एक सबदि लिवलाई।।४।।

शब्दार्थ–विधि=युक्ति। उतभुज=अद्भुत। चलत=चरित्र। ततु=सार वस्तु। 'दिन महि रैणि रैणि महि दीनी अरु उसन सीति विधि सोई'= दृष्टि-योग करे। दिन–उसन–उष्म–सूर्य–गंगा–पिंगला। रैणि–सीत–रात–चन्द्र–यमुना–इड़ा। गति=चाल। पुरख महि नारि नारि महि पुरखा–पुरुष में प्रकृति और प्रकृति में पुरुष। पंच गुर भाई=पंच नाद। सद=सदा। एक=केवल, सिर्फ।

भावार्थ–समुद्र में बूँद है और बूँद में समुद्र है अर्थात् पिण्ड में ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड में पिण्ड है। इसको कौन बूझे और इसकी जानने की विधि को कौन जाने? इस आश्चर्यमय चरित्र को जानने की युक्ति को जानकर अपने से उसका अभ्यास करके इसको जो पहचानते हैं,

वे आत्म-तत्त्व को पहचानते हैं॥१॥ ऐसे ज्ञान को जो विचारते हैं, उनको मुक्ति और परम गति होती है, दृष्टियोग-द्वारा इड़ा-पिंगला का जो मिलाप करता है, उसकी चाल और बुद्धि को दूसरे नहीं जानते हैं। इसकी समझ गुरु के बिना नहीं होती ॥२॥ परम पुरुष परमात्मा में प्रकृति का पसार है और प्रकृति में वह व्यापक है। हे ब्रह्मज्ञानी! यह बूझो। ध्वनि में ध्यान हो, तो इस ध्यान में गुरु के मुख से कहा गया यह अकथनीय विषय जाना जाता है॥३॥ मन में ज्योति है, ज्योति में मन रहे, तो पाँच गुरु भाई–पाँच सहायक–पंच शब्द मिल जाते हैं। गुरु नानक कहते हैं कि जो केवल शब्द में लौ लगाते हैं, उनकी सैकड़ों बलिहारी है॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

नदरि करे ता सिमरिआ जाई। आत्मा द्रवै रहै लिवलाई॥
आतमा परातमा एको करै। अन्तरि की दुविधा अन्तरि मरै॥
गुरु परसादी पाइआ जाइ। हरि सिउ चितु लागै फिरि कालु न खाइ॥१॥ रहाउ॥
सचि सिमरिऐ होवै परगासु। ताते विखिआ महि रहै उदासु॥
सतिगुर की अैसी बड़िआई। पुत्र कलत्र बिचै गति पाई॥२॥
अैसी सेवकु सेवा करै। जिसका जीउ तिसु आगै धरै॥
साहिब भावै सो परवाणु। सो सेवक दरगह पावै माणु॥३॥
सतिगुर की मूरति हिरदै बसाए। जो ईछै सोई फलु पाए॥
साचा साहिबु किरपा करै। सो सेवक जम ते कैसा डरै॥४॥
भनति नानकु करै विचारु। साची वाणी सिउ धरै पिआरु॥
ताको पावै मोख दुआर। जपु तपु सभु इहु सबदु है सारु॥५॥

शब्दार्थ–नदरि=देखे, दृष्टि-योग करे। कलत्र=पत्नी, स्त्री। गति=मुक्ति। दरगह=दरबार। माणु=आदर। भनति=कहता है।

भावार्थ–दृष्टि-योग के द्वारा उस (परमात्मा) का भजन किया जाता है। लौ लगाये रहे, तो (चेतन) आत्मा अर्थात् सुरत परमात्मा की ओर बहे अर्थात् चले। आत्मा और परमात्मा को एक कर दे, तो अन्तर की सब दुविधाएँ अन्तर ही में विनष्ट हो जायँ॥ उपर्युक्त मिलाप की प्राप्ति गुरु के प्रसाद से होती है। परमात्मा हरि से चित्त लग जाय, तो काल फिर विनाश को नहीं पहुँचावेगा॥१॥रहाउ॥ सत्यता से भजन

करो, प्रकाश होता है। इसलिए भक्त विषयों में उदासीन रहता है। सद्‌गुरु की ऐसी बड़ाई है कि उनकी शिक्षा के अनुकूल चलनेवाला भक्त स्त्री-पुत्र आदि के संग में रहते हुए मोक्ष पाता है॥२॥ सेवक को ऐसी सेवा करनी चाहिए कि वह जिसका जीव है, उसके आगे अपने को समर्पित* कर दे। जिस भक्त को प्रभु (परमात्मा) भावें, सुहावें, प्रिय लगें, वही भक्त ठीक है और वही भक्त प्रभु के दरबार में आदर पाता है॥३॥ सद्‌गुरु की मूर्ति को हृदय में बसावे, तो जो इच्छा हो, सो फल प्राप्त करे। जिस सेवक पर सच्चा-असली प्रभु कृपा करें, तो वह सेवक यम से क्यों डरेगा? अर्थात् नहीं डरेगा॥४॥ गुरु नानक कहते हैं कि जो विचार करता है और सत्य वचन से प्रेम करता है, वह मोक्ष-द्वार पाता है। शब्द-अभ्यास करना ही सब जप-तप में सार है॥५॥

॥ मूल पद्य ॥

घर महि घरु देखाइ देइ, सो सतगुरु परखु सुजाणु।
पंच सबदु धुनिकार धुनि, तह बाजै सबदु निसाणु॥
दीप लोअ पाताल तह, खण्ड मण्डल हैरानु।
तार घोर वाजिंत्र तह, साचि तखति सुलतानु॥
सुखमन कै घरि रागु सुनि, सुन मण्डल लिव लाइ।
अकथ कथा वीचारिअै, मनसा मनहि समाई॥
उलटि कमलु अमृत भरिआ, इहु मन कतहुँ न जाइ।
अजपा जाप न बीसरै, आदि जुगादि समाइ॥
सभि सखिया पंचे मिलै, गुरमुखि निज घरि वासु।
सबदु खोजि इहु घरु लहै, नानक ताका दासु॥

शब्दार्थ–निसाणु=निशान, तीक्ष्ण, तेज। लोअ=लोक। तह=तहाँ। वाजिंत्र=बाजता। पंचे=पाँच नादों से।

भावार्थ–जो घर में घर दिखला दे, वह सुजान पुरुष सद्‌गुरु है। पाँच शब्दों की ध्वनियों का वहाँ गुंजार तीक्ष्ण शब्द के रूप में होता रहता है॥ वहाँ घर के अन्दर में अर्थात् शरीर के अन्दर शरीर में द्वीप, सब लोक, सब पाताल, सब खण्ड और सब मण्डल हैं; **यह आश्चर्य**

*अन्तर-साधन-द्वारा अपने को सब मायिक आवरणों से पार करके कैवल्य दशा में होकर अपने को समर्पित किया जा सकेगा।

है। परम प्रभु के सत्य पद से गहरे ध्वनि-गर्जन का तार बजता रहता है॥ शून्य-मण्डल में लौ लगाकर सुषुम्ना के घर में शब्द सुनो। इस अकथ कथा का विचार करो, मन की इच्छाएँ मन में विलीन हो जायँ॥ बहिर्मुख से अन्तर्मुख हो उलटकर अन्तर के मण्डल में अमृत से भर जाओ, तो यह मन वहाँ से कहीं नहीं जायगा–शान्त और स्थिर हो जायगा। अजपा जप* नहीं भूलना चाहिए, उसमें सदा समाकर रहना चाहिये॥ समस्त मित्र⁎ गण पंच शब्दों से मिले। गुरु-मुख का आत्म-पद में निवास होता है। जो शब्द की खोज करके आत्म-पद को प्राप्त करते हैं, गुरु नानक साहब कहते हैं कि मैं उनका दास हूँ॥

॥ मूल पद्य ॥

हम घरि साजन आए। साचै मेलि मिलाए॥
सहजि मिलाए हरि मन भाए, पंच मिले सुखु पाइआ।
साई वसतु परापति होई, जिसु सेती मनु लाइआ॥
अनुदिनु मेलु भइआ मनु मानिआ, घर मन्दर सोहाए।
पंच सबद धुनि अनहद बाजे, हम घरि साजन आए॥१॥
आवहु मीत पिआरे। मंगल गावहु नारे॥
सचु मंगल गावहु ता प्रभु भावहु, सोहिलड़ा जुग चारे।
अपने घरु आइआ थानि सुहाइआ, कारज सबदि सवारे॥

---

*नाक के छिद्रों में श्वास-प्रश्वास आते-जाते रहते हैं। भीतर खींचते समय 'सो' और बाहर छोड़ते समय 'हं' का आरोपण करके उसी का ख्याल करते रहने को बहुत लोग 'अजपा जप' कहते हैं, जो बिना जपे नहीं हुआ, जैसा कि 'अजपा जप' शब्द का अर्थ 'बिना जपे हुए जप' होता है। परन्तु इससे विशेष अनहद ध्वनि में सुरत रखना 'अजपा' है; क्योंकि इसमें किसी प्रकार के शब्द की भावना मन में नहीं रखनी पड़ती है और न उसके होने के लिए श्वास-प्रश्वास की तरह की स्थूल वायु की आवश्यकता रहती है। यह अनहद ध्वनि भावना-विशेष से नहीं बनती है और न यह आरोपित ध्वनि है। यह तो वह सहज ध्वनि है, जिसे साधक गुरु-गम होकर अपने अन्दर में ग्रहण करता है। 'जाप अजपा हो सहज धुन परख गुरु-गम धारिये।' –सन्त कबीर साहब। 'अनहद अपने साथ है, अजपा ताको नाम। अमल करो अपनाइ के, अमर नाम घर ठाम॥' –श्रीलक्ष्मीपतिजी महाराज।

⁎गुरु नानकदेवजी के मित्र उन्हीं की तरह के सन्तों को जानने चाहिये।

गिआनु महारसु नेत्री अंजनु, त्रिभुवन रूप दिखाइआ।
सखी मिलहु रसि मंगल गावहु, हम घरि साजनु आइआ॥२॥
मनु तनु अंम्रित भिना। अंतरि प्रेमु रतंना॥
अंतरि रतनु पदारथु मेरे, परम ततु वीचारो।
जंत भेख तू सफलिउ दाता, सिरि सिरि देवणहारो॥
तू जानु गिआनी अंतरजामी, आपे कारणु कीना।
सुनहु सखी मनु मोहनि मोहिआ, तनु मन अंम्रित भीना॥३॥
आतम राम संसारा। साचा खेलु तुमारा॥
सचु खेलु तुमारा अगम अपारा, तुधु बिनु कउण बुझाए।
सिध साधिक सिआणे केते, तुधु बिनु कवणु कहाए॥
कालु विकाल भए देवाने, मनु राखिआ गुरि ठाए।
नानक अवगण सबदि जलाए, गुण संगमि प्रभु पाए॥४॥

शब्दार्थ—साई=सोई। नारे=उच्च स्वर से। सोहिलड़ा=एक रागिनी। जंत=जीव। सफलिउ दाता=अच्छा फल देनेवाला। जानु=ज्ञाता। विकाल=विकराल, भयंकर। ठाए=पास, स्थान में। संगमि=संग, साथ।

भावार्थ—हमारे घर में (सन्त) सज्जन आए और उन्होंने हमको सत्य (परमात्मा) से मेल-मिलाप कराया॥ उन्होंने यह मेल-मिलाप सुगमता से ही कराया। वह सत्य परमात्मा-हरि मन को बहुत अच्छे लगे और पंच नादों के मिलने से सुख प्राप्त हुआ। वही वस्तु प्राप्त होती है, जिससे मन लगाया जाता है। प्रतिदिन वह मिलाप होता रहता है, इसमें मन मान गया है अर्थात् राजी हो गया है, और घर-मन्दिर सब सुहावने हो गए हैं। अनहद ध्वनि के पाँचों शब्द बजते हैं। हमारे घर में सन्त-सज्जन आए हैं॥१॥ हे मित्र प्यारे! आओ, उच्च स्वर से मंगल गाओ॥ सोहिलड़ा राग में सत्य मंगल का गान करो, जिससे चारो युगों में प्रभु को पाओगे। शब्द-साधना से अपना काम बनाकर निज घर में आते हैं, जो स्थान सुहावना लगता है। ज्ञान का महारस आँख का अंजन (सुरमा) है, जिससे त्रिभुवन का रूप देखने में आता है। मित्रो! मिलो, रस-मंगल गाओ, हमारे घर में सज्जन आए हैं॥२॥ मेरा मन और शरीर अमृत से भींगे हुए हैं, अन्दर में प्रेम का रत्न है और परम तत्त्व का विचार भी मेरे अन्दर में रत्न पदार्थ है। हे प्रत्येक को देनेहारे! सब जीवों

और वेशों का तू सफल दाता है॥ हे अन्तर्यामी ज्ञाता! तूने अपने आपको सारी सृष्टि का कारण बनाया है। सुनो मित्रो! मन को मोहित करनेवालों ने मोह लिया है, तन-मन अमृत से भींगा हुआ है॥३॥ हे संसार के आत्मा राम! आपका खेल सत्य है। आपका खेल सत्य है, आप अगम अपार हैं, आपके बिना कौन बुझा-समझा सकता है? सिद्ध-साधक और चतुर कितने हैं? अर्थात् बहुत हैं। आपकी कृपा के बिना कौन ऐसे कहलाते हैं। अर्थात् आप ही की कृपा से सिद्ध-साधक और चतुर कहलाते हैं॥ भयंकर काल मस्त हो गया है, मैंने अपने मन को गुरु के पास में रखा है। गुरु नानक कहते हैं, मैंने अवगुणों को शब्द में जला दिया है और सद्‌गुण को धारण करके प्रभु को पाया है॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

जैसे जल महि कमलु निरालमु, मुरगाई नैसाणै।
सुरति सबदि भवसागरु तरीऐ, नानक नामु बखाणै॥
रहहिं एकान्ति एको मनि बसिआ, आसा माहिं निरासो।
अगमु अगोचरु देखि दिखाए, नानक ताका दासो॥

भावार्थ—जैसे जल में कमल और पनडुब्बी चिड़िया निर्लेप रहते हैं, उसी तरह संसार में रहकर सुरत-शब्द (नादानुसन्धान) का अभ्यास करके संसार-सागर को तरना चाहिए। गुरु नानक साहब कहते हैं कि मैं नाम-भजन का वर्णन करता हूँ अर्थात् गुरु नानक साहब के अनुकूल सुरत-शब्द का अभ्यास करना नाम-भजन करना है॥ केवल परमात्म-चिन्तन ही एक मन में रखकर जो एकान्त रहते हैं, आशा में निराश रहते हैं और बुद्धि तथा इन्द्रियों की पहुँच से परे को आत्मा से देखते हैं, और दिखलाते हैं, गुरु नानक साहब कहते हैं कि मैं उनका दास हूँ।

॥ मूल पद्य ॥

बिनु सतिगुर सेवे जोगु न होई।
बिनु सतिगुर भेटे मुकति न कोई॥
बिनु सतिगुर भेटे नामु पाइआ न जाइ।
बिनु सतिगुर भेटे महादुखु पाइ॥
बिनु सतिगुर भेटे महा गरबि गुबारि।
नानक बिनु गुर मूआ जनमु हारि॥

शब्दार्थ—गरबि=अहंकार। गुबारि=धुँधला।

अर्थ—बिना सद्गुरु की सेवा किए योग-साधन नहीं होता है। सद्गुरु की प्राप्ति के बिना मोक्ष नहीं मिलता॥ सद्गुरु की प्राप्ति के बिना ईश्वर का नाम नहीं प्राप्त किया जाता। (नाम से यहाँ वर्णात्मक तथा अन्तर-साधन से उपलब्ध ध्वन्यात्मक शब्द दोनों ही समझने चाहिए।) सद्गुरु की प्राप्ति के बिना मनुष्य जनमने-मरने का महादुःख पाता रहता है॥ सद्गुरु की प्राप्ति के बिना अत्यन्त अहंकार और अन्धकार में जीव पड़ा रहता है। गुरु नानकदेवजी कहते हैं कि सद्गुरु के नहीं भेंटने से जीव व्यर्थ ही मर जाता है और मनुष्य-जन्म पाकर जो परम फल—मोक्ष पाना चाहिए, उससे वंचित रह जाता है॥

॥ मूल पद्य ॥

ज्ञान बोलै आपै बूझै, आपै समझै आपै सूझै।
गुरु का कहिया अंक समावै, निर्मल सूचै साँचौ माने॥
गुरु सागर रतनी नहिं टोट, लाल पदारथ साँच अखोट।
गुरु कहिया सा कार कमावहु, गुरु की करनी काहे धावहु॥
नानक गुरमति साँचु कमावहु।

पद्यार्थ—आत्म-अनुभव-प्राप्त पुरुष ज्ञान बोलता है, उसे आप ही बूझता, आप ही समझता है और तत्सम्बन्धी तत्त्व उसको आप ही सूझता है। वह गुरु की कही हुई गोद में समाता है अर्थात् परमात्म-पद में समाता है और मल-रहित पवित्र सत्य को मानता है॥ गुरु-रूपी समुद्र के रत्नों को लेने में हानि नहीं होती है। उसमें लाल पदार्थ अर्थात् बहुमूल्य रत्न या हीरा बिना किसी दोष या ओछाई के सत्य है। जो गुरु के कहे हुए कर्त्तव्य हैं, उन कर्त्तव्यों की कमाई करो। गुरु-आज्ञा की करनी में रहकर क्यों दौड़ोगे या हैरान होओगे? अर्थात् नहीं हैरान होओगे॥ गुरु नानक कहते हैं कि हे गुरु की बुद्धि के अनुकूल चलनेवाले! सत्य की कमाई करो।

॥ गुरु नानक साहब की वाणी समाप्त ॥

संत दादू दयालजी की वाणी

॥ मूल पद्य, साखी ॥

निराधार निज देखिये, नैनहु लागा बन्द।
तहँ मन खेलै पीव सौं, दादू सदा अनन्द॥१॥

भावार्थ—आँखों को बन्द करके अपने निराधार (दृष्टि-विन्दु) को देखना चाहिए। वहाँ मन परमात्मा-प्रभु (अणोरणीयाम्—अणु या छोटे-से-छोटा अर्थात् ज्योतिर्विन्दु परमात्म-विभूति-रूप) के साथ खेलेगा और सदा आनन्दित होगा॥१॥

॥ मूल पद्य ॥

नैनहुँ आगें देखिये, आतम अन्तर सोइ।
तेज पुंज सब भरि रह्या, झिलमिल झिलमिल होइ॥२॥

भावार्थ—वह दर्शन अपने अन्दर आँख के सामने देखना चाहिए। समस्त मण्डल प्रकाश-पुंज से भरा हुआ है और झिलमिल झिलमिल होता है॥२॥

॥ मूल पद्य ॥

अनहद बाजे बाजिये, अमरापुरी निवास।
जोति सरूपी जगमगै, कोइ निरखै निज दास॥३॥

भावार्थ—अनहद बाजा बजता है, (सुननेवाले का) अमरपुर—मोक्ष-पद में निवास होता है। ज्योति-स्वरूपी जगमगाता है, परमात्मा-प्रभु को कोई निज दास देखता है॥३॥

॥ मूल पद्य ॥

सबद अनाहद हम सुन्या, नख सिख सकल सरीर।
सब घटि हरि-हरि होत है, सहजै ही मन थीर॥४॥

भावार्थ—मैंने अनाहत शब्द सुना है। जो हरि-ध्वनि* समस्त शरीर में नख से शिख तक हो रही है, उसके सुनने से मन सहज ही थिर हो जाता है॥४॥

---

*अन्तर के ध्वन्यात्मक अनहद शब्दों को हरि-हरि शब्द कहा गया है। वे शब्द हरि-परमात्मा की ओर सुरत को खींचते हैं। शब्द बहुत मधुर होते हैं। इसकी मधुरता को पाकर मन चंचलता को छोड़ देता है।

॥ मूल पद्य ॥

सबदैं सबद समाइले, पर आतम सों प्राण।
यहु मन मन सौं बाँधि ले, चित्तैं चित्त सुजाण॥५॥

भावार्थ–शब्द के द्वारा अपने को शब्द में समा लो। परमात्मा से अपना प्राण मिला लो। पिण्डी मन को ब्रह्माण्डी मन से बाँध लो और हे सुजान! अन्तःकरणस्थ चेतना–चित्त को निर्मल चेतन में मिला दो॥५॥

॥ मूल पद्य ॥

दृष्टै दृष्टि समाइले, सुरतैं सुरत समाइ।
समझैं समझि समाइले, लै सों लै ले लाइ॥

भावार्थ–दृष्टि को दृष्टि में समा लो, मन-सहित सुरत को मन-रहित सुरत में समा लो। बुद्धि-बोध को आत्म-बोध में समा लो और ध्यान में डूबकर लौ लगाते हुए लौलीन हो जाओ॥

॥ मूल पद्य ॥

जोग समाधि सुख सुरति सौं, सहजै सहजै आव।
मुक्ता द्वारा महल का, इहै भगति का भाव॥

भावार्थ–सुरत से योगाभ्यास की समाधि का सुख धीरे-धीरे आता है। भक्ति भाव यही है कि मुक्ति-महल का द्वार प्राप्त हो॥

॥ मूल पद्य ॥

सहज सुन्नि मन राखिये, इन दुन्यूँ के माहिं।
लय समाधि रस पीजिये, तहाँ काल भय नाहिं॥

भावार्थ–(इड़ा-पिंगला) इन दोनों के मध्य के स्वाभाविक शून्य में मन को रखना चाहिये। वहाँ लय-समाधि का सुख पान कीजिये, वहाँ काल का डर नहीं है।

॥ मूल पद्य ॥

सुन्नहिं मारग आइया, सुन्नहिं मारग जाइ।
चेतन पेंड़ा सुरति का, दादू रहु ल्यौ लाइ॥

भावार्थ–सुरत शून्य-मार्ग से आयी है और शून्य के मार्ग से ही जाती है। शून्य में वह मार्ग चेतन-धार (ज्योति और शब्द-रूप) का है।

दादू दयालजी कहते हैं कि लौ लगाये रहो अर्थात् ध्यान करते रहो।

॥ मूल पद्य ॥

सुरत समाइ सनमुख रहै, जुगि जुगि जन पूरा।
दादू प्यासा प्रेम का, रस पीवै सूरा॥

भावार्थ—जिसकी सुरत बहिर्मुख से मुड़, अन्तर में समा सम्मुख में रहे, वह भक्त जन युग-युग में पूर्ण है। यह प्रेम का प्यासा शूरमा भक्त भक्ति-रस पीता है अर्थात् भक्ति का सुख प्राप्त करता है॥

॥ मूल पद्य ॥

दादू उलटि अपूठा आप में, अंतरि सोधि सुजाण।
सो ढिग तेरी बावरे, तजि बाहिर की बाण॥

शब्दार्थ—अपूठा=अपरिपक्व।

भावार्थ—दादू दयालजी कहते हैं कि साधन में अपरिपक्व को चाहिये कि बहिर्मुख से अपने अन्दर में उलटे। हे सुजान लोगो! अपने अन्तर की खोज करो। (हे बहिर्मुखी) पागल! वह प्रभु तुम्हारे पास है। बाहर खोजने की आदत छोड़ दो॥

॥ मूल पद्य ॥

सुरति अपूठी फेरि कर, आतम माहैं आण।
लागि रहै गुरुदेव सौं, दादू सोइ सयाण॥

भावार्थ—दादू दयालजी कहते हैं कि हे साधन में अपरिपक्व लोग! बहिर्मुख से सुरत को फेरकर अपने अन्दर में लाओ। जो गुरुदेव के साथ लगे रहते हैं अर्थात् जो गुरुदेव के सत्संग में लगे रहते हैं, वे चतुर हैं॥

॥ मूल पद्य ॥

सुरति सदा सनमुख रहै, जहाँ तहाँ लैलीन।
सहज रूप सुमिरण करै, निहकर्मी दादू दीन॥

भावार्थ—दादू दयालजी कहते हैं कि जो जहाँ-तहाँ रहते हुए सुरत को सम्मुख में रखते हैं और ध्यान में लौलीन रहते हैं, वे सहज में सुमिरण करते हैं। वे कर्म-फल-रहित हैं और दीनता से रहते हैं॥

॥ मूल पद्य ॥

सुरति सदा स्यावित रहै, तिनके मोटे भाग।
दादू पीवै रामरस, रहै निरंजन लाग।।

भावार्थ—दादू दयालजी कहते हैं कि जिनकी सुरत सदा स्थिर रहती है, उनका भाग्य बड़ा है। वे राम-रस (ब्रह्म-रस) पीते हैं और (मायातीत) परमात्मा में लगे रहते हैं॥

॥ मूल पद्य ॥

सब काहू को होत है, तन मन पसरै जाइ।
ऐसा कोई एक है, उल्टा माहिं समाइ ।।१।।
क्यों करि उल्टा आणिये, पसरि गया मन फेरि।
दादू डोरी सहज की, यौं आणै घेरि घेरि ।।२।।
साध सबद सौं मिलि रहै, मन राखै बिलमाइ।
साध सबद बिन क्यौं रहै, तब हीं बीखरि जाइ ।।३।।
तन में मन आवै नहीं, निस दिन बाहरि जाइ।
दादू मेरा जिव दुखी, रहै नहीं ल्यौ लाइ ।।४।।
कोटि जतन करि करि मुए, यहु मन दह दिसि जाइ।
राम नाम रोक्या रहै, नाहीं आन उपाइ ।।५।।
मन हीं सन्मुख नूर है, मन हीं सन्मुख तेज।
मन हीं सन्मुख जोति है, मन हीं सन्मुख सेज ।।६।।
मन हीं सौं मन थिर भया, मन हीं सौं मन लाइ।
मन हीं सौं मन मिलि रह्या, दादू अनत न जाइ ।।७।।
सबदैं बन्ध्या सब रहै, सबदैं सब ही जाइ।
सबदैं ही सब ऊपजै, सबदैं सबै समाइ ।।८।।
सबदैं ही सूषिम भया, सबदैं सहज समान।
सबदैं ही निर्गुण मिलै, सबदैं निर्मल ज्ञान ।।९।।
एक सबद सब कुछ किया, ऐसा समरथ सोइ।
आगै पीछैं तौं करे, जे बलहीणा होइ ।।१०।।
जंत्र बजाया साजि करि, कारीगर करतार।
पंचौं कारज नाद है, दादू बोलणहार ।।११।।

पंच ऊपना सबद थैं, सबद पंच सौं होइ।
साईं मेरे सब किया, बूझै बिरला कोइ॥१२॥
सबद जरै सो मिलि रहै, एकै रस पूरा।
काइर भाजै जीव ले, पग माँड़ै सूरा॥१३॥

भावार्थ—तन-मन में पसर जाना, ऐसा सब किसी को होता है; परन्तु ऐसे कोई-कोई होते हैं, जो उलटकर अपने अन्दर में समाते हैं॥१॥ मन को बहिर्मुख से उलटाकर अन्तर्मुख कैसे लावें? यह मन फिर बहिर्मुख फैल गया। दादू दयालजी कहते हैं कि स्वाभाविक (शब्द-) धारा में मन को लगाकर उसे बाहर से घेर-घेरकर इस तरह अन्दर में लावै॥२॥ साधक अन्तर्नाद से मिलकर रहें, तो मन को अन्तर में विलम्ब से ठहराकर रखें। साधक शब्द के बिना क्यों रहता है? शब्द में बिना लगे हुए मन बिखर जाता है॥३॥ यह मन दिन-रात बाहर-बाहर भागता है, शरीर के अन्दर नहीं आता है—लौ लगाकर अन्दर में नहीं रहता है। दादू दयालजी कहते हैं कि इससे मेरा जीव दुःखी है॥४॥ करोड़ों जतन करके थकते-मरते हैं, परन्तु यह मन अन्तर्मुख में एकाग्र भाव को छोड़कर दसो दिशाओं में भाग जाता है। रामनाम (ऊपर-कथित सर्वव्यापक अन्तर्नाद) से रुका हुआ रहता है, दूसरा यत्न नहीं है॥५॥ मन के सम्मुख ही प्रकाश है और आराम का स्थान है॥६॥ दादू दयालजी कहते हैं कि तन-मन (पिण्डी मन) को निज-मन—आत्ममुखी मन (ब्रह्माण्डी मन) से लगाकर मन के सहारे मन स्थिर हो गया। अब दूसरी जगह नहीं जाता है॥७॥ शब्द से बँधे हुए सब रहते हैं, शब्द में ही सब जाते हैं। शब्द से ही सब उत्पन्न होते हैं और शब्द में ही समा जाते हैं॥८॥ शब्द-अभ्यास द्वारा ही वृत्ति सूक्ष्म होती है, शब्द-द्वारा ही आसानी से अन्तर में समाव होता है, शब्द-द्वारा ही निर्गुण ब्रह्म मिलते हैं और शब्द-द्वारा ही पवित्र ज्ञान मिलता है॥९॥ प्रभु परमात्मा ऐसा समर्थ है कि एक ही शब्द से उन्होंने सब रचना की है। एक के बाद दूसरा आगे-पीछे जो करता है, वह शक्तिहीन होता है॥१०॥ दादू दयालजी कहते हैं कि ब्रह्माण्ड और पिण्ड-रूपी यन्त्रों को कारीगर परमात्मा ने व्यवस्थित रूप से संगठित कर बनाया है और उनमें पाँचो नाद अपने-अपने कारणों के सहित हैं॥११॥ सृष्टि के पाँच मण्डल शब्द से उत्पन्न हुए हैं और उनके पाँचो केन्द्रों से शब्द होते हैं। मरे प्रभु ने यह सब किया है। इसको कोई बिरले ही बूझते हैं॥१२॥ जो शब्द में जल जाता है अर्थात् शब्द-अभ्यास

करते-करते जो द्वैत भाववाले अपने आपा को उसमें जला देता है, वह परमात्मा से मिलकर रहता है। परन्तु इस काम के करने में जो साहसहीन है—जो कायर है, वह इस काम से भागता है और जो शूरमा है, वह इस साधन में जमा रहता है अर्थात् दृढ़ता से साधन करता है॥१३॥

॥ मूल पद्य ॥

नीके राम कहतु है बपुरा॥
घर माहैं घर निर्मल राखै, पंचौं धोवै काया कपरा॥टेक॥
सहज समरपण सुमिरण सेवा, तिरवेणी तट संयम सपरा।
सुन्दरि सन्मुख जागण लागी, तहँ मोहन मेरा मन पकरा॥१॥
बिन रसना मोहन गुण गावै, नाना वाणी अनभै अपरा।
दादू अनहद ऐसैं कहिये, भगति तत्त यहु मारग सकरा॥२॥

भावार्थ—ज्ञान-बल-हीन दीन लोग अच्छा करते हैं कि वे 'राम-राम' कहते हैं। उन्हें चाहिए कि घर में घर को पवित्र रखें और पाँचो शरीर-रूप कपड़े को धोवैं*॥ इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के मिलन-स्थान पर सुरत जमाकर मन और इन्द्रियों को स्वाधीन करने में सफल होने का सहज साधन-रूप सुमिरण-सेवा परम प्रभु परमात्मा को समर्पित करनी चाहिए। इस साधन से सुरत-सुन्दरी सम्मुख में जगने⁕ लगती है। वहाँ (उपर्युक्त संगम के स्थान पर) मेरे मन को आकृष्टकारी परमात्मा मोहन ने पकड़ लिया॥१॥ निम्नकोटि की (अपरा) जड़ प्रकृति के मण्डलों की अनुभव-गम्य नाना अनहद ध्वनियों के द्वारा वह मोहन बिना जिह्वा के ही अपना गुण प्रकट• करता है। दादू दयालजी कहते हैं कि अनहद ध्वनियाँ भक्ति के सार-रूप हैं तथा यह शब्द-मार्ग सूक्ष्म है॥२॥

---

*स्थूल शरीर में सूक्ष्म, सूक्ष्म में कारण, कारण में महाकारण और महाकारण में कैवल्य शरीर है—इस तरह घर में घर है। शौच से स्थूल को, सूक्ष्म के ऊपर से स्थूल, कारण के ऊपर से सूक्ष्म, महाकारण के ऊपर से कारण और कैवल्य के ऊपर से महाकारण के उतर जाने ही से घर में घर को पवित्र रखना और पाँचो काया-रूप कपड़े को धोना है।

⁕उपर्युक्त रीति से भजन करनेवाले साधक को सम्मुख जगने का बोध आप होता है। बहिर्मुख से मुड़ाव और अन्तर्मुख में संलग्नता ही जगना है।

•इन ध्वनियों को अवगत कर लेने पर परमात्म-स्वरूप की प्रत्यक्षता की ओर अभ्यासी का उत्तरोत्तर आरोहण होता है और परमात्मा की प्रभुता उसको प्रत्यक्ष रूप में विदित होती जाती है।

॥ मूल पद्य ॥

जोगिया बैरागी बाबा। रहै अकेला उनमनि लागा॥
आतमा जोगी धीरज कंथा। निहचल आसण आगम पंथा॥
सहजैं मुद्रा अलख अधारी। अनहद सिंगी रहणि हमारी॥
काया बनखंड पाँचौं चेला। ज्ञान-गुफा में रहै अकेला॥
दादू दरसन कारनि जागै। निरंजन नगरी भिष्या माँगै॥

शब्दार्थ—आगम=मिलाप। रहणि=प्रेम।

भावार्थ—योगी वैरागी बाबा उन्मनी में (मनोलय की मुद्रा में) संलग्न रहते हुए अकेले रहते हैं॥ जीवात्म-भाव में जीवात्म-रूप से वे योगी बने रहते हैं, धैर्य की गुदड़ी पहने रहते हैं, अचल आसन से बैठते हैं और प्रभु परमात्मा से मिलाप के रास्ते पर वे चलते रहते हैं॥ वे सहज ढंग से अलख प्रभु के अवलम्ब से रहते हैं और अनहद ध्वनि की सिंगी में प्रेम रखते हुए रहते हैं॥ पाँचो ज्ञान-इन्द्रियों को चेला बनाकर अर्थात् वश में रखकर काया-रूपी जंगल की ज्ञान-गुफा में वे अकेले रहते हैं॥ दादू दयाल साहब कहते हैं कि वे दर्शन के वास्ते जगते हैं और निर्मायिक पद में भिक्षा माँगते हैं॥

॥ मूल पद्य ॥

मेरा मन के मन सौं मन लागा। सबद के सबद सौं नाद बागा॥टेक॥
स्त्रवण के स्त्रवण सुणि सुख पाया। नैन के नैन सौं निरखि राया॥१॥
प्राण के प्राण सौं खेलि प्राणी। मुख के मुख सौं बोलि वाणी॥२॥
जीव के जीव सौं रंगि राता। चित्त के चित्त सौं प्रेम माता॥३॥
सीस के सीस सौं सीस मेरा। देखि रे दादूवा भाग तेरा॥४॥

भावार्थ—मन के मन (चेतन) से मेरा मन लगा। शब्द के शब्द (चेतन ध्वनि) से लगकर शब्द का जामा—लम्बा कुरता पहना॥ कान के कान (सुरत) से सुनकर सुख प्राप्त किया। नेत्र के नेत्र (आत्म-दृष्टि) से प्रभु को देखा॥१॥ हे प्राणी! प्राणवायु के प्राण (चेतन-धार) द्वारा साधन करो। मुँह के मुँह (चेतन) से वचन बोलो अर्थात् चेतन की प्रत्यक्षता पाकर मुँह से वचन कहो॥२॥ जीव के जीव (आत्मा) से परमात्म-रंग में संलग्न रहो। चित्त के चित्त (चेतन) से प्रभु में माते हुए रहो॥३॥ जड़ शीश के शीश (चेतन) से मेरा शीश (सुरत) लगा है। दादू

दयालजी अपने को कहते हैं कि दादूवा! यह तेरा अहोभाग्य है॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

आरती जग जीवन तेरी। तेरे चरन कँवल पर वारी फेरी ।।टेक।।
चित चाँवरी हेत हरि ढारै। दीपक ज्ञान जोति विचारै ।।१।।
घण्टा शब्द अनाहद बाजै। आनन्द आरति गगना गाजै ।।२।।
धूप ध्यान हरि सेती कीजै। पुहुप प्रीति हरि भाँवरि लीजै ।।३।।
सेवा सार आतमा पूजा। देव निरंजन और न दूजा ।।४।।
भाग भगति सौं आरति कीजै। इहि विधि दादू जुग-जुग जीजै ।।५।।

भावार्थ—हे संसार के जीवन परमात्मन्! तेरी आरती हो। तेरे चरण-कमल पर मैं अपने को न्योछावर करता हूँ। हे हरि! आपके हेतु मैं चित्त का चँवर डुलाता हूँ और सत्य-असत्य-निर्णयकारी ज्ञान की दीपक-ज्योति अर्पित करता हूँ॥१॥ अनहद घण्टा शब्द बजता है और इस तरह यह आनन्द-आरती गगन में ध्वनित होती है।।२।। हरि-ध्यान-अभ्यास-रूप धूप अर्पित कीजिए और प्रेम का फूल अर्पित कर हरि-प्रेम में तल्लीन रहना-रूप परिक्रमा कीजिए॥३॥ और दूसरे किसी का नहीं, केवल मायातीत देव का सार पूजन आत्म-समर्पण है॥४॥ दादू दयालजी कहते हैं कि प्रेम-भक्ति से आरती कीजिए और इस तरह युग-युग जीते रहिए॥५॥

॥ मूल पद्य ॥

दादू जानै न कोई, सन्तन की गति गोई ।।टेक।।
अविगत अन्त अन्त अन्तर पट, अगम अगाध अगोई ।
सुन्नी सुन्न सुन्न के पारा, अगुन सगुन नहिं दोई ।।१।।
अण्ड न पिण्ड खण्ड ब्रह्मण्डा, सूरत सिन्ध समोई ।
निराकार आकार न जोती, पूरन ब्रह्म न होई ।।२।।
इनके पार सार सोइ पइहैं, मन तन गति पति खोई ।
दादू दीन लीन चरनन चित, मैं उनकी सरनोई ।।३।।

शब्दार्थ—अगोई=अकथनीय, वर्णनातीत।

भावार्थ—दादू दयालजी कहते हैं कि सन्तों की गति छिपी हुई है, जिसको सर्वसाधारण में से कोई नहीं जानता है। उनकी गति

अन्तर-पट के अन्त में, बुद्धि से परे, वर्णनातीत और अथाह सर्वव्यापी परमात्मा तक है, जो तीन शून्यों[१] के पार में और निर्गुण-सगुण दोनों ब्रह्म-रूपों से परे है[२]॥१॥ वह परमात्मा ब्रह्माण्ड-रूप, ब्रह्माण्ड का खण्ड-रूप और पिण्ड-रूप नहीं है। उसमें चेतन का समुद्र समाया हुआ है। वह आकार और ज्योति-विहीन है[३] और वह पूर्ण ब्रह्म[४] भी नहीं है॥२॥ इनके पार (पूर्ण ब्रह्मपद के पार, साकार और ज्योति के पार, ब्रह्माण्ड और पिण्ड के पार, तीन शून्यों के पार और निर्गुण-सगुण के पार) वह सार पदार्थ है। जो मन, तन, गति (चाल) और पति (सांसारिक प्रतिष्ठा) को खोयेंगे, वे उसको पायेंगे। दादू दयालजी कहते हैं कि दीन होकर अपने चित्त को उस प्रभु के चरणों में लगाते हुए मैं उनकी शरण में हूँ॥३॥

॥ मूल पद्य ॥

सतसंगति मगन पाइये। गुर परसादैं राम गाइये॥टेक॥
आकाश धरनि धरीजै, धरनी आकाश कीजै।
सुन्नि माहैं निरखि लीजै॥१॥
निरखि मुकताहल माहैं आइर आयो।
अपने पिया हौं धावत खोजत पायो॥२॥
सेचि साइर अगोचर लहिये।
देव देहरे माहैं कौन कहिये॥३॥
हरि कौ हितारथ ऐसौ लखै न कोई।
दादू जे पीव पावै अमर होई॥४॥

अर्थ—जब अपने को सत्संग में संलग्न पाइए, तब गुरु के प्रसाद से राम का भजन कीजिए॥ आकाश में हठपूर्वक रहिए अर्थात् धरना दीजिए, आकाश को आधार बनाइए और आकाश के अन्दर देख

१. अन्धकाराकाश, प्रकाशाकाश तथा शब्दाकाश।
२. जड़—त्रयगुणात्मिका मूल अपरा प्रकृति अथवा क्षर पुरुष—सगुण।
चेतनात्मिका परा प्रकृति, अक्षर पुरुष—निर्गुण।
३. प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं चिदात्मकम्।
अतद्व्यावृत्ति रूपोऽसौ समाधिर्मुनि भावितः॥ (मुक्तिकोपनिषद्)
४. सारे प्रकृति-मण्डल में व्यापक परमात्म-अंश ही पूर्ण ब्रह्म कहलाता है। प्रकृति-मण्डल के बाहर, व्याप्य-विहीन, अनादि, अनन्त परमात्म-स्वरूप को पूर्ण ब्रह्मपद से उच्च माना जाता है।

लीजिए॥१॥ मोती* को देखकर जीवन प्राप्त हुआ अर्थात् अध्यात्म-जीवन प्राप्त हुआ। अपने प्रभु को मैंने शीघ्रता से चलकर प्राप्त किया॥२॥ सोच-विचारकर अर्थात् अच्छी तरह मनन करके इन्द्रियातीत समुद्र को प्राप्त कीजिए। उस अगोचर समुद्र को अर्थात् परम प्रभु परमेश्वर को संसार के देवालयों में प्राप्त करने को कौन कहता है?॥३॥ उस हरि का, यथार्थ में उन देवालयों में कोई नहीं दर्शन पाता है। दादू दयालजी कहते हैं कि जो प्रभु को पाता है, वह अमर होता है॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

आप आपण में खोजौ रे भाई। वस्तु अगोचर गुरू लखाई।।टेक॥
ज्यूँ दही विलोयें माखन आवै। त्यों मन मथियाँ तें तत पावै॥१॥
काठ हुतासन रह्या समाई। त्यूँ मन माहिं निरंजन राई॥२॥
ज्यूँ अवनी में नीर समाना। त्यूँ मन माँहि साच सयाना॥३॥
ज्यूँ दर्पण के नहिं लागै काई। त्यूँ मुरति माहैं निरखि लखाई॥४॥
सहजैं मन मथियाँ ते तत पाया। दादू उन तौ आप लगाया॥५॥

अर्थ—(इस पद्य में सन्त दादू दयालजी ने विविध उपमान-प्रमाणों के द्वारा यह समझाने की चेष्टा की है कि ईश्वर की प्राप्ति कहाँ और कैसे होती है। वे कहते हैं—) हे भाई! अपने को अपने में खोजो। वह इन्द्रियों के ज्ञान में नहीं आनेवाली वस्तु गुरु ने लखायी है। तात्पर्य यह कि अपनी खोज और पहचान के बिना ईश्वर की खोज और पहचान नहीं हो सकती॥टेक॥ जिस प्रकार दही के मथने से मक्खन निकलता है, उसी प्रकार मन के मंथन से तत्त्व अर्थात् सार वस्तु की प्राप्ति होती है॥१॥ जैसे लकड़ी में अग्नि व्यापक है, उसी भाँति मन में माया-रहित अर्थात् शुद्ध चेतन के स्वामी सर्वेश्वर (परमात्मा) हैं॥२॥ जैसे पृथ्वी में पानी समाया हुआ है, उसी प्रकार हे चतुर जन! मन में सत्य है॥३॥ जैसे शीशे में काई नहीं लगती, वैसे ही वह काई-हीन निरंजन साधन की दृष्टि से लौलीनता-पूर्वक देखने पर शरीर-रूप मूर्त्ति में देखा जाता है॥४॥ दादू दयालजी कहते हैं कि स्वाभाविक डोर यानी शब्द की डोरी

*मेरी नजर में मोती आया है।
है तिल के तिल के तिल भीतर, विरले साधू पाया है॥
—सन्त कबीर साहब
श्याम कंज लीला गिरि सोई। तिल परिमाण जान जन कोई॥
—सन्त तुलसी साहब

अर्थात् सुरत-शब्द-योग के द्वारा मन का मंथन करके सार वस्तु को प्राप्त किया। उन सार वस्तु-रूप परमात्मा ने तो अपने में मुझको लगा लिया॥५॥

॥ सन्त दादू दयालजी की वाणी समाप्त ॥

सन्त चरणदासजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

ऐसा देश दिवाना रे लोगो, जाय सो माता होय।
बिना मदिरा मतवारे झूमैं, जन्म-मरण दुख खोय॥
कोटि चन्द सूरज उजियारो, रवि शशि पहुँचत नाहीं।
बिना सीप मोती अनमोलक, बहु दामिनी दमकाहीं॥
बिनु ॠतु फूले फूल रहत हैं, अमृत रस फल पागे।
पवन गवन बिन पवन बहत हैं, बिन बादर झरि लागै॥
अनहद शब्द भँवर गुंजारै, शंख पखावज बाजै।
ताल घण्ट मुरली घनघोरा, भेरि दमामै गाजै॥
सिद्धि गर्जना अति ही भारी, घुंघरु गति झनकारैं।
रम्भा नृत्य करै बिन पग सूँ, बिन पायल ठनकारैं॥
गुरु शुकदेव करै जब किरपा, ऐसे नगर दिखावैं।
चरणदास वा पग के परसैं, आवागमन नसावैं॥

अर्थ—हे लोगो! वह परमात्म-धाम ऐसा पागलों का धाम है कि जो उसमें जाता है, वह मस्त हो जाता है। बिना मदिरा के (वह) मस्त होकर झूमता है और जन्म-मरण के दुःख को खो डालता है॥ वहाँ करोड़ों चन्द्र-सूर्य के प्रकाश के सदृश प्रकाश है। इस (जागतिक) चन्द्र-सूर्य के प्रकाश वहाँ नहीं पहुँचते। बिना सीपी के अनमोल मोती बरसते हैं और बहुत बिजलियाँ चमचमाती हैं॥ बिना वसन्त ॠतु के ही फूल फुले रहते हैं और अमृत-रस पगे रहते हैं। पवन-गति के बिना पवन बहता है। बिना मेघ के ही झड़ी लगी रहती है। भँवर गुंजार और शंख-पखावज के अनहद शब्द के बाजे बजते हैं। घण्टा और मुरली का घनघोर बाजा बजता है। भेरी और नगाड़े के गर्जन होते हैं॥ सब अष्ट सिद्धियों की बहुत भारी गर्जना हैं अर्थात् उपर्युक्त अनहद ध्वनियों की अनुभूतियों को प्राप्त करनेवाला अभ्यासी अष्ट सिद्धि प्राप्त करता है।

नृत्य-गति की घुँघरू की झनकार होती है। सुरत-रम्भा बिना पैर के नृत्य करती है अर्थात् चलती है और बिना पायजेब के उसकी ध्वनि होती है॥ गुरु शुकदेव मुनि जब कृपा करते हैं, तब ऐसा नगर दिखलाते हैं, जैसे नगर में उपर्युक्त सब लीलाएँ होती हैं। चरणदासजी कहते हैं कि उस पद (गुरु-पद) के परसने से आवागमन का नाश हो जाता है॥

॥ मूल पद्य ॥

मनुवाँ राम के व्यापारी
अब की खेप भक्ति की लादी, बनिज कियो तैं भारी ॥१॥
पाँचो चोर सदा मग रोकत, इन सूँ कर छुटकारी।
सतगुरु नायक के संग मिलि चल, लूट सकै नहिं धारी ॥२॥
दो ठग मारग माहिं मिलेंगे, एक कनक एक नारी।
सावधान हो पेंच न खैयो, रहियो आप सँभारी ॥३॥
हरि के नगर में जा पहुँचोगे, पैहो लाभ अपारी।
चरणदास तो कूँ समझावै, रे मन बारम्बारी ॥४॥

पद्यार्थ—हे राम-भजन के व्यापारी मन! इस बार भक्ति की लदनी तुमने की है। तुमने भारी बनिज किया है॥१॥ पाँचो ज्ञान-इन्द्रिय-रूपी चोर सदा रास्ते में रोकते हैं, इनसे अपना छुटकारा करो। सद्गुरु सरदार के संग में मिलकर चलो, तो इन चोरों की धारी—पंक्ति नहीं लूट सकेगी॥२॥ रास्ते में दो ठग—स्त्री और धन मिलेंगे, सचेत होकर घुमाव मत खाना और अपने को सँभालकर रखना॥३॥ ईश्वर के नगर में जा पहुँचोगे और अपार लाभ प्राप्त करोगे। संत चरणदासजी कहते हैं कि रे मन! मैं तुम्हें बारम्बार समझाता हूँ॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

जीवित मर जाय, उलट आप में समाय,
कहीं नहीं जाय, मन शुद्ध दिलगीरी है॥
करै विपिन वास, इन्द्रिय जीत तजै भूख प्यास,
मेटै पर-आस, खास पूरन सबूरी है॥
परम तत्त्व को विचार, चिन्ता बिसार सबै,
टार मत बाद हरि, भज ले अमीरी है॥
कहै चरणदास दीन, दुनिया में पुकार,
सब आसान यार, मुशकिल फकीरी है॥

भावार्थ—बहिर्मुख से अन्तर्मुख उलटकर, अपने-आपमें समाकर जीते-जी मर जाय अर्थात् जीवित रहते हुए मृतक-तुल्य होकर रहे, बाह्य इन्द्रियों की चेतन-धारों को उनके केन्द्र में केन्द्रित करके रहे—बाह्य इन्द्रियों की भोगेच्छा से पूर्णरूपेण छूटकर रहे और कहीं नहीं जाय; यही मन का पवित्र विराग है। जंगल में वासा करे; इन्द्रियों को जीतकर भूख-प्यास छोड़ दे और दूसरे की आशा छोड़ें; यह अपना पूर्ण सन्तोष है। सब चिन्ताओं को छोड़कर परमात्म-स्वरूप का विचार करे और मत-मतान्तर का विवाद छोड़कर ईश्वर का भजन करे—यही अमीरी है॥ संत चरणदासजी संसार के धर्मवालों को पुकारकर कहते हैं—मित्रो! और सब बातें आसान हैं, पर फकीरी मुश्किल है॥

॥ संत चरणदासजी की वाणी समाप्त ॥

संत दरिया साहब (मारवाड़ी) की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

चल सूआ तेरे आद राज। पिंजरा में बैठा कौन काज॥
बिल्ली का दुख दहै जोर। मारे पिंजरा तोर-तोर॥
मरने पहले मारो धीर। जो पाछे मुक्ता सहज छीर॥
सद्गुरु सब्द हृदय में धार। सहजाँ सहजाँ करो उचार॥
प्रेम प्रवाह धसै जब आभ। नाद प्रकासै परम लाभ॥
फिर गिरह बसाओ गगन जाय। जहँ बिल्ली मृत्यु न पहुँचे आय॥
आम फलै जहँ रस अनन्त। जहँ सुख में पाओ परम तन्त॥
झिरमिर-झिरमिर बरसै नूर। बिन कर बाजै ताल तूर॥
जन दरिया आनन्द पूर। जहँ बिरला पहुँचे भाग भूर॥

अर्थ—अरे जीवात्मा सुग्गे! तेरे (अपने) आदि (सबसे पहले के) राज में चल। शरीर-रूपी पिंजड़े में बैठा हुआ तेरा कौन काज बनता है? इस पिंजड़े में मृत्युरूपी बिल्ली का दुःख जोर से जलाता है। यह मृत्यु पिंजड़े को तोड़-तोड़कर मारती है॥ मरने के पहले हे धीर! मन को मारो अर्थात् मन को काबू में करो, तो इसके पीछे मुक्ति-रूप दूध या पवित्र सुखदायक पदार्थ सहज ही प्राप्त हो जायगा॥ सद्गुरु के शब्द को हृदय में धारण करो। सहज-सहज ही उसका उच्चारण करो॥ जब प्रेम-प्रवाह के नीर में धँसोगे, तब नाद प्रकाशित होगा, जिससे

परम लाभ प्राप्त करोगे॥ फिर अपना बासा उस शून्य में जाकर करो, जहाँ मृत्यु-रूप बिल्ली नहीं आ पाती है॥ जहाँ वह आम फलता है, जिसके स्वाद का अन्त नहीं है और जहाँ परम तत्त्व को सुख से प्राप्त करोगे॥ झिरमिर-झिरमिर ज्योति की वर्षा होती है, बिना हाथ के बाजे बजते हैं। दरिया दासजी कहते हैं कि हे भक्त! वहाँ पूर्ण आनन्द प्राप्त होता है, जहाँ बिरले भाग्यवान पहुँचते हैं॥

सन्त दरिया साहब (बिहारी) की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

झकझक्क लगा झकझक्क लगा रिमिझिमि का नुर बरसंदा है।
दस्तगीर जो पीर रहम किया फहम दी बात कहंदा है॥
चीराक रोसन महल हुआ, फुलगुल घनेरे आनन्दा है।
कहै दरिया दरस दीदंम करम मन्दिल में भावन्दा है॥
एम अलंम सो नाम सदाफल पीअत प्रेम गुँगे गुर खायो।
तींत ना मीठा खटा खटतूरस कासे कहें मानों अम्रित पायो॥
सूरति मूरति नीरति नीरषि सूइ में जाए सुमेर समायो।
दरिया जो कहै जब ज्ञान नहीं कथनी कथि मूरख मूल गँवायो॥

अर्थ—(ध्यानाभ्यासी साधक अपने अन्दर साधना करते हुए विभिन्न दृश्यों का अवलोकन करता है और उस समय वह आन्तरिक अनुभूतियों को प्राप्त कर हर्षातिरेक हो अपना उद्गार अभिव्यक्त करता है।) चकमक-चकमक झकाझक लगता है और अन्तराकाश में प्रकाश की वर्षा होती है। हाथ पकड़नेवाले गुरु ने जो कृपा की, तो उन्होंने यह सूझ की बात कही॥ अपने शरीर-रूप भवन में प्रदीप का प्रकाश हुआ और अनेकों खिले फूल नजर आए अर्थात् चतुर्दिक् प्रकाश-ही-प्रकाश दृष्टिगोचर हुआ। ('जैसे मन्दिर दीपक बारा। ऐसे जोति होत उजियारा॥'—सन्त तुलसी साहब, हाथरस) दरिया साहब कहते हैं कि दया-रूप मन्दिर में प्रभु का दर्शन करके बड़ा सुहावना लगा॥ जिस प्रकार गूँगा गुड़ खाकर उसके स्वाद के सम्बन्ध में कुछ भी व्यक्त नहीं कर सकता, उसी भाँति उस एक प्रभु का नाम, जो सदा फल-ही-फल है, अवलम्ब ग्रहण कर प्रेम से पान कर उनका वर्णन

नहीं किया जाता। वह न तो तीता है, न मीठा और न खट्टा वा खटरस ही है। किससे कहा जाय? वह तो ऐसा है, जैसे मानो अमृत ही पा लिया। मूर्त्ति में सुरत को विशेष रत कर देखा, तो सूई में पर्वत जाकर समा गया अर्थात् दृष्टि-साधना की क्रिया द्वारा एकविन्दुता प्राप्त करने पर बाह्य संसार (विश्व-ब्रह्माण्ड) की विलीनता हो गयी। दरिया साहब कहते हैं कि जबतक प्रत्यक्ष ज्ञान (अनुभव ज्ञान) नहीं हुआ, तबतक केवल वाक्य-ज्ञान में मूर्ख ने अपनी पूँजी गँवा दी॥

॥ मूल पद्य ॥

जाके अनभो आगि लगी।
कसमल सकल जरी तन भीतर, ऐसो प्रेम पगी॥
बिन मसि लिखे कलम बिनु कागज, अगम निगम ततु सारा।
ब्रह्म निरूपणि भेद विचारो, ज्ञान रतन के धारा॥
जैंव मराल निर छिर विवरण, कियो वोइसी बुद्धि सरीरा।
हंस दसा कुल वंस बापुरे, सभ मति भैगौ थीरा॥
आम्रित बुन्द परे फुहकारा, परिमल बास सुबासा।
गगन मधे सुरति रोपो, देखो अजब तमासा॥
विमल विमल पद करो विचारा, निरमल निरखत मोती।
कहै दरिया सतगुरु की महिमा, जगमग झलके जोती॥

अर्थ—जिसको समाधि-साधन-द्वारा अनुभव की आग लगती है, उसका प्रेम ऐसा परिपक्व होता है कि उसके शरीर के अन्दर सभी कल्मष—पाप—दुर्गुण जलकर भस्मसात् हो जाते हैं॥ वह वेद-शास्त्र के सारतत्त्व को स्याही, कलम और कागज के बिना ही लिखता है अर्थात् अपनी अनुभूति से उसे अपनी बुद्धि में धारण करता है। ज्ञान-रत्न की धारा में ब्रह्म-स्वरूप-निर्णय और उसकी प्राप्ति की युक्ति का विचार करता है॥ जिस तरह हंस दूध और जल को पृथक्-पृथक् कर देता है, उसी तरह सारासार—सत्यासत्य-निर्णयात्मिका बुद्धि उसके शरीर में होती है। जिन सबों ने हंस-दशा को प्राप्त किया, तुच्छ वंश के होने पर भी उन सबकी बुद्धि स्थिर हो गई॥ विशुद्ध सुगन्ध में निवास करते अमृत-बूँद की झड़ी झड़ती है। आकाश के मध्य में सुरत को स्थिर कर आश्चर्यमय तमाशा देखो॥ निर्मल मोती को निरखते हुए निर्मल पद का विचार करो। दरिया

साहब कहते हैं कि सद्‌गुरु के प्रताप से जगमगाती हुई ज्योति झलकती है।

॥ मूल पद्य ॥

काया गढ़ कनक मन रावना मद है, कुमति कुंभकरन मदमस्त माता।
मेघनाद गर्व है गरजि बाते करे, सुन बे मूढ़ फिर होत पाता॥
भक्त भभीखना भरम जाके नहीं, राम के काम में आप राता।
कहै दरिया उन्हि सर्व कुल नासिया, दाया मन्दोदरि कहत बाता॥

अर्थ–शरीर-रूप सोने के गढ़ में अहंकारी मन रावण है और कुबुद्धि-रूपी कुम्भकर्ण अहंकार के नशे में चूर है। गर्जन कर गौरव या घमण्ड से बात करनेवाला मेघनाद है। अरे मूर्ख! सुनो, इससे पुनः पुनः पतन होता है॥ भ्रम-विहीन जन भक्त विभीषण है, जो राम के काम में स्वयं संलग्न रहता है। सन्त दरिया साहब कहते हैं कि उन्होंने अर्थात् रावण और कुम्भकर्ण ने अपने कुल का सर्वनाश कर दिया, दया-रूपा मन्दोदरी यह बात कहती है॥

॥ मूल पद्य ॥

सन्तो साधु लच्छन निज बरना।
विगसित नैन बोलु सतबानी, देखु कमल दल चरना॥
उँचे नीचे चलब संभारे, समुझि समुझि पग धरना।
परमारथ पर पीर जो जाने, पर आतम के भरना॥
सिंह ठवनि धरि जुथ जेहि नाहीं, जियतहिं भोजन करना।
म्रीतक मंद दूरि परित्यागहु, ऐसो पेट ना भरना॥
दया दीनता लीन चरन में, एक दसा निजु धरना।
कहै दरिया सुक्रित दिल साचो, भवसागर में तरना॥

अर्थ–हे सन्त जन! मैं साधु के लक्षण का वर्णन करता हूँ। उन साधु की अन्तर्दृष्टि खुली होती है, सत्यभाषण करते हैं और अपने इष्ट के चरण-कमलों का अवलोकन करते हैं॥ वे ऊँचे-नीचे पथ में सँभलकर चलते हैं और विचार-विचारकर पैर रखते हैं। जो परमार्थ और दूसरे के दुःख को जानते हैं और अन्यों के अभाव की पूर्त्ति करते हैं॥ जो सिंह की रीति को धारण करते हैं अर्थात् झुण्ड में नहीं रहकर निर्भय और अकेले रहते हैं और जीवित का ही भोजन करते हैं। तात्पर्य

यह कि प्रेमी जन की सेवा को स्वीकार करते हैं, भावहीन का नहीं।

'साध सिंह का एक मत, जीवत ही को खाय।
भावहीन मिरतक दशा, ताके निकट न जाय॥'

—सन्त कबीर साहब

मृतक अर्थात् भावहीन और मन्दबुद्धि जन का दूर से परित्याग करते हैं। ऐसे के संग में रहकर अपना पेट नहीं भरते हैं अर्थात् उनका भोजन नहीं करते हैं॥ दया और गरीबी भाव को रखते हुए प्रभु-चरण में लीन रहते हैं और अपनी मनोदशा को एक तरह बनाए रखते हैं। सन्त दरिया साहब कहते हैं कि ऐसे सुकर्मी और सच्चे हृदय के साधु जन संसार से निस्तार (उद्धार) पाते हैं॥

॥ मूल पद्य ॥

याफ्त तदबीर है दिल के बीच में, कुदरत मस्जीद बनाय दीता।
दोय बीच जो लाल अजब लागे, तहाँ जोति का नूर प्रगट्ट कीता॥१॥
यह चित्त के चोभ में बाँग देवै, यह नाम नीशान नजर लीता।
कहै दरिया दाना दिल के बीच, अलफ अलह को याद कीता॥२॥

भावार्थ—कुदरती मस्जिद-ठाकुरबाड़ी (शरीर) के अन्तःकरण में मैंने युक्ति प्राप्त की है। दोनों (नेत्रों) के बीचोबीच में एक आश्चर्यमयी लाल-लाल रंग की मणि लगी हुई है, वहाँ प्रकाश प्रकट प्राप्त किया॥१॥ चित्त की विशेष संलग्नता में जोर की आवाज हो रही है, यह नाममय परमात्मा का चिह्न है, उसका प्रत्यक्ष ज्ञान-लाभ किया। सन्त दरिया साहब कहते हैं कि बुद्धिमान अपने अन्दर उस परमात्मा का उपर्युक्त विधि से भजन किया करते हैं॥२॥

॥ मूल पद्य ॥

सन्तो सुमिरहु निर्गुन अजर नाम। सब विधि पूँजी सुफल काम॥१॥
निर्गुन नाह से करहु प्रीति। लेहु कायागढ़ काम जीति॥२॥
ऐनक मूल है शब्द सार। चहुँ ओर दीसै रंग करार॥३॥
झरत झरी तहाँ झमकै नूर। चित चकमक गहि बाजु तूर॥४॥
झलकत पदम गगन उजियार। दिव्य दृष्टि गहु मकर तार॥५॥
द्वादश इँगला पिंगला जाय। परिमल बास अग्र सो पाय॥६॥
बंक कमल मध हीरा अमान। सेत बरन भौंरा तहाँ जान॥७॥
खोजहु सतगुरु सत्त निसान। जुगति जानि जिन कथहिं ज्ञान॥८॥

कहै दरिया यह अकह मूल। आवागमन के मेटै सूल॥९॥

भावार्थ–हे सन्तो! निर्गुण अजर नाम का भजन करो। सफल-मनोरथ होने के लिए वह सब तरह की पूँजी है॥१॥ निर्गुण परमात्म-प्रभु से प्रीति करो और अपने कायागढ़ में काम को जीत लो॥२॥ सारशब्द मुख्य या प्रधान चश्मा है, जिसको प्राप्त करने से सब ओर स्थिर रंग (परमात्म-स्वरूप) ही झलकता है॥३॥ वहाँ प्रकाश की ज्योति होती रहती है। स्वच्छ और साफ (पवित्र) चित्त को पकड़कर रखो, तो तुरही बजती हुई अनहद ध्वनि सुनोगे॥४॥ आकाशी कमल या मण्डल प्रकाश से प्रकाशित झलकता है। दिव्य दृष्टि से मकर तार[1] को पकड़ो॥५॥ यदि इड़ा-पिंगला [2]बारह पर जाय, तो अगर-चन्दन की सुगन्धित गन्ध अभ्यासी को प्राप्त हो॥६॥ जिस कमल या मण्डल में कठिनाई से प्रवेश होता है, उसमें बिना माप का हीरा है और वहाँ मन-रूप भौंरा उज्ज्वल या पवित्र हो जाता है, ऐसा जानो॥७॥ सत्य चिह्न या सत्य ग्रहण करनेवाले सद्गुरु की खोज करो, जो युक्ति[3] जानकर ज्ञान कथन करते हैं॥८॥ दरिया साहब यह कहते हैं कि मूल अकथनीय है, जो आवागमन के शूल या दुःख को मेट देता है॥९॥

॥ मूल पद्य ॥

**जानिले जानिले सत्त पहिचानि ले सुरति साँची बसै दीद दाना।
खोलो कपाट यह बाट सहजै मिलै पलक परवीन दिव दृष्टि ताना॥१॥
ऐन के भवन में बैन बोला करै चैन चंगा हुआ जीति दाना।
मनी माथे बरै छत्र फीरा करै जागता जिन्द है देखु ध्याना॥२॥
पीर पंजा दिया रसद दाया किया मसत माता रहै आपु ज्ञाना।
हुआ बेकैद यह और सभ कैद में झूमता दिव्य निशान बाना॥३॥
गगन घहरान वए जिन्द अमान है जिन्हि यह जगत सब रचा खाना।
कहै दरिया सर्वज्ञ सब माहिं है कफा सब काटि के कुफुर हाना॥४॥**

---

१. सुरत का वह निज तार या धार जिसके ऊपर होकर सुरत का उतार ऊपर के मण्डलों से नीचे पिण्ड में हुआ है। उसी धार को पकड़कर पिण्ड से ब्रह्माण्ड में और उससे भी ऊपर उसकी चढ़ाई होगी। ठीक मकड़े की तरह जो अपने ही तार पर ऊपर से नीचे उतरता है और उसी के सहारे ऊपर चढ़ता है।

२. यह गुर-गम्य रहस्य की बात है।

३. भजन-भेद।

भावार्थ–हे लोगो! जानो और सत्य की पहचान करो। यह सच्ची बात है कि सुरत आँख की पुतली में बसती है। इसको अर्थात् स्थूल अन्धकारमय कपाट को खोलो, तो सहज ही रास्ता मिल जायगा। हे विचार में निपुण पुरुष! पल-भर भी दिव्य दृष्टि को तानो॥१॥ ऐन या आँख के घर में शब्द ध्वनित होता रहता है। जो दाना या विन्दु को जीत लेता है, वही सुखी और स्वस्थ (मानस रोग-रहित) हो जाता है। उसके मस्तक में मणि जलती है, उसकी दुहाई फिर जाती है। चेतन पुरुष जागता हुआ है, ध्यान में देखो॥२॥ गुरु ने आज्ञा दी और ज्ञान-रूपी रसद अर्थात् मोक्ष-साधन में ज्ञान-रूप भोजन भी देने की दया की, जिससे कि शिष्य निज ज्ञान में मस्त–माता हुआ रहता है। यह भक्त बन्धन-रहित हो गया और वे सब जिनके यहाँ दिव्य निशान फहराते और झूमते रहते हैं अर्थात् जो बड़े ऐश्वर्यशाली सब लोग हैं, वे कैद में पड़े हैं॥३॥ अन्तराकाश की गम्भीर ध्वनि प्रकट होती है, तो वह उपमा-रहित चेतन पुरुष प्रत्यक्ष होता है, जिसने इस सारी सृष्टि को साजा है। दरिया साहब कहते हैं कि वह सर्वज्ञ पुरुष सर्वव्यापी है। मैंने कफाओं–कैफियतों, संशयों और सन्देहों अथवा अनावश्यक तर्कों को काटकर नास्तिकता को दूर किया॥४॥

॥ सन्त दरिया साहब (बिहारी) की वाणी समाप्त ॥

सन्त जगजीवन साहब की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

मन जब मगन भा मस्ताना।
भयो सीतल महाकोमल, नाहिं भावै आन॥१॥
डोरि लागी पोढ़ि गुरु तें, जगत तैं विलगान।
अहै मता अगाध तिनका, करै को पहिचान॥२॥
अहैं ऐसे जग्त माँ कोइ, कहत आहैं ज्ञान।
ऐसे निरमल ह्वै रहै हैं, जैसे निरमल भान॥३॥
बड़ा बल है ताहि केरे, थमा है असमान।
जग जिवन गुरु चरण परिकै, निर्गुण धरि ध्यान॥४॥

अर्थ–जब मन (प्रभु-प्रेम में) मग्न होकर मस्त हो गया, तो मन शीतल और सुकोमल (नम्र) हो गया। अब अन्य दूसरा कुछ नहीं

सुहाता है॥१॥ प्रगाढ़ प्रेम की डोरी गुरु से लगकर चित्त जगत् से पृथक् हो गया। जो ऐसी अगाध बुद्धिवाले हैं, उनकी पहचान कौन कर सकता है॥२॥ उपर्युक्त गुणवाले संसार में कोई ऐसे हैं, जो ज्ञान कहते हैं अर्थात् औरों को उपदेश करते हैं। वे ऐसे पवित्र होते हैं, जैसे स्वच्छ-पवित्र सूर्य है॥३॥ उसका विशाल बल है, जो आकाश में अड़े हैं अर्थात् जिनका ध्यान अविचलित रूप से शून्य में स्थिर है। जगजीवन साहब कहते हैं कि गुरु-चरणाश्रित होकर गुणातीत का ध्यान करते हैं॥४॥

॥ सन्त जगजीवन साहब की वाणी समाप्त ॥

सन्त पलटू साहब की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

गंगा पाछे को वही, मछरी चढ़ी पहाड़॥
मछरी चढ़ी पहाड़, चुल्हा में फन्दा लाया।
पुखरा भीटे बाँधि, नीर में आग छिपाया॥
अहिरिन फेकै जाल, कहारिन भैंसि चरावै।
तेलि के मरिगा बैल, बैठि के धुबइन गावै॥
महुवा में लागा दाख, भाँग में भया लुबाना।
साँप के बिल के बीच, जाय के मूस लुकाना॥
पलटू सन्त विवेकी, बुझिहैं सबद सम्हार।
गंगा पाछे को वही, मछरी चढ़ी पहाड़॥

अर्थ—पिण्डी मन—तन-मन की बहती हुई धारा (गंगा) बाह्य विषय-सुख से मुड़कर अन्तर को चली, तो सुरत-रूप मछली ऊँचाई पर चढ़ गई॥ उस मछली—सुरत ने ऊँचे उठकर आज्ञाचक्र-स्थित ब्रह्माण्डी मन-रूप चूल्हे में पिण्डी मन को फँसा रखने के लिए फन्दा लगा दिया। मतलब यह कि जब अभ्यास-द्वारा पिण्डी मन को पीछे की तरफ अर्थात् अन्तर की तरफ करके ब्रह्माण्डी मन में केन्द्रित किया जाता है, तब वहाँ के रस में पिण्डी मन का फँसाव हो जाता है। आज्ञाचक्र—षष्ठचक्र पोखरे के किनारे को बाँधकर पिण्डी मन-रूप बहती हुई जल-धारा को उस तालाब में रखा, जिसमें ब्रह्माग्नि गुप्त रूप से रहती है॥ विद्या माया-रूप अहीरिन सत्त्वगुण का जाल सुरत पर फेंकती है और अविद्या माया-रूप कहारिन इन्द्रिय-रूप भैंसों को

विषय-रूप चरागाह में चराती है। असार खल्ली-रूप विषय को त्यागकर तेल-रूप सारतत्त्व के लेनेवाले, सारग्राही–अभ्यासी–तेली का मन-रूप बैल मर गया अर्थात् मनोलय हो गया–संकल्प-विकल्प को छोड़ दिया। तब निर्मल चेतन-आत्मा स्थिर भाव से आनन्दित हो नादानुसन्धान में संलग्न हो गई॥ विषय-मुखी जीवात्मा महुआ-रूप मनुष्य-शरीर, जो महुआ वृक्ष कहनेयोग्य था, में उपर्युक्त साधक के होने से वह दाख का वृक्ष हो गया और उसी विषय चेतन-आत्मा से युक्त भाँग-शरीर–भाँग-वृक्ष में साधक-रूप सुगन्धित पदार्थ बन गया। विषय-विष से युक्त मन-रूप साँप का बैठक इस मनुष्य-शरीर में जहाँ था, उस स्थान में अब साधक (मूसा) रहने लगा। मतलब यह कि साधन-विहीन रहते हुए जीवात्मा-मूसा मन के वश में रहा करता है; परन्तु वही जब साधनशील होता है, तब मन के स्थान में रहकर मन-रूप सर्प को काबू में किए हुए रहता है॥ पलटू साहब कहते हैं कि सारासार का ज्ञान रखनेवाले सन्त वचन को सँभालकर समझेंगे। गंगा पीछे की ओर बह गई और मछली पहाड़ पर चढ़ गई॥

॥ मूल पद्य ॥

भजन आतुरी कीजिये और बात में देर॥
और बात में देर जगत में जीवन थोरा।
मानुष तन धन जात गोड़ धरि करौं निहोरा॥
काँचे महल के बीच पवन इक पंछी रहता।
दस दरवाजा खुला* उड़न को नित उठि चहता॥
भजि लीजै भगवान एही में भल है अपना।
आवागौन छुटि जाय जनम की मिटै कलपना॥
पलटू अटक न कीजिये चौरासी घर फेर।
भजन आतुरी कीजिये और बात में देर॥

अर्थ–जगत् के अन्य कार्यों में विलम्ब करके परमात्म-भजन अविलम्ब कीजिए॥ सांसारिक जीवन क्षणिक है, इसलिए अन्य बातों में देर कीजिए। मनुष्य-शरीर-रूप सम्पत्ति निरर्थक चली जा रही है, मैं पाँव पकड़कर प्रार्थना करता हूँ (कि 'भजन आतुरी कीजिए')॥ इस

* आँखों के दो छिद्र, कानों के दो छिद्र, नाक के दो छिद्र, मुँह का एक

(शरीर-रूप महल) के दसो द्वार खुले हैं*, जिस होकर जीवात्मा-रूपी पक्षी उड़ जाने के लिए नित्य प्रति चाहता है। तात्पर्य यह कि इस शरीर से कब प्राण-चेतन निकल जाय, यह निश्चित नहीं॥ अपनी भलाई-अपना कल्याण इसमें है कि ईश्वर का भजन करें, जिससे आवागमन वा गमनागमन का चक्र छूटे और जन्म का क्लेश मिटे॥ सन्त पलटू साहब कहते हैं कि परमात्म-भजन में विलम्ब नहीं कीजिए अन्यथा चौरासी लाख योनियों में भटकना पड़ेगा। एतदर्थ अन्य कार्यों में देर करके ईश्वर-भजन शीघ्रतापूर्वक कीजिए॥

॥ मूल पद्य ॥

उलटा कुआँ गगन में, तिसमें जरै चिराग॥
तिसमें जरै चिराग, बिना रोगन बिन बाती।
छः रितु बारह मास, रहत जरतैं दिन राती॥
सतगुरु मिला जो होय, ताहि की नजर में आवै।
बिन सतगुरु कोउ होय, नहीं वाको दरसावै॥
निकसै एक अवाज, चिराग की जोतिहिं माहीं।
ज्ञान समाधी सुनै, और कोउ सुनता नाहीं॥
पलटू जो कोई सुनै, ताके पूरे भाग।
उलटा कुआँ गगन में, तिसमें जरै चिराग॥

व्याख्या-गगन में उलटा कुआँ है, उसमें चिराग जलता है। मतलब यह कि मनुष्य का माथा, गले से ऊपर शून्य में प्रत्यक्ष है; इसके अन्दर ज्योति जलती है। यह दीपक-ज्योति की तरह अभ्यासी को विदित होती है। "जैसे मन्दिर दीपक बारा। ऐसे जोति होत उजियारा।"-तुलसी साहब। पृथ्वी पर जो कुआँ होता है, उसमें ऊपर मुँह होता है। यह सीधा कुआँ है, सबलोग जानते हैं; परन्तु मनुष्य का

छिद्र, मल-मूत्र त्यागने के दो छिद्र और नाभि का एक छिद्र; ये खुले दस द्वार हैं। (गर्भस्थ शिशु की नाभि-नाल उसकी माता के गर्भाशय की दीवार से मिली होती है, जिससे शिशु भोजन पाता है और उसका शरीर पुष्ट होता है। इसलिए इसको भी एक द्वार माना गया है।) अथवा आँखों के दो छिद्र, कानों के दो छिद्र, नाक के दो छिद्र, मल-मूत्र परित्याग के दो छिद्र और आज्ञाचक्र का अन्धकार भाग; ये दस खुले दरवाजे हैं।

* उपर्युक्त व्याख्या देखें।

शिर ऊपर खोपड़ी से बन्द है, इसमें नीचे से जाने का मार्ग है। इसीलिए मनुष्य का शिर उलटा कुआँ है॥ इसमें बिना तेल और बत्ती के दीपक जलता है। छहो ऋतुओं और बारह मास दिन-रात जलता ही रहता है॥ जिसको सद्‌गुरु मिलते हैं, उसको यह देखने में आता है। जिसको सद्‌गुरु नहीं प्राप्त है, उसको यह दीपक-प्रकाश देखने में नहीं आता है॥ उस दीपक-ज्योति में एक आवाज निकलती है। ज्ञान-युक्त समाधि-प्राप्त साधक उसको सुनता है और कोई उसको नहीं सुनता है॥ पलटू दासजी कहते हैं कि जो कोई उसको सुनते हैं, उनका पूरा भाग्य है॥

॥ मूल पद्य ॥

सुर नर मुनि जोगी यती सभै काल बसि होय॥
सभै काल बसि होय मौत कालौं की होती।
पार ब्रह्म भगवान मरै ना अविगत जोती॥
जाको काल डेराय ओट ताही की लीजै।
काल की कहा बसाय भक्ति जो गुरु की कीजै॥
जरा मरन मिटि जाय सहज में औना जाना।
जपि कै नाम अनाम संतजन तत्त्व समाना॥
बैद धनंतर मरि गया पलटू अमर न कोय॥
सुर नर मुनि जोगी यती सभै काल बसि होय॥

भावार्थ—देवता, मनुष्य, मुनि (मननशील), योगी और यति (संन्यासी); ये सभी काल के वशीभूत होते हैं॥ इतना ही नहीं, ये सभी तो मृत्यु को प्राप्त होते ही हैं, साथ ही काल की भी मृत्यु होती है अर्थात् काल (समय) का भी अंत होता है। कहने का तात्पर्य यह कि काल की विकरालता या उनका प्रभुत्व देश के अन्दर ही होता है; किन्तु जो देशकालातीत है, वह तो 'अति कराल कालहु कर काला' है। ऋषि-वाक्यानुसार—"जिस नाम-रूपात्मक काल से सब कुछ ग्रसित है, उस काल को भी ग्रसनेवाला या पचा जानेवाला जो तत्त्व है, वही परब्रह्म है।" (मै० ६-१५)। उस परमात्म-पद में काल का कोई चारा नहीं चलता। संत कबीर साहब के शब्दों में—"उहाँ गम काल की नाहीं।" और गो० तुलसीदासजी ने कहा है—"देस काल तहँ नाहीं।" उस पद तक पहुँचते-पहुँचते काल अपना अस्तित्व खो बैठता है अर्थात्

उसकी विलीनता हो जाती है। इसको दूसरे शब्दों में ऐसा भी कहा जा सकता है कि जिसकी उत्पत्ति होती है, उसका विनाश भी अवश्यमेव होता है। इस दृष्टि से काल की उत्पत्ति के कारण उसका नाश भी कभी-न-कभी होगा ही। "जो ऊगे सो अत्थवै, जामे सो मरि जाय। जो चुनिये सो ढहि पड़ै, फले सो कुम्हिलाय॥"–संत कबीर साहब। किन्तु परब्रह्म परमात्मा की, जिसका प्रकाश सर्वव्यापक है, मृत्यु नहीं होती॥ जिस प्रभु के भय से स्वयं काल कम्पित वा भयभीत रहता है, उसका आश्रय ग्रहण कीजिये। उसपर काल का कुछ वश नहीं चलता, जो गुरु की भक्ति करनेवाले होते हैं॥ (ऐसे भक्त जन की) स्वाभाविक ही जन्म-मृत्यु और आवागमन छूट जाता है। संत जन नाम का जप करके (साधना-द्वारा) अनाम तक पहुँचकर परमात्म-तत्त्व में समा गये॥ पलटू दासजी कहते हैं कि धन्वन्तरि-जैसा वैद्य भी मर गया, कोई अमर नहीं है; देव, मानव, मुनि, योगी और यति; सभी काल के वश हैं॥

॥ मूल पद्य ॥

हमने बातें तहकीक किया, सबमें साहब भरपूर है जी॥
अपनी समझ कुआँ को पानी, कहिं नियरे कहिं दूर है जी।
गाफिल की ओर से सोय गया, चेतन को हाल हजूर है जी।
पलटू इस बात को ना मानै, तिसके मुख ऊपर धूर है जी॥

व्याख्या–हमने इस बात की यथार्थ खोज की है कि ईश्वर कहाँ रहते हैं, तो पाया कि ईश्वर सबमें भरपूर होकर रहते हैं (जैसे सब घट में आकाश भरपूर रहता है।) भिन्न-भिन्न मनुष्य की भिन्न-भिन्न समझ होती है, जैसे कुएँ-कुएँ का पानी किसी में नजदीक है और किसी में दूर है। जो सात्त्विक विचारवाला मनुष्य सद्ज्ञान में रहता हुआ भक्ति-योग का साधन करता है, उसके लिए ईश्वर उसके अन्दर ही नजदीक हैं। जो मनुष्य ऐसा नहीं है, उसके लिए ईश्वर दूर हैं॥ यह भक्ति-योग का साधन जो सबका परम कर्त्तव्य है, नहीं करता है– साधन में चूका हुआ है, उसके अन्दर ईश्वर की ओर की कोई अनुभूति प्राप्त नहीं होती है, गोया इसकी ओर से ईश्वर सोये हुए हैं। परन्तु कथित उस भक्ति-योग के साधक को ईश्वर की ओर की अनुभूतियाँ होती रहती हैं, तो उनके लिए वे सामने ही प्रत्यक्ष विदित होते हैं। संत पलटू दासजी कहते हैं कि जो

इस बात को नहीं मानते हैं, उनके मुख पर धूल है॥

॥ मूल पद्य ॥

आठ पहर निरखत रहै जैसे चन्द चकोर॥
जैसे चन्द चकोर पलक से टारत नाहीं।
चुगै बिरह से आग रहै मन चन्दै माहीं॥
फिरै जेहि दिस चन्द तेही दिस को मुख फेरै।
चन्दा जाय छिपाय आग के भीतर हेरै॥
मधुकर तजै न पदम जान से जाय बँधावै।
दीपक में ज्यों पतंग प्रेम से प्राण गँवावै॥
पलटू ऐसी प्रीति कर परधन चाहै चोर।
आठ पहर निरखत रहै, जैसे चन्द चकोर॥

अर्थ–(इस वाणी में संत पलटू साहब ने अन्तरंग साधन शाम्भवी मुद्रा–वैष्णवी मुद्रा–दृष्टि-साधन का वर्णन किया है और उपमान प्रमाण-द्वारा इसका स्पष्टीकरण करते हुए उन्होंने बताया है कि) जैसे चकोर पक्षी बाह्याकाश में चन्द्रमा को एकटक से देखता रहता है, उसी भाँति साधक अन्तराकाश में अपने लक्ष्य को आठो पहर खूब मन लगाकर एकटक से देखता रहे॥ जिस प्रकार चकोर अपनी आँख से चन्द्रमा को अलग नहीं हटाता, उसके वियोग के विरह में वह आग को चुगता है, फिर भी अपने मन को चन्द्रमा में ही लगाकर रखता है॥ आकाश में चन्द्रमा जैसे-जैसे जिस ओर घूमता है, चकोर भी अपना मुँह वैसे-वैसे उस ओर घुमाता है। चन्द्रमा के छिप जाने पर वह आग के भीतर उसको खोजता है॥ सूर्यास्त होने पर कमल फूल बन्द हो जाता है और भौंरा उसी में बँधकर रह जाता है। वह अपनी जान गँवाता है; किन्तु उस कमल का त्याग नहीं करता। जैसे दीपक-टेम के प्रेम में वशीभूत हो फतिंगा अपना प्राण देता है (उसी प्रकार साधक दृष्टि-योग का साधन करे)॥ संत पलटू दासजी कहते हैं कि जिस प्रकार चोर दूसरे का धन लेने में प्रेम करता है, उसी तरह साधक दृष्टि-साधन-क्रिया से प्राप्तव्य–गुप्त धन के लिए प्रेम करे। तात्पर्य यह कि जैसे चकोर का प्रेम चन्द्रमा में, भ्रमर का कमल-फूल में, फतिंगे का दीपक-टेम में और चोर का पर-धन में होता है, वैसे ही साधक दृष्टियोग के साधन-द्वारा उक्त अन्तर्ज्योति–ब्रह्मज्योति के पाने में प्रेम करे।

॥ मूल पद्य ॥

हाथी घोड़ा खाक है, कहै सुनै सो खाक॥
कहै सुनै सो खाक, खाक है मुलुक खजाना।
जोरू बेटा खाक, खाक जो साचै माना॥
महल अटारी खाक, खाक है बाग बगैचा।
सेत सपेदी खाक, खाक है हुक्का नैचा॥
साल-दुसाला खाक, खाक मोतिन कै माला।
नौबतखाना खाक, खाक है ससुरा साला॥
पलटू नाम खुदाय का, यही सदा है पाक।
हाथी घोड़ा खाक है, कहै सुनै सो खाक॥

अर्थ–(संत पलटू साहब ने इस पद्य के द्वारा संसार की असारता का बोध दिलाया है। उन्होंने बताया है कि संसार की वस्तुओं में से कोई भी नित्य–स्थिर नहीं है; सभी अनित्य एवं अनस्थिर हैं)। हाथी और घोड़े मिट्टी हैं तथा जो कहते हैं और सुनते हैं, सभी मिट्टी हैं॥ कहने और सुननेवाले मिट्टी हैं। देश अर्थात् राज्य, खजाना यानी कोष, सभी मिट्टी हैं। स्त्री और पुत्र सभी मिट्टी हैं तथा जो इनको सत्य करके मानते हैं, वे भी मिट्टी हैं अर्थात् वे एक दिन मिट्टी में मिल जायेंगे॥ बहुत बड़े बढ़िया मकान, अट्टालिका, वाटिका वा उपवन; सभी मिट्टी हैं। सभी उजले-उजले अर्थात् बाहरी सफाई–तड़क-भड़क खाक यानी मिट्टी है तथा हुक्का और नैचा खाक हैं। तात्पर्य यह कि हुक्का और नैचा का व्यवहार कर शान-शौकत दिखलानेवाले भी खाक यानी मिट्टी हैं॥ शाल-दुशाले और मोतियों के हार, सभी खाक हैं। नौबतखाना, ससुर और साले, सभी संबंध मिट्टी-ही-मिट्टी हैं॥ संत पलटू साहब कहते हैं कि परम प्रभु परमात्मा का नाम ही सदा पवित्र है। अन्य हाथी और घोड़े आदि सभी मिट्टी-ही-मिट्टी हैं॥

॥ संत पलटू साहब की वाणी समाप्त ॥

संत गरीब दासजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

तन खोजै तब पावै रे।
उलटी चाल चलै जे प्राणी, सो सहजै घर आवै रे॥टेक॥

बारह मारग बहता रोकै, तेरह ताली लावै रे।
चन्द सूर सहजै सत राखै, अनहद वेण बजावै रे॥१॥
तिन्नू गुण चौथे घर राखै, पाँच पचीस समावै रे।
नऊ निरति सूँ और बहत्तर, रोम-रोम धुनि धावै रे॥२॥
मैल निर्मल करे ज्ञान सौं, सतगुरु कहि समुझावै रे।
गरीबदास अनभै घर उपजै, तब जाइ जोति लखावै रे॥३॥

पद्यार्थ—जब कोई अपने शरीर को खोजै, तब ईश्वर को पावै। जो प्राणी उलटी चाल चलै,[१] सो सहज ही घर में आवै। बारह पथ[२] होकर बहती हुई चेतन-धारा को रोक दे और तेरहवें[३] में ताली लगा दे अर्थात् उसको बंद कर दे। सहज-ही-सहज इड़ा-पिंगला को सत्त्वगुण में रखे[४] और अनहद वेणु बजावे॥१॥ तीनों गुणों के मण्डल से ऊपर उठकर अपने को चौथे घर (सतलोक या सच्चिदानन्द-पद) में रखे, तो पाँचो तत्त्वों के पचीस स्वभाव लय हो जाएँगे अर्थात् अपने स्वभावों के प्रभाव से साधक को प्रभावित नहीं करेंगे। और ध्यान में विशेष तल्लीनता होने से नवो नाड़ियों[५], बहत्तर कोठे[६] और रोम-रोम में ध्वनि की गति विदित होती है॥२॥ सद्गुरु कहकर समझाते हैं कि हे गरीब दास! चित्त-मल को ज्ञान से पवित्र कर तब अन्तर्ज्योति की अनुभूति होती है॥३॥

॥ सन्त गरीब दासजी की वाणी समाप्त ॥

सन्त दूलन दासजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

जागु जागु आतमा, पुरान दाग धोउ रे।
कर्म भर्म दूर करू, कीच काम खोउ रे॥१॥

---

१. बहिर्मुख से अन्तर्मुख होकर स्थूल से सूक्ष्म में—पिण्ड से ब्रह्माण्ड में गति।

२. पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों में चेतन-धारों का बहाव-पथ—दस मार्ग और नासिका के दोनों पुटों में होकर श्वास का बहाव-पथ—दो मार्ग; सब मिलाकर बारह पथों को ध्यान-अभ्यास से रोका जाता है।

३. तेरहवें मार्ग के द्वार में सुरत के रहने से वह सत्त्वगुण में रहेगी।

४. आज्ञाचक्र का केन्द्र-विन्दु—शिवनेत्र—तीसरा तिल। इस तेरहवें द्वार के मार्ग में दृढ़ता के साथ सुरत जमा दे।

५. 'नौ नाड़ी को खैंच पवन लै उर में दीजै।'
—संत चरणदासजी

६. 'कोठा बहत्तर कहै बखानी। लै लख भीतर जो पहचानी॥'
घट-रामायण में इन कोठों के भिन्न-भिन्न नाम हैं।

अपनी सुधि भूलि गई, और की क्या दोउ रे।
सत्त बात झूठ करै, झूठ ही को गोउ रे॥२॥
इहै बात जानि-जानि, द्वार-द्वार रोउ रे।
सत्तर पानी साबुन का, प्रेम पानी मोउ रे॥३॥
लाग दाग धोय डारू, वाह वाह होउ रे।
दूलन बेकूफ काम, गाफिल ह्वै न सोउ रे॥४॥

शब्दार्थ—फारसी में 'गोइदन' का अर्थ बोलना होता है, इसीलिए गो=कह। गोउ=कहते हो।

अर्थ=ऐ जीवात्मा! अज्ञान की नींद से जगो, जगो और अपने पुराने दाग—अन्तःकरण की मलिनता को धो डालो। कर्म और भ्रम को दूर करके पंक-रूप कामनाओं का नाश करो॥१॥ तुमने अपनी खबर बिसार दी और दूसरे की खबर क्या लेते हो? सत्य वचन को असत्य बनाते हो और झूठ ही को सत्य कहते हो॥२॥ इसी बात को जान-जानकर द्वार-द्वार रोते-फिरते हो अर्थात् चौरासी लाख योनियों में भटकते हुए दुःख पाते हो। शरीर धोने के लिए तो तुम्हारे पास साबुन और पानी बहुत है; परन्तु हृदय के कल्मष को धोने के लिए भी तो थोड़े ईश्वरीय प्रेम-जल से (उसे) भिंगाओ॥३॥ अपने अन्तःकरण में लगी हुई (विषय की) काई को धो डालो और धन्य-धन्य हो जाओ। संत दूलन दासजी कहते हैं कि अरे मूर्ख! कामनाओं के वशीभूत हो अचेत होकर मत सोओ॥४॥

॥ संत दूलन दासजी की वाणी समाप्त ॥

संत सुन्दरदासजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

ब्रह्म में जगत यह ऐसी विधि देषियत,
जैसी विधि देषियत फूलरी महीर में।
जैसी विधि गिलम दुलीचे में अनेक भाँति,
जैसी विधि देषियत चूनरीउ चीर में॥
जैसी विधि कांगरेऊ कोट पर देषियत,
जैसी विधि देषियत बुदबुदा नीर में॥
सुन्दर कहत लीक हाथ पर देषियत,
जैसी विधि देषियत शीतला शरीर में॥

अर्थ—जैसे महीर (मट्ठे में चावल) पकाते समय उसके अन्दर उबाल आने के कारण तरह-तरह के नक्शे से फूल-सदृश देखने में आते हैं, जैसे गलीचे और कालीन पर तरह-तरह की नक्काशियाँ दीखती हैं, जैसे चुनरी कहानेवाले रंगीन वस्त्र पर बुन्दकियाँ देखने में आती हैं, जिस तरह कंगूरे भी किले के ऊपर देखने में आते हैं, जैसे पानी पर बुलबुले दिखाई देते हैं, जैसे हाथ पर हस्त-रेखाएँ तथा जैसे शरीर में शीतला का चिह्न देखने में आता है, सुन्दरदासजी कहते हैं कि उसी तरह ब्रह्म में जगत् दिखाई देता है॥

॥ मूल पद्य ॥

एक ब्रह्म मुख सूँ बनाय करि कहत हैं,
अन्तःकरण तौ विकारन सूँ भर्‍यो है।
जैसे ठग गोबर को कूपो भरि राखत है,
सेर पंच घृत ले कै ऊपर ज्यूँ कर्‍यो है॥
जैसे कोई भाँड माहिं प्याज कूँ छिपाय राखै,
चीथरा कपूर को लै मुख बाँधि धर्‍यो है।
'सुन्दर' कहत ऐसे ज्ञानी हैं जगत माहिं,
तिनकूँ तौ देखि करि मेरो मन डर्‍यो है॥

अर्थ—इस पद्य में संत सुन्दरदासजी ने वाचक ज्ञानी के संबंध में लिखा है कि वह एक परब्रह्म परमात्मा की बात को मुख से विविध भाँति बना-बनाकर वर्णन करता है; किन्तु उसका अन्तःकरण काम, क्रोधादि विकारों से भरा रहता है; जैसे कोई ठग या धूर्त्त घी-तेल रखने के बड़े भाँड़े में गोबर भरकर रखे और उसके ऊपर पाँच सेर घृत रख दे। तात्पर्य यह कि जैसे सर्वसाधारण की दृष्टि में वह बर्त्तन घृत से भरा है; लेकिन यथार्थ में बात ऐसी नहीं है, उसी तरह वाक्य-ज्ञानी अपनी चिकनी-चुपड़ी ज्ञानमयी वाणी-द्वारा सर्वसाधारण के समक्ष अपने को यथार्थ ज्ञानी प्रमाणित करना चाहता है; किन्तु यथार्थ में वह वैसा नहीं है। यदि कोई जानकार जन (ठग-कथनानुसार) समस्त घृत को लेकर उसकी जाँच करे, तो वह केवल घृत नहीं ठहरता, उसी तरह अनुभव-प्राप्त ज्ञानी के सामने वह वाचक ज्ञानी खरा नहीं उतर सकता, उसकी पोल खुल जाती है॥ जैसे कोई आदमी किसी पात्र में प्याज को छिपाकर रखे और उस पात्र के मुख पर कपड़े में कपूर को लपेटकर रखे, तात्पर्य यह

कि वर्णित कथक ज्ञानी के अन्दर दुर्गुण की दुर्गन्धि भरी होती है, किन्तु बाहर में वह अपने वाक्-जाल-द्वारा लोगों में अपना भलपन जनाता है। जैसे कर्पूर की सुगन्धि देर तक नहीं टिकती, उसी भाँति उसकी कलाबाजी अधिक दिन नहीं टिकती और अन्त में 'उघरे अन्त न होहिं निबाहू। कालनेमि जिमि रावन राहू॥' की भाँति उसकी हालत हो जाती है। संत सुन्दरदासजी कहते हैं कि संसार में ऐसे ही ज्ञानी (अधिक) हैं, जिनको देखकर मेरा मन डरता है। आशय यह कि ऐसे वाचक ज्ञानी से सचेत–होशियार रहना चाहिए; अन्यथा विपद है॥

॥ मूल पद्य ॥

काक अरु रासभ, उलूक जब बोलत हैं,
तिनके तौ वचन, सुहाते कहु कौन कूँ।
कोकिला रु सारि पुनि, सूवा जब बोलत हैं,
सब कोऊ कान दे, सुनत रव रौन कूँ॥
ताहिं तें सुवचन, विवेक करि बोलिये जू,
यूँहि आक बाक बकि, तोरिये न पौन कूँ।
'सुन्दर' समुझि ऐसे, वचन उचार करौ,
नहिं तौ समुझि करि, बैठो गहि मौन कूँ॥

अर्थ–(बोलते सभी जन हैं; किन्तु बोलने की कला किन्हीं-किन्हीं में होती है। इस संतवाणी-द्वारा वाणी-व्यवहार की हम एक दिव्य प्रेरणा पाते हैं। वर्णित पद्य में बताया गया है कि किस भाँति बोलना चाहिए और कब मौन-धारण करके रहना चाहिए।) सन्त सुन्दरदासजी महाराज कहते हैं कि काग, गदहे और उल्लू (पक्षी) जब बोलते हैं, तो कहिए उनकी बोली किनको सुहाती है? फिर जब कोयल, मैना और सुग्गे बोलते हैं, तो सभी कोई उनकी (मीठी) बोली को कान लगाकर सुनते हैं॥ इसलिए विवेक के साथ सुन्दर वचन अर्थात् सत्य और प्रिय वचन बोलिए, व्यर्थ ही वृथा की बकवाद वा बकझक करके (प्राण) वायु–जीवनी-शक्ति को नष्ट नहीं कीजिए। इस तरह भलाभल, सत्यासत्य और प्रियाप्रिय का विचार कर वचन का उच्चारण कीजिए; अन्यथा समझ-सोचकर मौन धारण कीजिए अर्थात् चुप होकर रहिए॥

॥ संत सुन्दरदासजी की वाणी समाप्त ॥

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

ऐसी आरती राम की करहि मन,
हरन दुख द्वन्द्व गोविन्द आनन्द घन॥१॥
अचर चर रूप हरि सर्वगत सर्वदा,
वसत इति वासना धूप दीजै।
दीप निज बोध गत क्रोध मद मोह तम,
प्रौढ़ अभिमान चित्त वृत्ति छीजै॥२॥
भाव अतिसय विसद प्रवर नैवेद्य सुभ,
श्री रमन परम सन्तोषकारी।
प्रेम ताम्बूल गत सूल संसय सकल,
विपुल भव वासना-बीज हारी॥३॥
असुभ सुभ कर्म-घृत पूर्न दस वर्त्तिका,
त्याग-पावक सतोगुन प्रकासं।
भक्ति वैराग्य विज्ञान दीपावली,
अर्पि निरांजनं जगनिवासं॥४॥
विमल हृदि भवन कृत सान्ति परयंक सुभ,
सयन विश्राम श्री राम राया।
छमा करुना प्रमुख तत्र परिचारिका,
यत्र हरि तत्र नहिं भेद माया॥५॥
आरती निरत सनकादिक स्त्रुति सेष सिव,
देवरिषि अखिल मुनि तत्त्वदरसी।
जो करइ सो तरइ परिहरइ काम सब,
बदत इति अमल मति दास तुलसी॥६॥

शब्दार्थ—गोविन्द=ज्ञान-सिन्धु (मानस-कोष)। अचर=स्थावर, नहीं चलनेवाला; जैसे वृक्षादि। चर=जंगम, चलनेवाला; जैसे मनुष्यादि। गत=लीन, तन्मय, निमग्न। निज बोध=आत्म-ज्ञान। विसद=विशुद्ध। प्रवर=उत्तम। हारी=हरनेवाला। नीराञ्जनं=आरती।

पदार्थ—हे मन! दुःख और कलह के हरनेवाले, ज्ञान-सिन्धु

और आनन्द-पुंज राम की आरती इस तरह कर॥१॥ स्थावर-जंगम स्वरूप राम के हैं और वह सबमें लीन हैं—सर्वव्यापी हैं, इसी इच्छा का धूप दीजिये। आत्म-ज्ञान का दीपक दीजिये, जिससे क्रोध, मस्ती और अज्ञान-अन्धकार नष्ट होकर बढ़ा हुआ अभिमान और चित्त की चंचलता नष्ट होती है॥२॥ अत्यन्त शुद्ध प्रेम का उत्तम और शुभ नैवेद्य और प्रेम ही का पान भोग लगाइये, जिनसे लक्ष्मीपति परम सन्तुष्ट होते हैं, सम्पूर्ण कष्ट और सन्देह दूर होते हैं और जो संसार के बीज बहुत-सी इच्छाओं के हरनेवाले हैं। ॥३॥ भक्ति, वैराग्य और विज्ञान के दीपों में शुभ-अशुभ कर्म-रूपी घी से भरी हुई दस बत्तियों का त्याग की अग्नि से लेसकर सत्त्वगुण की प्रकाशवाली आरती राम को अर्पित कीजिये ॥४॥ पवित्र हृदय-भवन में शान्ति के सुन्दर पलँग पर आराम करने के लिए श्रीराम को सुलाइये। वहाँ राम की सेवा के लिए क्षमा और दया मुख्य-मुख्य दासियों को रखिये, जहाँ राम (उपर्युक्त रीति से) रहेंगे, वहाँ द्वैत उत्पन्न करनेवाली माया नहीं रहेगी॥५॥ इस आरती में सनकादि, वेद, शेष, शिव, नारद और सार पदार्थ (निर्माया) के दर्शन करनेवाले समस्त मुनिगण विशेष रूप से रहते हैं। सब इच्छाओं को छोड़कर जो इस प्रकार आरती करेगा, वह मुक्त होगा। हे तुलसीदास! निर्मल बुद्धिवाले ऐसा कहते हैं॥६॥

भावार्थ– जो भवसागर से पार होना चाहे, उसे चाहिए कि राम को सम्पूर्ण रीति से सन्तुष्ट करने के हेतु उन्हें अपने अन्दर की शान्ति के पलँग पर प्रत्यक्ष पाने के लिए (१) उन्हें (राम को) सर्व-रूपी और सर्वव्यापी दृढ़ता से जाने, (२) आत्म-ज्ञान प्राप्त करे, (३) राम से अत्यन्त प्रेम करे, (४) दसो इन्द्रियों की वृत्तियाँ वा चेतन-धारें शुभाशुभ कर्मों से सराबोर रहती हैं, उन्हें विषयों से हटाकर अर्थात् त्याग की अग्नि से दग्ध करके सत्त्वगुण को धारण कर, भक्ति, विज्ञान और वैराग्य प्राप्त करे, (५) क्षमा और दया को धारण करे, (६) सब इच्छाओं को त्याग दे।

विचार—गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज इसी कलिकाल में थे। जबकि वे अपने मन को उपर्युक्त रीति से राम की आरती करने कहते हैं और जबकि वे यह भी कहते हैं कि जो कोई (अर्थात् कोई भी मनुष्य) इस प्रकार राम की आरती करेगा, वह तर जाएगा अर्थात् मोक्ष

प्राप्त कर लेगा, तब गोस्वामीजी महाराज के विचारानुसार कलियुग में भी राम की योगाभ्यास से होनेवाली ऐसी आध्यात्मिक आरती होती है और होगी। जो कोई इसे करना चाहेगा, करने में लग जाएगा, वह कर लेगा। स्त्री, शूद्र, चाण्डालादि, गृहस्थ, विरक्त–सब-के-सब इस आरती के करने के अधिकारी हैं। राम को सर्वगत कहकर उनके निर्गुण स्वरूप का और उन्हें चर-अचररूप कहकर उनके सगुण रूप का वर्णन कर, उनके इन दोनों स्वरूपों में रत रहने को कहा गया है। निर्गुण सर्वव्यापी स्वरूप राम का अरूप, इन्द्रियों से नहीं जाननेयोग्य, मूल, सनातन और सहज स्वरूप वा निज स्वरूप है और सगुण रूप उनका कारणवश प्रकट होनेवाला, अगुण से पीछे का रूपमान, स्थूल, सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म भेदों से इन्द्रियों से जाननेयोग्य भी और उनसे नहीं जाननेयोग्य भी, माया या छलरूप है (रामचरितमानस-सार सटीक, चौ० सं० ६८ को और दोहा सं० ११३ को अर्थ और लिखित विचारों-सहित पढ़िए।) निर्गुण स्वरूप में और सगुण के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और सूक्ष्मातिसूक्ष्म रूपों में, उनकी निसबत केवल पढ़-सुन और विचारकर रत होना केवल कठिनसाध्य ही नहीं, बल्कि असम्भव है (देखिए, विनय-पत्रिका-सार सटीक, पद्य ७)। जब चेतन-वृत्ति वा सुरत का पसार स्थूल शरीर में रहकर स्थूल इन्द्रियों के द्वारा काम करता रहता है, तब स्थूल सगुण में रत होना सम्भव होता है। इसी तरह जब सूक्ष्म भक्ति के साधन से सुरत को स्थूल शरीर से समेटकर और सूक्ष्म इन्द्रियों के द्वारा काम करना छोड़कर जब केवल सूक्ष्म ही शरीर में उसका पसार रहेगा और स्थूल-विहीन केवल सूक्ष्म शरीर से ही कर्म करना सम्भव होगा, तब सूक्ष्म सगुण में और इसी भाँति जब सूक्ष्म से भी सिमटकर आगे बढ़कर केवल कारण ही शरीर में सुरत का पसार रहेगा और उसके द्वारा कर्म किया जा सकेगा, तब सूक्ष्मातिसूक्ष्म सगुण में रत होते हुए, फिर कारण से भी सिमटकर सुरत वा चैतन्य वृत्ति को आत्म-स्वरूप में लय कर निर्गुण स्वरूप में रत होना अत्यन्त सम्भव है। रामचरितमानस-सार सटीक में वर्णित नवधा भक्ति, राम की इस प्रकार की आरती करने का वा उसके सगुण और निर्गुण स्वरूपों में रत होने का और आत्म-ज्ञान प्राप्त करने का साधन है। सगुण राम की उपासना के बाद आत्म-ज्ञान प्राप्त होता है। इसके प्राप्त होने पर राम के निर्गुण स्वरूप में रत होना बाकी नहीं रहता। भक्ति

के साधन का अन्त निज रूप वा आत्म-स्वरूप वा निर्गुण राम में रत होने तक ही है (देखिये, विनय-पत्रिका-सार सटीक, पद्य ९)। ध्यान, उपासना, आरती, पूजन, भजन और भक्ति का प्राण प्रेम है। राम के प्रति प्रेम बिना ये निस्सार और निरर्थक हैं। जिस महल में राम से मिलाप होता है, उसमें केवल राम के प्रेमी ही अपना शीश उतारकर अर्थात् अहंकार को सम्पूर्णतः गँवाकर जा सकते हैं। प्रेमी जिससे प्रेम करता है, उसके बिना उसको रहा नहीं जाता। सच्चा प्रेमी जिससे प्रेम करता है, उसकी ओर एकटक देखता है और चाहता है कि वह भी उसको देखे। वह अपने प्रेम-पात्र के पास चल पड़ता है और सम्पूर्ण विघ्न-बाधाओं को और सम्पूर्ण विपत्तियों को झेलते हुए, कठिन-से-कठिन मार्ग को पार कर उससे जा मिलता है। संत कबीर साहब प्रेम का कितना उत्तम वर्णन निम्नलिखित शब्दों में करते हैं–

प्रेम सखी तुम करो विचार। बहुरि न आना यहि संसार॥१॥
जो तोहि प्रेम खेलनवाँ चाव। शीश उतार महल में आव॥२॥
प्रेम खेलनवाँ यही विशेष। मैं तोहि देखूँ तू मोहि देख॥३॥
प्रेम खेलनवाँ यही स्वभाव। तू चलि आव कि मोहि बुलाव॥४॥
खेलत प्रेम बहुत पचिहारी। जो खेलिहैं सो जग से न्यारी॥५॥
कहै कबीरा प्रेम समान। प्रेम समान और नहीं आन॥६॥

जिस महल में राम से मिल सकते हैं, वह महल अपना ही शरीर है (विनय-पत्रिका-सार सटीक, पद्य १२ में देखिये) अपने शरीर के अन्तर की तहों में अपनी दृष्टि से देखे बिना, राम को देख नहीं सकते। इस प्रकार देखने के साधन को ही दृष्टि-साधन वा दृष्टि-योग कहते हैं। इस साधन का विवरण रामचरितमानस-सार सटीक की चौ0 ५ को अर्थ और लिखित विचारों के सहित पढ़कर जानिये। वर्णात्मक नाम को अत्यन्त एकाग्रता और प्रेम से जपना, राम को अपने पास बुलाना है। पर याद रहे कि इस प्रकार बुलाकर राम को केवल स्थूल सगुण रूप में ही पा सकते हैं। उनके सूक्ष्म, सूक्ष्मातिसूक्ष्म और निर्गुण रूपों से मिलने के लिए प्रथम कथित रीति से चेतनवृत्ति को समेटते हुए स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों में राम के स्थूल और सूक्ष्मातिसूक्ष्म वा कारण रूपों से मिलते हुए तीनों शरीरों से टपकर राम के निर्गुण स्वरूप से मिलना संभव है। और राम के स्थूल सगुण रूपों से मानस ध्यान के द्वारा मनाकाश में मिल सकते हैं, यह भी अपने शरीर में

सिमटना वा अपने अन्तर में राम की ओर जाना ही हुआ। अतएव अपने शरीर में यात्रा करनी राम की ओर चलना है। राम सच्चा प्रेमी इस यात्रा का यात्री वा अन्तर-पथ का पथिक अवश्य ही होता है। भक्ति-साधन का परम रहस्य यही है। इसी रहस्य को लक्ष्य करते हुए गो० तुलसीदासजी महाराज ने विनय-पत्रिका-सार सटीक में पद्य १० को गाया है। दृष्टि-योग की सुगम रीति से सुषुम्न-विन्दु पर युगल दृष्टि-धारों को मिलाने से इन्द्रियों की वृत्तियाँ शुभाशुभ कर्मों से सराबोर नहीं रहती हैं। विषयों से हट जाती हैं और रजोगुण-वाहिनी इड़ा और तमोगुण-वाहिनी पिंगला से भी हटकर सतोगुण-वाहिनी सुषुम्न के विन्दु पर मिल, उसको दृढ़ता से धरती है, तो सत्त्वगुण के प्रकाश से प्रकाशित होती है। जैसे किसी चीज को एक ही साथ दोनों हाथों से अत्यन्त बलपूर्वक पकड़ने पर सारे शरीर का बल हाथों की पकड़ पर ही आ जाता है, वैसे ही युगल दृष्टि से विन्दु को जकड़कर पकड़ने से सब इन्द्रियों की चेतन-वृत्ति वा सुरत की धारें उस विन्दु पर सिमटकर मिल जाती हैं और एक हो जाती हैं। दसों इन्द्रियों के दीपों में सुरत की धारें ही दस बत्तियाँ हैं। इन्द्रियों में रहकर ही यह उनके संग विषयों में बरतकर शुभाशुभ कर्म-रूप घी से सराबोर रहती है और रज और तम गुणों में बरतती रहती है। सो सब इनका सिमटाव होकर उस विन्दु पर जमाव होता है, जो बाहर में नहीं है और जो किसी इन्द्रिय में वा इड़ा वा पिंगला में नहीं है। तब सहज ही ये इन्द्रियों से, विषयों से और रज-तम गुणों से हट जाती हैं, सत्त्वगुण से प्रकाशित हो जाती हैं और शुभाशुभ कर्म जलने लगते हैं। जिस चीज का सिमटाव होता है, उसको जिस ओर से सिमटाव होता है, उससे विपरीत ओर को, आगे बढ़ाते जाने का, सिमटाव का स्वभाव है। इसी कारण पिण्ड वा स्थूल शरीर की ओर से सिमटकर सुरत जब सुषुम्न-विन्दु पर जम जाती है, तो स्थूल शरीर की ओर से विरुद्ध ओर को अर्थात् सूक्ष्म शरीर की ओर आगे बढ़ जाती है। और यह काम यदि उत्तरोत्तर (लगातार) जारी रखा जाय अर्थात् प्रथम विन्दु की सीध में के विन्दुओं पर जहाँ-जहाँ सुरत जाय, वहाँ-वहाँ सिमटाव नहीं छोड़ा जाय, तो सुरत वा चेतन-वृत्ति की गति सूक्ष्म के सब मंडलों से गुजरती हुई, सूक्ष्म सगुण के सब स्वरूपों से मिलती हुई, कारण मंडल में पहुँच जायगी। यहाँ तक दृष्टियोग की गति है। पर यहीं तक

काम समाप्त नहीं होता है। कारण से भी आगे राम के निर्गुण स्वरूप से मिलना है, जहाँ दृष्टि की गति नहीं है। वहाँ केवल निर्गुण राम-नाम के भजन से ही जाना सम्भव है। निर्गुण राम-नाम के बारे में रामचरितमानस-सार सटीक की चौ० सं० ८० को अर्थ और लिखित विचारों-सहित पढ़िये। इसी निर्गुण राम-नाम का भजन करना सुरत-शब्द-योग का सार है। इस शब्द को, दृष्टि-योग सम्पूर्णतः समाप्त करके भी सुरत पा सकती है और दृष्टि को केवल सुषुम्ना में ही थिर-थाम्हकर वहीं से अनहद ध्वनि के सहारे आगे बढ़ पा सकती है। पर इन दोनों हालतों में गुरु के संकेत की बड़ी आवश्यकता है। शब्द में सुरत को आकर्षित करने का स्वभाव है। शब्द अपने आकर्षण से सुरत को अपने उद्गम-स्थान में खींच लाता है। निर्गुण राम-नाम सुरत को राम के निज निर्गुण स्वरूप तक अपने महान आकर्षण से खींचकर पहुँचा देता है।

विचार का सांराश यह कि वर्णित आरती केवल विचार-द्वारा वा राम के केवल स्थूल सगुण स्वरूप की उपासना से ही नहीं की जा सकेगी। यह कथित विचारानुसार वर्णात्मक नाम-भजन, मानस ध्यान, दृष्टि-योग और सुरत-शब्द-योग द्वारा की जा सकेगी। गो० तुलसीदासजी महाराज ज्ञानी भक्त-योगी सन्त थे, न कि केवल मोटी ही उपासनावाले भक्त।

॥ मूल पद्य ॥

हिय निर्गुन नयनन्हि सगुन, रसना राम सुनाम।
मनहु पुरट सम्पुट लसत, तुलसी ललित ललाम॥

शब्दार्थ—पुरट=सोना। सम्पुट=डिब्बा। लसत=शोभा पाता है। ललित=मनोहर, सुन्दर। ललाम=रत्न।

पद्यार्थ—हृदय में निर्गुण है और आँखों में सगुण है; जैसे सोने के डिब्बे में मनोहर रत्न शोभा पा रहा हो।

[हृदय में जो होता है, उसी में विशेष आसक्ति रहती है।]

॥ मूल पद्य ॥

ज्ञान कहै अज्ञान बिनु, तम बिनु कहै प्रकास।
निरगुन कहै जो सगुन बिनु, सो गुरु तुलसीदास॥

भावार्थ—जो बिना अज्ञान के ज्ञान कहते हैं अर्थात् जो अपरोक्ष या प्रत्यक्ष आत्म-ज्ञान प्राप्त किए हुए हैं, जो अन्धकार को पार करके

प्रकाश का कथन करते हैं और जो सगुण-विहीन निर्गुण का वर्णन करते हैं, तुलसीदासजी महाराज कहते हैं कि वे गुरु हैं॥

॥ मूल पद्य ॥

पात पात कै सींचवो, बरी बरी के लोन।
तुलसी खोटे चतुरपन, कलि डहके कहु को न॥

भावार्थ—(वृक्ष की जड़ में पानी सींचना छोड़कर) पत्ते-पत्ते में पानी सींचना और (बेसन में ही नोंन मिला देना छोड़कर) एक-एक बरी में पृथक्-पृथक् नोंन देने की चतुराई से कौन नहीं ठगे गए? भाव यह कि पृथक्-पृथक् अनेक देव-उपासना से बचना चाहिए और सबकी जड़ एक ही परमात्म-भक्ति में लौ लगानी चाहिए। ऐसा जो नहीं करते हैं, वे ठगे जाते हैं अर्थात् परमात्मा की भक्ति और मुक्ति से वंचित रहते हैं॥

॥ मूल पद्य ॥

केशव कही न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना विचित्र हरि! समुझि मनहिं मन रहिये॥१॥
शून्य भीति पर चित्र रंग नहिं, तनु बिना लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय एहि तनु हेरे॥२॥
रवि कर नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
वदन हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं॥३॥
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै॥४॥

अर्थ—हे केशव! क्या कहूँ, कहा नहीं जाता है। हे हरि! आपकी विचित्र सृष्टि को देखकर और समझकर मन-ही-मन रह जाता हूँ॥१॥ अशरीरी (निराकार परमात्मा) चित्रकार ने माया-रूपी शून्य[१] दीवाल पर बिना रंग के चित्र लिख दिया है अर्थात् बिना रंग के ही बहुरंगी सृष्टि की है। इस बहुरंगे चित्र का रंग धोने से नहीं मिटता है और इस दीवाल के उस दुःख से मरता हूँ, जो दुःख इस देह को देखकर अर्थात् अनात्मदर्शी होने से प्राप्त होता है॥२॥ सूर्य-किरण-रूप जल अर्थात् मृग-तृष्णा के जल में भयंकर बोचा (मगर) रूप काल

१. रजत सीप महँ भास जिमि, जथा भानु कर वारि।
जदपि मृषा तिहँ काल महँ, भ्रम न सकै कोउ टारि॥
(रामचरितमानस, बालकाण्ड)

बसता है, जो बिना मुँह के ही उन समस्त स्थावर-जंगम प्राणियों को ग्रसता है, जो उस जल को पीने जाते हैं॥३॥ माया को कोई[२] सत्य कहता है (उसकी सत्ता मानता है), और कोई उसको मिथ्या मानता है (उसकी सत्ता नहीं मानता है), और कोई उसको सत्य एवं असत्य, दोनों ही रूपों में मानता है। तुलसीदासजी कहते हैं कि जो तीन भ्रमों को अर्थात् तीन गुणों✪ को त्यागता है अर्थात् त्रयगुणातीत होता है, वह आत्मदर्शी होता है॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

देहि सत्संग निज अंग श्रीरंग, भव भंग कारन सरन सोकहारी।
जेतु भवदङ् घ्रिपल्लव समस्त्रित सदा, भक्तिरत विगत-संसय मुरारी ॥१॥

अर्थ-हे लक्ष्मीपति! मुझे सत्संग दीजिए। वह आपका अपना शरीर, जन्म को नष्ट करने का कारण और शरणागत के शोक को हरनेवाला है। हे मुरारि! जो आपके चरण-पल्लव के अधीन होकर सदा भक्ति में लगे रहते हैं, वे सन्देह से रहित हो जाते हैं॥१॥

॥ मूल पद्य ॥

असुर सुर नाग नर जच्छ गन्धर्व खग, रजनिचर सिद्ध जे चापि अन्ने।
संत संसर्गत्रयवर्ग पर परम पद, प्राप्य निःप्राप्य गति त्वयि प्रसन्ने॥२॥

अर्थ-तीनों दरजों के परे (चौथा पद) नहीं पाने योग्य अर्थात् अत्यन्त कठिनाई से पाने योग्य-मोक्ष की गति आपकी कृपा से सत्संग पाकर असुर, देवता, नाग, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व, पक्षी, निशाचर, सिद्ध और दूसरों के पाने योग्य होती है॥२॥

स्थूल जगत्=स्थूल माया, पिण्ड=अन्धकार; सूक्ष्म जगत्=रूप ब्रह्माण्ड, प्रकाश; कारण जगत्=कारण माया, अरूप ब्रह्माण्ड और मूल प्रकृति, जड़ात्मक शब्द; इन तीनों वर्गों वा दर्जों वा पदों के आगे परम

---

२. एहि विधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥
—गो० तुलसीदास (रामचरितमानस, बालकाण्ड)

गोस्वामी तुलसीदासजी महाराज माया को असत्य, भ्रम और दुःखदायी मानते हैं। इसलिए उनके विचार के अनुसार माया की स्व सत्ता नहीं है। इसीलिए उसको शून्य भी माना गया है।

✪माया त्रैगुणात्मिका है। इसीलिए रजोगुण, सत्त्वगुण और तमोगुण; ये तीन गुण भी भ्रम कहे गये हैं।

मोक्ष है, जिसको चौथा पद कहते हैं।●

॥ मूल पद्य ॥

वृत्र बलि प्रह्लाद मय व्याध गज,
गिद्ध द्विज-बन्धु निज धर्म त्यागी।
साधु-पद सलिल निर्धूत कल्मष सकल,
स्वपच जवनादि कैवल्य भागी॥३॥

अर्थ—वृत्रासुर, बलि, वाणासुर, प्रह्लाद, मयदानव, व्याध, गज, गिद्ध, स्वधर्म-त्यागी ब्राह्मण (अजामिल), डोम और मुसलमान इत्यादि साधु के चरण के जल से सब पापों को धोकर मोक्ष के भागी हुए॥३॥

॥ मूल पद्य ॥

सान्त निरपेच्छ निर्मम निरामय अगुन,
सब्दब्रह्मैक पर ब्रह्म ज्ञानी।
दच्छ समदृकस्वदृकविगत अति स्व-पर-मति,
परम रति विरति तव चक्रपानी॥४॥

अर्थ—हे चक्र को हाथ में रखनेवाले! जो आपमें अत्यन्त आसक्त होते हैं, वे शान्त, उदासीन, ममता-हीन, रोग-रहित और निर्गुण शब्द-ब्रह्म* से आगे की गति के ब्रह्मज्ञानी, समदृष्टि में निपुण, अपनपौ

●कबीर साहब, दरिया साहब (बिहारी), तुलसी साहब और धरनी दासजी की तथा और भी कई सन्तों की वाणियों में चौथे पद का वर्णन पाया जाता है, जिनमें इस पद को मोक्ष-पद कहा गया है, इस पद को सन्तों ने सत्तलोक, छपलोक, सचखण्ड और निर्वाण भी कहा है।

'चौथे घर एक गाँव ठाँव पिव को बसै, लखे रे कोई बिरला पद निरवान।
तीन लोक में यह यमराजा, चौथे लोक में नाम निशान॥'
—सन्त कबीर साहब

'चौथा लोक शब्द की बानी। शब्द समुन्दर बाँधल ज्ञानी॥'
—दरिया साहब, बिहारी

'सूरति सन्त करै कोई सैला। चौथा पद सतनाम दुहेला॥'
—तुलसी साहब

'चौथे चारि चतुर नर सोई, चौथे पद कहँ लागी।' —धरनी दासजी

*'अक्षरं परमो नादः शब्दब्रह्मेति कथ्यते'—योगशिखोपनिषद्। यही निर्गुण शब्दब्रह्म है। इसके परे 'निःशब्दं परमं पदम्'—ध्यानविन्दूपनिषद्। सन्तों का यही अनाम पद है।

की आँख और अपना और पराया विचारनेवाली बुद्धि से अत्यन्त रहित और विरक्त होते हैं।।४।।

॥ मूल पद्य ॥

बिस्व उपकार हित व्यग्र चित सर्वदा,
त्यक्त मद मन्यु कृत पुण्य रासी।
जत्र तिष्ठन्ति तत्रैव अज सर्व हरि,
सहित गच्छन्ति छीराब्धि वासी ।।५।।

शब्दार्थ–सर्व=शर्व, शिव।

अर्थ–संसार के उपकार के लिए जिनका चित्त सदा चंचल रहता है, जो गर्व और क्रोध को त्यागकर बहुत-से पुण्य करते हैं, वे जहाँ ठहरते हैं, वहीं ब्रह्मा और शिव के सहित क्षीर-समुद्र में वास करनेवाले हरि भगवान जा पहुँचते हैं।।५।।

॥ मूल पद्य ॥

वेद पय सिन्धु सुविचार मन्दर महा,
अखिल मुनिवृन्द निर्मथनकर्त्ता।
सार सत्संगमुद्धृत्य इति निश्चितं,
वदत श्रीकृष्ण वैदर्भि भर्त्ता ।।६।।

अर्थ–वेद क्षीर-समुद्र है। उत्तम विचार मंदराचल है। समस्त मुनिगण मथनेवाले हैं। रुक्मिणीजी के स्वामी श्रीकृष्ण कहते हैं कि मंथन करके सत्संग-रूपी सार निकाला गया है, यह निश्चित है।।६।।

॥ मूल पद्य ॥

सोक सन्देह भय हर्ष तम तर्ष गन,
साधु सद्युक्ति विच्छेद कारी।
जथा रघुनाथ सायक निसाचर चमू,
निचय निर्दलन पटु वेग भारी।।७।।

शब्दार्थ–साधु सद्युक्ति=साधु की सुन्दर युक्ति=सुरत को सुषुम्ना में रखना।

अर्थ–शोक, संशय, डर, हर्ष, अन्धकार और अभिलाषाओं को साधु अपनी सुन्दर युक्ति से इस प्रकार हटा देनेवाले हैं, जिस तरह श्री

रघुनाथजी (राम) का तीर निशाचर की सेना नाश करने के लिए तीक्ष्ण और भारी वेगवान है॥७॥

॥ मूल पद्य ॥

जत्र कुत्रापि मम जन्म निज कर्म बस,
भ्रमत जग जोनि संकट अनेकम्।
तत्र त्वद्भक्ति सज्जन समागम सदा,
भवतु मे राम विश्राममेकम्॥८॥

अर्थ–अपने कर्मों के अधीन हो संसार की योनियों में भटकते हुए अनेक कष्टों में जहाँ कहीं मेरा जन्म हो, वहाँ आपकी भक्ति और सत्संग मुझको प्राप्त हो, मैं यही एक विश्राम माँगता हूँ॥८॥

॥ मूल पद्य ॥

प्रबल भव जनित त्रय व्याधि भैषज भक्ति,
भक्त भैषज्यमद्वैतदरसी।
संत भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं किमपि,
मति विमल कह दास तुलसी॥९॥

शब्दार्थ–त्रय व्याधि=तीन रोग (दैहिक=ज्वरादि शारीरिक क्लेश। दैविक=दैवात् प्राप्त क्लेश। भौतिक=सर्पादि दुष्ट जन्तुओं से उत्पन्न हुए क्लेश, प्राणी-सम्बन्धी क्लेश)। दैहिक दैविक भौतिक तापा.........(तुलसीकृत रामचरितमानस)।

अर्थ–संसार से उत्पन्न हुए तीनों कठिन रोगों की औषधि भक्ति है। आत्म-दर्शी भक्त वैद्य हैं। सन्त और भगवन्त में सदा कुछ भी भेद नहीं है। हे तुलसीदास! यह निर्मल बुद्धिवाले कहते हैं॥९॥

विचार–त्रय वर्ग पर, शब्दब्रह्मैक पर और तीनों अवस्थाओं के स्थान आदि बहुत-सी बातें जो पद्यों से सम्बन्ध रखनेवाली हैं, वे सब 'सत्संग-योग' के चौथे भाग में दिए गए चित्र से विदित होंगी।

॥ मूल पद्य, चौपाई ॥

जौं तेहि पन्थ चलइ मन लाई। तौ हरि काहे न होहिं सहाई॥
जो मारग स्रुति साधु दिखावैं। तेहि मग चलत सबइ सुख पावैं॥

अर्थ–यदि उस रास्ते (ईश्वरोपासना-द्वारा आत्मस्वरूप प्राप्त

करने की दशा के मार्ग) पर मन लगाकर चले, तो हरि क्यों नहीं सहायक होंगे? वेद का जो रास्ता साधु दरसाते हैं, उस रास्ते पर चलने में सब कोई सुख पाते हैं॥

॥ **मूल पद्य**, छन्द ॥

पावइ सदा सुख हरि कृपा, संसार आसा तजि रहै।
सपनेहुँ नहीं दुख द्वैत दरसन, बात कोटिक को कहै॥
द्विज देव गुरु हरि सन्त बिनु, संसार पार न पाइये।
यह जानि तुलसीदास त्रास, हरण रमापति गाइये॥३॥

अर्थ–वह (आत्म-स्वरूप में रत भक्त) संसार की आशा को त्यागकर (जीवन्मुक्त होकर) संसार में रहता है और हरि की कृपा से सदा सुख पाता है। (उसकी निसबत) अनेक बातें और कौन कहे? उसे सपने में भी वह दुःख नहीं होता है, जो ईश्वर से अपने को दूसरा मानकर उत्पन्न होता है॥ ब्राह्मण, देवता, गुरु, ईश्वर और सन्त की कृपा बिना संसार का पार पाया नहीं जाता है। तुलसीदासजी कहते हैं कि ऐसा जानकर डर को हरनेवाले लक्ष्मीपति का गुण गाइए॥३॥

भावार्थ–हरि की कृपा से साधु-संग मिलता है। सत्संग से ईश्वर की भक्ति मिलती है। ईश्वर की भक्ति मोक्षदायक है। साधु की सेवा करने से प्रथम सगुण ब्रह्म की प्रीति-सहित उपासना बनती है। इससे देह-उत्पन्न विकार दूर होता है। तब फिर आत्म-स्वरूप अद्‌भुत, अदेह और परम पवित्र है। इस दशा को पाकर सपने में भी द्वैत-दुःख नहीं व्यापता है। मन लगाकर इस दशा को प्राप्त करने के मार्ग पर चलने से ईश्वर सहायक होते हैं।

विचार–गो० तुलसीदासजी महाराज के इस पद्य के भावों से ये सिद्धांत स्पष्ट सिद्ध होते हैं–(१) ब्रह्म के दो स्वरूप हैं–निर्गुण और सगुण। (२) सत्संग करके दोनों स्वरूपों की प्राप्ति का भेद जानना चाहिए। (३) केवल सगुण स्वरूप से ही प्रेम करके उसीमें संतुष्ट नहीं होना चाहिए। (४) प्रथम से ही जान लेना चाहिए कि निर्गुण ब्रह्म वा आत्म-स्वरूप को प्राप्त करके ही भक्ति पूरी होगी और तभी ईश्वर और अपने में भेद-ज्ञान का दुःख (द्वैत-दुःख) मिटकर परम कल्याण होगा। इसलिए प्रथम सगुण ब्रह्म की उपासना से अपने

को योग्य बना, फिर निर्गुण स्वरूप का अनुरागी बन, उसे प्राप्त करना चाहिए। (५) जो कोई इस पूरी उपासना के मार्ग पर (अर्थात् सगुण से निर्गुण तक पहुँचने के मार्ग पर) मन लगाकर चलेगा, उसपर ईश्वर प्रसन्न होंगे और सहायता देकर उसे निर्गुण वा आत्म-स्वरूप तक की गति प्राप्त करा देंगे (६) कथित मार्ग पर चित्त लगाकर चलना ईश्वर को प्रसन्न कर उसकी सहायक बनाने का एक ही जरिया है। गोस्वामीजी की यह बात 'ईश्वर उनको सहायता देता है, जो अपने को आप मदद करते हैं—"God helps those who help themselves." के सदृश है। (७) इस तरह गो० तुलसीदासजी महाराज केवल सगुण उपासना तक ही नहीं रह जाते, वे आत्म-स्वरूप वा निर्गुण के भी प्रेमी बनते हैं और उसे पाकर द्वैत-दुःख से मुक्त होते हैं, 'जानत तुम्हहिं तुम्हइ होइ जाई' वाला पद प्राप्त कर लेते हैं। गोस्वामीजी सगुण स्वरूप में रत थे, निर्गुण स्वरूप में वे रत नहीं थे, वे भेद-भक्ति (ईश्वर से अलग रहने की भाव वाली भक्ति) को ही पसंद करते थे, उनकी गति इसी भक्ति तक थी, ऐसा कहना अनजानपन के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

॥ गोस्वामी तुलसीदासजी की वाणी समाप्त ॥

सन्त सूरदासजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

अपने जान मैं बहुत करी।
कौन भाँति हरि कृपा तुम्हारी, सो स्वामी समुझी न परी ॥
दूरि गयो दरसन के ताईं, व्यापक प्रभुता सब बिसरी।
मनसा वाचा कर्म अगोचर, सो मूरति नहिं नैन धरी ॥
गुण बिनु गुणी स्वरूप रूप बिनु, नाम लेत श्री श्याम हरी।
कृपासिन्धु अपराध अपरमित, क्षमो 'सूर' तें सब बिगड़ी ॥

भवार्थ—मैंने अपने जानकर बहुत कुछ किया; परन्तु आपकी कृपा किस तरह होती है, हे प्रभु-परमात्मा! यह बात मेरी समझ में नहीं आयी॥ मैं आपकी सर्वव्यापकता की प्रभुता को भूलकर आपके दर्शन के वास्ते दूर-दूर गया। आपकी जो मूर्त्ति* मन, वचन और कर्म को

* पिण्डी मन, वचन और कर्म को परमात्मा का अणोरणीयाम् वा विन्दु-रूप अप्रत्यक्ष है। दृष्टियोग के अभ्यास से नयनाकाश में यह धारण करने-योग्य है।

अप्रत्यक्ष है, उसको मैंने अपनी आँख में नहीं पकड़ा॥ आप त्रय गुणातीत होते हुए गुणवान हैं और आपका आत्म-स्वरूप बिना रूप का है; परन्तु हे हरि! मैं श्याम कहकर आपका नाम लेता हूँ। हे कृपा-सिन्धु! मुझसे असंख्य अपराध हुए, आप क्षमा कीजिये, सूरदास से तो सब बिगड़ ही गया॥

॥ मूल पद्य ॥

ताते सेइये यदुराई ।
सम्पति विपति विपति सौं सम्पति, देह धरे को यहै सुभाई ॥
तरुवर फूलै फलै परिहरै, अपने कालहिं पाई ।
सरवर नीर भरै पुनि उमड़ै, सूखे खेह उड़ाई ॥
द्वितीय चन्द्र बाढ़त ही बाढ़े, घटत घटत घटि जाई ।
सूरदास सम्पदा आपदा, जिनि कोऊ पतिआई ॥

भावार्थ—इसलिए भगवान यदुराई श्रीकृष्ण का भजन करो। सम्पत्ति से विपत्ति और विपत्ति से सम्पत्ति होती है, देह धरने का यही स्वभाव है॥ वृक्ष फूलता है, फलता है और काल पाकर फूल-फल को त्याग देता है। तालाब में पानी भर जाता है, उमड़ जाता है और सूखकर उसमें से गर्दा उड़ने लगता है॥ द्वितीया का चन्द्रमा बढ़ते-बढ़ते पूर्णिमा तक पूर्ण रूप से बढ़ जाता है और घटते-घटते अमावास्या में बिल्कुल घट जाता है। श्रीसूरदासजी कहते हैं कि धन, ऐश्वर्य और दुःख-दारिद्र्य का कोई विश्वास न करे। ये सदा एक तरह नहीं रहते हैं॥

॥ मूल पद्य ॥

जो मन कबहुँक हरि को जाँचै।
आन प्रसंग उपासना छाड़ै मन बच क्रम अपने उर साँचै ॥
निशदिन श्याम सुमिरि यश गावै कल्पन मेटि प्रेम रस पाचै ।
यह व्रत धरै लोक में विचरै सम करि गनै महामणि काचै ॥
शीत उष्ण सुख दुख नहिं मानै हानि भये कुछ सोच न राचै ।
जाइ समाइ सूर वा निधि में बहुरि न उलटि जगत में नाचै ॥

भावार्थ—हे मन! यदि तुम कभी हरि की याचना करो, तो दूसरे प्रसंग और उपासनाओं को छोड़ दो तथा मन, वचन, कर्म से अपने हृदय में सच्चे बने रहो॥ दिन-रात श्रीश्याम का सुमिरण करो, उनका यश गाओ और कल्पों से पंच विषय-रस में लीनता को उन

श्रीश्याम के प्रेम में लगाकर मिटा डालो। इस व्रत को धारण करके संसार में विचरो और महामणि तथा काँच को एक तुल्य समझो॥ सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख को सहन करो और हानि होने पर दुःखी मत बनो। जाकर इस परमात्म-रूप समुद्र में समा जाओ कि फिर लौटकर तुमको इस संसार में नहीं नाचना पड़े॥

॥ मूल पद्य ॥

जौं लौं सत्य स्वरूप न सूझत।
तौं लौं मनु मणि कण्ठ बिसारे, फिरत सकल बन बूझत॥
अपनो ही मुख मलिन मन्द मति, देखत दर्पण माँह।
ता कालिमा मेटिबे कारण, पचत पखारत छाँह॥
तेल तूल पावक पूट भरि धरि, बनै न दिया प्रकासत।
कहत बनाय दीप की बातें, कैसे हो तम नासत॥
सूरदास जब यह मति आई, वे दिन गये अलेखे।
कह जाने दिनकर की महिमा, अन्ध नयन बिनु देखे॥

भावार्थ—जबतक आत्म-दर्शन नहीं होता है, तबतक जैसे कोई मणि-माला को अपने कण्ठ में भूलकर उसे समस्त जंगल में ढूँढ़ता है, उसी तरह मनुष्य अपने अंदर की ढूँढ़ छोड़कर आत्मा (ब्रह्म) को बाहर-बाहर ढूँढ़ता है॥ भद्दी बुद्धिवाले किसी व्यक्ति के निज मुख पर मैल लगी है और वह दर्पण में मुख देखता है, तो उस मैल को मिटाने के लिए ऐने में के अपने प्रतिबिम्ब को अधिकाधिक प्रयास से धोता है। तात्पर्य यह कि शरीरस्थ चेतन-आत्मा के ऊपर स्थूल-सूक्ष्मादि-भेद से शरीर और अन्तःकरण आदि मैल लगी हुई है; जब श्रवण-मनन ज्ञान-रूप दर्पण में यह मैल जानने में आती है, तो केवल शरीर को धो-नहलाकर साफ करके वा तप-व्रत आदि द्वारा उसे साध और कष्ट पहुँचाकर वा केवल विचार-द्वारा ही अन्तःकरण को शुद्ध करने के प्रयास से ही वह मैल दूर नहीं होती॥ दीपक में तेल भर और उसमें रूई की बत्ती देकर तो बिना जलाने से नहीं बलता है अर्थात् अंधकार में प्रकाश नहीं होता है और (अंधकार में बैठकर) दीपक की बातें बना-बनाकर कहता रहता है, तो भला वह अंधकार कैसे दूर हो सकता है? इन पद्यों से भाव यह निकलता है कि जब ईश-भजन की

उस विधि से, जिस विधि से कि सुरत या चेतन-आत्मा प्रभु से मिलने को अन्तःस्थ अंधकार से पार हो ब्रह्म-ज्योति में पहुँच अंतर के सब मायिक आवरणों को पार करे, तब वह अंधकार को दूर कर सकेगी और अपने ऊपर चढ़ी कथित मैल को भी मिटा सकेगी। इसके अतिरिक्त कथित छाँह धोने से और केवल दीपक की बातें अंधकार में करने से न वह मैल मिटेगी, न वह अंधकार मिटेगा। सूरदासजी कहते हैं कि जब इस विचार का बोध हुआ, तब वे दिन अर्थात् इसके पहले के दिन बिना लेखे के बीत गए अर्थात् उन सब दिन के परिश्रम व्यर्थ हुए; परंतु आत्म-सत्स्वरूप-रूप सूर्य की महिमा को आत्म-दृष्टि से नहीं देख सकनेवाला अंधा क्या जाने?

॥ संत सूरदासजी की वाणी समाप्त ॥

सन्त तुलसी साहब की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

सुरति सिरोमनि घाट, गुमठ मठ मृदंग बजै रे ।।टेक।।
किंगरी बीन संख सैनाई, बंकनाल की बाट ।
चितवत चाट खाट पर जागी, सोवत कपट कपाट ।।१।।
मुरली मधुर झाँझ झनकारी, रँभा नचत बैराट ।
उड़त गुलाल ज्ञान गुन गाँठी, भर-भर रंग रस माट ।।२।।
गाई गैल सैल अनहद की, उठै तान सुर ठाट ।
लगन लगाइ जाइ सोइ समझी, सुरत सैल नभ फाट ।।३।।
तुलसी निरख नैन दिन राती, पल-पल पहरौ आठ ।
यहि विधि सैल करै निस वासर, रोज तीन सै साठ ।।४।।

भावार्थ–पिण्ड में सुरत का सबसे उत्तम घाट (षट्चक्र या आज्ञा-चक्र के केन्द्र-विन्दु) के मठ की गुमटी में अनहद नाद का मृदंग बजता है।। इसके आगे बंकनाल वा पतले नल जिसके अंदर के मार्ग पर कठिनाई से चला जा सके, में मजीरा, बीन, शंख और शहनाई बजती है। जिसको दृष्टियोग द्वारा देखने का चस्का लग गया है, वह खटिये पर सोया हुआ-सा प्रतीत होता है; परन्तु जगता रहता है।।१।। वह मुरली की मधुर ध्वनि, झाँझ की झनकार और विश्व-विराट् रूप रंभा अप्सरा का नाच देखता है अर्थात् विश्व विराट् की गति और

गति-ध्वनि देखता और सुनता है। उसकी गाँठ से ज्ञान-गुण का गुलाल उड़ता है अर्थात् उसके द्वारा ज्ञान का प्रचार होता रहता है और उसके सब रंग-रूप माटें ज्ञान-रंग के रस से भरे रहते हैं॥२॥ यह मैंने अनहद में यात्रा करके वर्णन किया है। वहाँ अनेक ध्वनियाँ उठती रहती हैं। जिसने इस साधन में मन लगाया है और जो सुरत से यात्रा करके एक प्रकार के आकाश से दूसरे प्रकार के आकाश में चलकर गया है, उसी ने इसको समझा है॥३॥ तुलसी साहब कहते हैं कि पल-पल, आठो पहर, दिन-रात आँख से निरखो (देखो) अर्थात् दृष्टि-साधन करो और इसी तरह से दिन-रात, सब दिन यात्रा करते रहो॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

अजब अनार दो बहिश्त के द्वार पै।
लखै दुरवेश कोई फकीर प्यारा॥१॥
ऐनि के अधर दो चश्म के बीच में।
खसम को खोज जहाँ झलक तारो॥२॥
उसी बीच फक्त खुद खुदा का तख्त है।
सिश्त से देख जहाँ भिस्त सारा॥३॥
तुलसी सत मत मुरशिद के हाथ है।
मुरीद दिलरूह दोजख न्यारा॥४॥

भावार्थ—स्वर्ग के द्वार पर आश्चर्यमय दो अनार लटकते हैं, जिसको साधु का प्यारा कोई साधक देखते हैं॥१॥ आँख के शून्य में दोनों आँखों के बीच के अन्दर प्रभु को खोजो, जहाँ तारा झलकता है॥२॥ केवल उसी के अन्दर स्वयं प्रभु का सिंहासन है। शिस्त करके देखो, जहाँ असली स्वर्ग है॥३॥ तुलसी साहब कहते हैं कि सत्य और निश्चित सिद्धांत गुरु के हाथ में है। जो मन और सुरत से चेला● बनता है, वह नरक से न्यारा हो जाता है॥४॥

॥ मूल पद्य ॥

आरति संग सतगुरु के कीजै। अन्तर जोत होत लख लीजै॥१॥
पाँच तत्त्व तन अग्नि जराई। दीपक चास प्रकाश करीजै॥२॥

● मन से गुरु-आज्ञा में बरतना और बहिर्मुख से अन्तर्मुख होने का ठीक-ठीक अभ्यास करके सुरत-शब्द अभ्यास में संलग्न हो जाना—सुरत से चेला बनना है। 'सुरत शिष्य सबदा गुरु मिलि मारग जाना हो।'

गगन थाल रवि ससि फल फूला। मूल कपूर कलश धर दीजै ।।३।।
अच्छत नभ तारे मुक्ताहल। पोहप माल हिय हार गुहीजै ।।४।।
सेत पान मिष्टान्न मिठाई। चन्दन धूप दीप सब चीजै ।।५।।
झलक झाँझ मन मीन मजीरा। मधुर मधुर धुनि मृदंग सुनीजै ।।६।।
सर्व सुगन्ध उड़ि चली अकाशा। मधुकर कमल केलि धुनि धीजै ।।७।।
निरमल जोत जरत घट माँही। देखत दृष्टि दोष सभ छीजै ।।८।।
अधर-धार अमृत बहि आवै। सत-मत द्वार अमर रस भीजै ।।९।।
पी-पी होय सुरत मतवाली। चढ़ि-चढ़ि उमगि अमी रस रीझै ।।१०।।
कोट भान छवि तेज उजाली। अलख पार लखि लाग लगीजै ।।११।।
छिन-छिन सुरत अधर पर राखै। गुरु-परसाद अगम रस पीजै ।।१२।।
दमकत कड़क-कड़क गुरुधामा। उलटि अलल तुलसी तन तीजै ।।१३।।

भावार्थ—सद्गुरु के संग प्रभु परमात्मा की आरती कीजिए और अन्तर में ज्योति होती है, उसे देख लीजिए।।१।। तन के पाँच तत्त्वों की अग्नि को जला, दीपक बालकर प्रकाश कर लीजिए। इसका तात्पर्य यह है कि ध्यान-अभ्यास करके पाँच तत्त्वों के भिन्न-भिन्न रंगों के प्रकाशों * को देखिए और इसके अनन्तर दीपक-टेम की ज्योति का भी दर्शन कीजिए।।२।। *शून्य के थाल में सूर्य * और चन्द्र * फल-फूल हैं और इस पूजा के मूल या आरम्भ में कपूर अर्थात् श्वेत ज्योति-विन्दु का कलश-स्थापन कीजिए।।३।। अन्तराकाश में दर्शित सब तारे * रूप मोतियों * का अच्छत (अरवा चावल, जिसका नैवेद्य पूजा में चढ़ाते हैं।) और ऊपर-कथित फूलों का हार गूँथकर हृदय में पहन लीजिए अर्थात् अपने अन्दर में उन फूलों का सप्रेम दर्शन कीजिए।।४।। पान, मिठाई, मिष्टान्न, चन्दन, धूप और दीप; सब-के-सब उजले यानी प्रकाश हैं।।५।। झलक अर्थात् प्रकाश में झाँझ, मजीरे और मृदंग की मीठी ध्वनियों को मीन-मन से अर्थात् भाठे से सिरे[1] की ओर चढ़नेवाले

* आदौ तारकवद्दृश्यते। ततो वज्रदर्पणम्। तत् उपरि पूर्णचन्द्र मण्डलम्। ततो नवरत्नप्रभामण्डलम्। ततो मध्याह्नार्क मण्डलम्। ततो वह्निशिखामण्डलम् क्रमाद्दृश्यते। तदा पश्चिमाभिमुख प्रकाशः स्फटिक धूम्रविन्दुनादकलानक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसुवर्णनवरत्नादि प्रभा दृश्यन्ते।
—मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, ब्राह्मण-२

* मन इस्थिर अस अमी अघाना। तत्त पाँच रंग बिधी बखाना।।
स्याही सुरख सफेदी होई। जरद जाति जंगाली सोई।। —घटरामायण
'जैसे मन्दिर दीपक बारा। ऐसे ज्योति होत उजियारा।।'—घटरामायण

१. नीचे से ऊपर—स्थूल से सूक्ष्म।

मन से सुनिए॥६॥ शरीर में बिखरी हुई सुरत की सब धार-रूप सुगन्ध आकाश में उठती हुई चलती है और उस मण्डल में वह भ्रमर-सदृश खेलती हुई अनहद ध्वनि से संतुष्ट होती है॥७॥ शरीर के अन्दर पवित्र ज्योति जलती है। दृष्टि से दर्शन होते ही सब दोष नाश को प्राप्त होते हैं॥८॥ अधर (आकाश) की धारा में अमृत बहकर आता है, उस धारा में सत्य-धर्म के द्वार पर आरती करनेवाला अभ्यासी अमर-रस में भींजता है॥९॥ उस अमर-रस को पीकर सुरत मस्त होती है और विशेष-से-विशेष ऊपर चढ़ाई करके और उल्लसित होकर अमृत-रस में रीझती है॥१०॥ करोड़ों सूर्य के सदृश प्रकाशमान सौन्दर्य प्रकाशित है, अलख के[२] पार[३] लखकर संबंध लगा लीजिए॥११॥ सुरत को क्षण-क्षण अधर पर रखे, तो गुरु-प्रसाद से अगम रस पीवै॥१२॥ तुलसी साहब कहते हैं कि गुरु-धाम (परम पुरुष-पद) चमकता हुआ ध्वनित होता है। हे सुरत! तू अलल पक्षी* की भाँति उलटकर अर्थात् बहिर्मुख से अन्तर्मुख होकर तीनों शरीरों को छोड़ दे॥१३॥

॥ मूल पद्य ॥

पैठ मन पैठ दरियाव दर आप में, कँवल बीच झाज में कमठ राजै।
होत जहाँ सोर घनघोर घट में लखै, निरख मन मौज अनहद बाजै॥
गगन की गिरा पर सुरत से सैल कर, चढ़ै तिल तोड़ घर अगम साजै।
दास तुलसी कहै पछिम के द्वार पर, साहिब घर अद्‌भुत विराजै॥

अर्थ–अपने शरीर-रूप-समुद्र के अन्दर अरे मन! प्रवेश कर, प्रवेश कर। कमल के बीच जहाज में कछुआ* शोभता है अर्थात् जिस

---

२. सारशब्द

३. शब्दातीत

*जस अलल अण्ड अकार डारै, उलटि घर अपने गई।
यहि भाँति सतगुरु साथ भेटै, कर अली आनन्द लई॥ –घटरामायण

अलल चिड़िया आकाश में रहती है। वह घोंसला नहीं बनाती है। आकाश में ही अण्डा छोड़ती है। आकाश से नीचे गिरते-गिरते अण्डा फूटता है और बच्चा हो जाता है। उसमें पर जम जाता है और उसकी आँखें भी खुल जाती हैं। जमीन के नजदीक आते-आते उसे ज्ञान होता है कि यह मेरे रहने का स्थान नहीं है। वह लौटकर अपनी माता के पास चला जाता है। –अनुराग-सागर, कबीर-पंथ का एक ग्रन्थ।

*यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता:॥ –गीता, २।५८

भाँति कच्छप अपनी सर्वेन्द्रियों को अपने में प्रविष्ट कर रहता है, उसी भाँति जो साधक अपनी सर्वेन्द्रियगत चेतन-धारों को अपने अन्दर संयमित कर–समेटकर रख सकता है, वह आज्ञा-कमल के केन्द्र-विन्दु-रूप जहाज में शोभा पाता है। अपने शरीर के अन्दर जहाँ घनघोर ध्वनि होती है, वहाँ लखै अर्थात् देखे तथा उसे देख और अनहद ध्वनि को सुनकर मन में आनन्दित हो॥ अन्तराकाश के शब्द पर सुरत से यात्रा करे और अन्धकार के तिल को तोड़कर अगम घर अर्थात् परमात्म-धाम की तैयारी करे। सन्त तुलसी साहब कहते हैं कि पश्चिम के द्वार पर अर्थात् प्रकाश* मण्डल से ऊपर आरोहण के द्वार पर परम प्रभु का आश्चर्यमय मन्दिर शोभा पाता है।

॥ मूल पद्य ॥

स्त्रुति चढ़ि गई अकाश में, सोर भया ब्रह्मण्ड ॥
सोर भया ब्रह्मण्ड, अण्ड में धधक चढ़ाई ।
जब फूटा असमान, गगन में सहज समाई ॥
सुन्न सहर के बीच, ब्रह्म से भया मिलापा ।
परमातम पद लेख, देख कर भया हुलासा ॥
तुलसी गति मति लखि पड़ी, निरखि लखा सब अण्ड ।
स्त्रुति चढ़ि गई अकाश में, सोर भया ब्रह्मण्ड ॥

शब्दार्थ–सुन्न सहर=शून्य शहर, भौतिक तत्त्वों से रहित मण्डल। लेख=देव।

अर्थ–ध्यान-साधना के द्वारा जीवात्मा वा सुरत आकाश में चढ़ गई और ब्रह्माण्ड में जोर की आवाज हुई। तात्पर्य यह कि सुरत की पिण्ड से ब्रह्माण्ड में चढ़ाई होने पर अनहद ध्वनि की अनुभूति हुई॥

अर्थात् कछुआ जैसे सब ओर से अंग समेट लेता है, वैसे ही जब यह पुरुष इन्द्रियों को उनके विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर हुई है–ऐसा कहा जाता है।

*हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥१५॥

–ईशावास्योपनिषद्

अर्थात् आदित्य-मण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषण! मुझ सत्यधर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिए तू उसे उघाड़ दे॥१५॥

ब्रह्माण्ड में अग्नि की लपट की भाँति सुरत ऊपर चढ़ी और वहाँ (ब्रह्माण्ड में) गम्भीर नाद सुन पड़ा। नयनाकाश-स्थित प्रथम अन्धकार-आकाश के फूटते ही स्वाभाविक दूसरे आकाश–प्रकाश में सुरत समा गई॥ शून्य शहर के बीच में ब्रह्म-साक्षात्कार हुआ। परमात्म-पद के देव को देखकर प्रसन्नता हुई॥ तुलसी साहब कहते हैं कि जब सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को देखा, तो बुद्धि की चाल देखने में आई। सुरत आकाश में चढ़ गई और ब्रह्माण्ड में जोर की आवाज हुई॥

॥ संत तुलसी साहब की वाणी समाप्त ॥

सन्तप्रवर रैदासजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

राम मैं पूजा कहा चढ़ाऊँ? फल अरु फूल अनूप न पाऊँ ।टेक॥
थन तर दूध सो बछरू जुठारो, पुष्प भँवर जल मीन बिगारो ।
चन्दन तरु बेधियो भुजंगा, विष अमृत दोऊ इक संगा ॥
मन ही पूजा मन ही धूप, मन ही सेऊँ सहज सरूप ।
पूजा अरचा न जानूँ तेरी, कह रैदास कौन गति मेरी ॥

अर्थ—हे राम! मैं आपकी पूजा में क्या अर्पण करूँ? अर्थात् आपके पूजार्थ समर्पण करनेयोग्य कोई वस्तु है ही नहीं; क्योंकि फल और फूल, किसी को भी मैं अनुपम नहीं पाता॥ (यदि मैं आपको दुग्ध, पुष्प वा जल चढ़ाना चाहूँ तो) बछड़े ने अपनी माता के स्तन में ही दूध को जूठा कर दिया है, भँवर ने फूल को और मछली ने जल को बिगाड़ डाला है। (यदि मैं आपको चन्दन-लेप करना चाहूँ तो) सर्प ने (अपने विष से उस) चन्दन-वृक्ष को भी बेध डाला है, जिससे विष और अमृत, दोनों मिलकर एकीभूत हो गये हैं (फिर आपकी अर्चना करूँ कैसे?)॥

अतएव मैं आपकी मानस पूजा करता हूँ; मन से ही आपको धूप देता हूँ और मन से ही सहज स्वरूप का सेवन भी करता हूँ। मैं आपके (अन्य प्रकार के) पूजन वा अर्चन को नहीं जानता। सन्त रविदासजी कहते हैं कि (हे प्रभु! अब) मेरी क्या गति होगी (आप ही जानें)॥

॥ संतप्रवर रैदासजी की वाणी समाप्त ॥

सन्त धन्ना भगतजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

भ्रमत फिरत बहु जनम बिलाने, तनु मनु धनु नहिं धीरे ।
लालच बिषु काम लुबधे राता, मनि विसरे प्रभ हीरे ।रहाउ॥
विषु फल मीठ लगे मन बहुरे, चार विचार न जानिआ ।
गुन तें प्रीति बढ़ी अनभाँती, जनम मरन फिरि तानिआ ॥१॥
जुगति जानि नहिं रिदै निवासी, जलत जाल जमफंध परे ।
विषु फल संचि भरे मन ऐसे, परम पुरुष प्रभ मन विसरे ॥२॥
गिआन प्रवेश गुरुहि धनु दीआ, धिआनु मानु मन एक मये ।
प्रेम भगति मानी सुखु जानिआ, त्रिपति अघाने मुकति भये ॥३॥
जोति समाए समानी जाकै, अछली प्रभु पहचानिआ ।
धन्ने धनु पाइआ धरणीधरु, मिलि जनु सन्त समानिआ ॥४॥

अर्थ–चौरासी लाख योनियों में घूमते-फिरते बहुत जन्म बीत गए; तन, मन, धन स्थिर नहीं है। लालच के विष से काम में लोभित हो विषयों में रत हो गया और मन से परमात्म-रूप हीरे को भूल गया॥ पागल मन को विषय-विष का फल मीठा लगता है, वह आचार-विचार नहीं जानता। त्रिगुण (रज, सत्त्व और तम) से बेतरह प्रेम बढ़ गया। फलस्वरूप पुनः जन्म-मरण के ताने-बाने में अर्थात् आवागमन के चक्र में पड़ गया॥१॥ हृदय-निवासी परमात्मा की प्राप्ति की युक्ति नहीं जानने के कारण यम-जाल के फन्दे में फँसकर जलते हैं–दुःखी होते हैं। इस प्रकार मन विषय-रूप विष-फल को इकट्ठा कर अपने को भर लेता है और परम पुरुष परमात्मा को भूल जाता है॥२॥ गुरु ने ज्ञान-रूप धन को (हृदय में) प्रविष्ट करा दिया, जिसके द्वारा ध्यान करने से मानो मन एक में लय हो गया। प्रेम-भक्ति का सुख जानकर मन मान गया, तृप्ति हुई, सन्तुष्टि हुई और आवागमन के चक्र से वा शरीर और संसार के बंधन से मुक्त हो गया॥३॥ जिसकी सुरत ज्योति में समाकर (शब्द में) समा गई, उसने असली प्रभु को पहचान लिया। सन्त धन्ना भगतजी कहते हैं कि सन्त के समान जन से मिलकर धरणीधर परमात्म-रूप धन को प्राप्त किया॥४॥

॥ सन्त धन्ना भगतजी की वाणी समाप्त ॥

सन्त मलूक दासजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

तेरा मैं दीदार दीवाना।
घड़ी-घड़ी तुझे देखा चाहूँ, सुन साहेब रहमाना॥
हुआ अलमस्त खबर नहिं तन की, पीया प्रेम पियाला।
ठाढ़ होऊँ तो गिर गिर पड़ता, तेरे रंग मतवाला॥
खड़ा रहूँ दरवार तिहारे, ज्यों घर का बन्दाजादा।
नेकी की कुलाह सिर दीये, गले पैरहन साजा॥
तौजी और निमाज न जानूँ, ना जानूँ धरि रोजा।
बाँग जिकर तब ही से बिसरी, जब से यह दिल खोजा॥
कहै मलूक अब कजा न करिहौं, दिल ही सों दिल लाया।
मक्का हज्ज हिये मैं देखा, पूरा मुरशिद पाया॥

शब्दार्थ—दीदार=दर्शन। दीवाना=पागल। रहमाना=दयालु। अलमस्त=मतवाला। घर का बन्दाजादा=खानाजाद गुलाम अर्थात् खरीदे हुए सेवक का पुत्र, जो मालिक के घर में जन्म लेता है। नेकी=भलाई। कुलाह=टोपी। पैरहन=एक प्रकार का कुरता, जो गले से लेकर पैर तक रहता है। साजा=पोशाक। तौजी=वारी। रोजा=व्रत, उपवास, महीने भर का वह उपवास, जिसको मुसलमान लोग रमजान के महीने में करते हैं। बाँग=अजान, वह ऊँचा शब्द या कुरान का मन्त्रोच्चारण, जो नमाज का समय बताने के लिए मुल्ला मस्जिद में करते हैं। जिकर=जप। कजा=त्रुटि। हज्ज=हज, मुसलमानों का काबे के दर्शन के लिए मक्का जाना। मुरशिद=गुरु।

पद्यार्थ—तुम्हारे दर्शन के लिए मैं पागल हूँ। हे दयालु प्रभु! सुनो, मैं तुम्हें क्षण-क्षण देखना चाहता हूँ॥ तुम्हारे प्रेम का प्याला पान कर मैं मतवाला हो गया हूँ—अपने शरीर की सुधि नहीं है। तुम्हारे प्रेम-रंग में मैं इस भाँति मस्त हो गया हूँ कि खड़ा होता हूँ, तो गिर-गिर पड़ता हूँ॥ भलाई की टोपी सिर पर देकर और गले से लेकर पैर तक पहरावा पहनकर मैं तुम्हारे दरवाजे पर खानाजाद गुलाम (घर में उत्पन्न सेवक) की तरह खड़ा रहता हूँ॥ मैं तौजी और नमाज नहीं जानता अर्थात् नमाज के समयों पर नमाज पढ़ना नहीं जानता और न मैं रोजा

रखता हूँ। मैंने जबसे इस दिल की खोज की है, तबसे अजान देना और जप करना भी भूल गया हूँ॥ बाबा मलूक दासजी कहते हैं कि अब मैं त्रुटि नहीं करूँगा; क्योंकि मैंने दिल से दिल लगा दिया है अर्थात् तन-मन को निज-मन में लगा दिया है। मैंने पूरे गुरु को प्राप्त कर मक्का और हज को अपने अन्दर देखा॥

॥ मूल पद्य ॥

अब मैं अनुभव पदहि समाना।
सब देवन को भर्म भुलाना, अविगति हाथ बिकाना॥
पहला पद है देई-देवा, दूजा नेम-अचारा।
तीजे पद में सब जग बंधा, चौथा अपरम्पारा॥
सुन्न महल में महल हमारा, निरगुण सेज बिछाई।
चेला गुरु दोउ सैन करत है, बड़ी असाइस पाई॥
एक कहे चल तीरथ जइये, (एक) ठाकुर द्वार बतावै।
परम जोति के देखे सन्तो, अब कछु नजर न आवै॥
आवागमन का संशय छूटा, काटी जम की फाँसी।
कह मलूक मैं यही जानि के, मित्र कियो अविनासी॥

अर्थ—अब मैं (परम समाधि में प्राप्त) अनुभवपद—शुद्धात्म-पद में लीन हो गया—समा गया। भ्रमित बुद्धि में सब देव-ज्ञान को पकड़े था, उसको अब भूल गया और सर्वव्यापी परमात्मा पर अपने को न्योछावर कर दिया॥ पहला पद देवी-देवताओं का है और दूसरा पद नेम-आचार का। तीसरा पद संसारासक्ति का है, जिसमें सभी सांसारिक लोग बँधे हुए हैं और चौथा पद अनादि-अनंत परमात्मा का स्वरूप है॥ शून्य महल में मेरा घर है, उसमें निर्गुण सेज बिछी हुई है, जिसमें गुरु और चेले दोनों बहुत आराम पाकर सोते हैं॥ कोई तीर्थ जाने के लिए कहते हैं, कोई ठाकुरद्वारा जाने के लिए बताते हैं। हे संतो! परम ज्योति का दर्शन पाकर अब कुछ नजर में नहीं आता॥ आवागमन का संशय छूट गया और यम की फाँसी काट दी। संत मलूक दासजी कहते हैं कि यही जानकर मैंने अविनाशी को मित्र बनाया॥

॥ मूल पद्य ॥

रस रे निर्गुन राग से, गावै कोइ जाग्रत जोगी।
अलग रहै संसार से, सो इस रस का भोगी॥१॥
भरम करम सब छाँड़, अनूठा यह मत पूरा।
सहजै धुन लागी रहै, बाजे अनहद तूरा॥२॥
लहरैं उठती ज्ञान की, बरसैं रिमझिम मोती।
गगन-गुफा में बैठ कै, देखै जगमग जोती॥३॥
शिव नगरी आसन किया, सुन ध्यान लगाया।
तीनों दसा विसार के, चौथा पद पाया॥४॥
अनुभव उपजा भय गया, हद तज बेहद लागा।
घट उँजियारा होइ रहा, जब आतम जागा॥५॥
सब रंग खेलै सम रहै, दुविधा मनहिं न आनै।
कह मूलक सोई रावला, मेरे मन मानै॥६॥

पद्यार्थ—वाह रे रस! जिसको कोई जगा हुआ योगी (तुरीयावस्था में स्थित योगी) प्राप्त करता है अर्थात् जिसको निर्गुण नाद के ध्यान में मग्न रहनेवाला योगी प्राप्त करता है। जो इस संसार से अलग रहता है, सो इस रस का भोगी होता है॥१॥ संसार में भरमानेवाले सब कर्मों को छोड़कर स्वाभाविक बजनेवाली अनहद ध्वनि की तुरही के ध्यान में वह योगी लगा रहता है, उसका मत अपूर्व और पूर्ण है॥२॥ वह आज्ञाचक्र में जगमग ज्योति और मोती की रिमझिम वर्षा देखता है और उसके अन्दर ज्ञान की लहरें उठती हैं॥३॥ उसने शिवनेत्र में अपनी स्थिरता कर ली और शून्य में ध्यान लगा लिया। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति; तीनों अवस्थाओं की दशा भूलकर चौथी अवस्था तुरीय पद उसने प्राप्त किया॥४॥ उसको अनुभव ज्ञान प्राप्त हो गया, उसका भव-डर मिट गया। वह ससीमता की सीमा छोड़कर असीम में लग गया। जब उसे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ, उसका घट प्रकाश से पूर्ण हो गया॥५॥ वह योगी संसार के सब कर्तव्यों को करते रहकर समत्व में रहता है। वह द्वैत भाव मन में नहीं लाता है। संत मूलक दासजी कहते हैं कि वह राजा या श्रेष्ठ पुरुष है, मेरा मन ऐसा मानता है अथवा मेरे मन में वह पसन्द आता है॥६॥

॥ सन्त मूलक दासजी की वाणी समाप्त ॥

सन्त भीखा साहब की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

उठ्यो दिल अनुमान हरि ध्यान॥
भर्म करि भूल्यो आपु समान। अब चीन्हों निज पति भगवान॥
मन वच क्रम दृढ़ मन परवान। वारो प्रभु पर तन मन प्रान॥
शब्द प्रकाश दियो गुरु दान। देखत सुनत नैन बिनु कान॥
जाको सुख सोइ जानत जान। हरि रस मधुर कियो जिन पान॥
निर्गुन ब्रह्म रूप निर्वान। 'भीखा' जल ओला गलतान॥

अर्थ–भ्रम-वश मन भूला हुआ था, हरि-ध्यान के अनुमान से जगा–सचेत हुआ और अपने में समाया अर्थात् अन्तर्मुख हुआ। अब उसने प्रभु-भगवान को पहचाना। मन, वचन और कर्म से ईश्वर विषय में दृढ़ हुआ। मन को प्रमाण मिला। प्रभु परमात्मा पर तन, मन और प्राण को न्योछावर कर दिया॥ शब्द और प्रकाश गुरु ने दान दिये, जिनको बिना आँख और बिना कान के देखता और सुनता हूँ॥ जिसका सुख वही जानता है, जो इस रहस्य को जानता है, जिसने कि हरि के मधुर रस का पान किया है॥ निर्गुण ब्रह्म निर्वाण-रूप है। भीखा साहब कहते हैं कि जैसे जल में ओला गलकर एक होता है, वैसे ही ब्रह्म से मिलाप होकर एकता होती है॥

॥ मूल पद्य ॥

धुनि बाजत गगन महँ वीणा। जहाँ आपु रास रस भीना ।।टेक॥
भेरी ढोल शंख शहनाई, ताल मृदंग नवीना।
सुर जहँ बहुतै मौज सहज उठि, परत है ताल प्रवीना ॥१॥
बाजत अनहद नाद गहागह, धुधुकि धुधुकि सुर भीना।
अँगुली फिरत तार सातहुँ पर, लय निकसत भिन भीना ॥२॥
पाँच पचीस बजावत गावत, निर्त चारु छवि दीना।
उघरत तननन धिृतां धिृतां, कोउ ताथेइ थेई तत कीना ॥३॥
बाजत जल तरंग बहु मानो, जंत्री जंत्र कर लीना।
सुनत सुनत जिव थकित भयो, मानो ह्वै गयो शब्द अधीना ॥४॥
गावत मधुर चढ़ाय उतारत, रुनझुन धीना।
कटि किंकनी पग नूपुर की छवि, सुरति निरति लौलीना ॥५॥

आदि शब्द ॐकार उठत है, अटुट रहत सब दीना।
लागी लगन निरन्तर प्रभु सों, 'भीखा' जल मन मीना॥६॥

भावार्थ—रास-नृत्य-गान, बाजाओं और उनके सुर-तान के चढ़ाव और उतार आदि में जो रत होता है, उसकी उपमा देकर अनहद नादों के अभ्यास में डूबकर उसमें रस प्राप्त करके वर्णन करते हैं कि अन्तराकाश में वीणा, ढोल, शंख, शहनाई और मृदंग के नये-नये ताल की स्वाभाविक मौजें उठती रहती हैं॥१॥ उन स्वाभाविक अनहद नाद के गहागह सुर में वे भींग गये हैं। उनकी सुरत सातो स्थान (१. आज्ञाचक्र, २. सहस्त्रदल कमल, ३. त्रिकुटी, ४. शून्य, ५. महाशून्य, ६. भँवर गुफा और ७. सतलोक) पर फिरती रहती है, मानो सात तारवाले बाजे पर बजानेवाले की अँगुलियाँ फिरती रहती हैं, जिनमें भिन्न-भिन्न प्रकार के सुर और लय निकलते रहते हैं॥२॥ स्थूल शरीर पाँच तत्त्वों और पचीस प्रकृतियों का संघात-रूप है। [पृथ्वी तत्त्व—हाड़, मांस, बाल, त्वचा, नाड़ी। जलतत्त्व—रक्त, वीर्य, मज्जा, मूत्र, पसीना। अग्नितत्त्व—भूख, प्यास, नींद, आलस्य, जँभाई (हाफी)। वायुतत्त्व—चलना, बोलना, बल करना, पसरना, सिकुड़ना। आकाशतत्त्व—काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार] इसी संघात में बहुत-सी ध्वनियाँ होती हैं। मानो पाँच-पचीस बजाते-गाते हैं और यह सुन्दर आकृति (शरीर) इसी संघात की देन है। इसी संघात में 'तननन ध्रितां ध्रितां ताथेई थेई तत' आदि तरंगित होते रहते हैं॥३॥ बहुत-से जल-तरंग बजते हैं, जैसे कि बजानेवाले हाथ में बाजा लिये हुए हैं। अनहद नादों को सुनते-सुनते मन थक गया है, मानो वह शब्द के अधीन हो गया हो॥४॥ सुरत की शब्द में विशेष लवलीनता हो गई॥५॥ आदिशब्द ॐ की ध्वनि हो रही है, वह अटूट रूप से सब दिन विद्यमान रहता है। इस तरह उस शब्द के द्वारा प्रभु से निरंतर लगन लगी रहती है। मछली जिस तरह पानी में सुखी रहती है, उसी तरह भीखा भी शब्द में सुखी है॥६॥

॥ मूल पद्य ॥

करो विचार निर्धार अवराधिये, सहज समाधि* मन लाव भाई।
अब जक्त की आस तें होहु नीरास, तब मोच्छ दरवार की खबर पाई॥

* सहज समाधि भावना की समाधि नहीं है, यह तुरीयातीतावस्था में होती है, जिनके संबंध में कबीर साहब और पलटू साहब की वाणियाँ हैं—

न तो भर्म अरु कर्म बिच भोग भटकन लग्यो,
जरा अरु मरन तन वृथा जाई।
'भीखा' मानै नहीं कोटि उपदेश शठ,
थक्यो वेदान्त युग चारि गाई॥

अर्थ–हे भाई! विचार निश्चय करके आराधना करो और सहज समाधि में मन लगाओ। जब सांसारिक आशाओं से निराश होओ, तब मुक्ति के दरबार की सुधि मिलेगी॥ अन्यथा अज्ञानता और अशुभ कार्मों के फल-स्वरूप उससे उत्पन्न भोगों में भटकते रहोगे और बुढ़ापा एवं मृत्यु में पड़कर व्यर्थ ही शरीर नष्ट होगा। संत भीखा साहब कहते हैं कि करोड़ों उपदेश करो वा अध्यात्म-ज्ञान की शिक्षा एक युग की कौन कहे, चतुर्युग-पर्यन्त देते-देते थक जाओ; लेकिन मूर्ख उसको नहीं मानता॥

॥ सन्त भीखा साहब की वाणी समाप्त ॥

सन्त राधास्वामी साहबजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

मुरलिया बाज रही, कोई सुने सन्त धर ध्यान।
सो मुरली गुरु मोहि सुनाई, लगे प्रेम के बान॥
पिण्डा छोड़ अण्ड तज भागी, सुनी अधर में अपूरब तान।
पाया शब्द मिली हंसन से, खैंच चढ़ाई सुरत कमान॥
यह वंशी सतनाम वंश की, किया अजर घर अमृत पान।
भँवरगुफा ढिग सोहं बंसी, रीझ रही मैं सुन-सुन तान॥
इस मुरली का मर्म पिछानो, मिली शब्द की खान।
गई सुरत खोला वह द्वारा, पहुँची निज अस्थान॥
सत्त पुरुष धुन बीन सुनाई, अद्भुत जिनकी शान।
जिन-जिन सुनि आन यह बंसी, दूरी किया सब मन का मान॥

साधो सहज समाधि भली.........।
शब्द निरंतर से मन लागा, मलिन वासना भागी॥
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी ताड़ी लागी।.......॥ –संत कबीर साहब

'तुरीया सेति अतीत सोधि फिर सहज समाधी।
भजन तेल की धार साधना निर्मल साधी॥' –संत पलटू साहब

सुरत सम्हारत निरत निहारत, पाय गई अब नाम निशान।
अलख अगम और राधास्वामी, खेल रही अब उस मैदान॥

अर्थ–(अपने अन्दर में) मुरली बज रही है, कोई सन्त ध्यान करने पर सुनता है। इस मुरली को मुझे गुरु ने सुनाया, (जिसे सुनकर मुझे) प्रेम का तीर लग गया॥ पिण्ड छोड़ ब्रह्माण्ड को भी त्यागकर भाग गया और अन्तराकाश में मैंने अपूर्व-अद्‌भुत तान सुनी। सुरत-रूप धनुष को खींचकर चढ़ाया और शब्द को पाकर पवित्र आत्माओं से मिला॥ यह सत्तनाम-रूप बाँस की वंशी है। मैंने अजर घर (सत्तलोक) में अमृत पान किया। भँवर-गुफा के निकट सोऽहंरूप वंशी की तान सुन-सुनकर मैं प्रमुदित हो रहा हूँ॥ इस मुरली के रहस्य की पहचान करो। इसका मिलना, मानो शब्द की खान का मिलना है। जिस द्वार पर जाकर यह मुरली मिलती है, उस द्वार पर सुरत गई, उसको खोला और निज स्थान को पहुँची॥ सत्तपुरुष जिनका आश्चर्यमय प्रभाव है, ने बीन की ध्वनि सुनाई। जिन-जिन्होंने आकर इस वंशी को सुना, सबने अपने मन के अहं को दूर कर दिया॥ चेतनवृत्ति को सँभालते-सँभालते और विशेष रत होकर देखते-देखते अब नाम का चिह्न मैंने पा लिया है। राधास्वामी साहब कहते हैं कि अब उस अलख और अगम अर्थात् दृश्य और बुद्धि के परे के मैदान में चेतन-आत्मा क्रीड़ा कर रही है।

॥ संत राधास्वामीजी की वाणी समाप्त ॥

जैन सन्त श्रीसिंगा साहब की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

निर्गुण ब्रह्म है न्यारा कोई, समझो समझन हारा ॥टेक॥
खोजत ब्रह्मा जनम सिराणे, मुनि जन पार न पाया।
खोजत खोजत शिवजी थाके, वो ऐसा अपरम्पारा॥१॥
शेष सहसमुख रहे निरन्तर, रैन दिवस एक सारा।
ऋषि मुनि और सिद्ध चौरासी, वो तैंतीस कोटि पचिहारा ॥२॥
त्रिकुटी महल में अनहद बाजे, होत शब्द झनकारा।
सुषमन सेज शून्य में झूले, वो सोहं पुरुष हमारा ॥३॥
वेद कथे अरु कहे निर्वाणी, श्रोता कहो विचारा।
काम क्रोध मद मत्सर त्यागो, ये झूठा सकल पसारा ॥४॥

एक बूँद की रचना सारी, जाका सकल पसारा।
सिंगा जो भर नजरा देखा, वोही गुरू हमारा ।।५।।

अर्थ—निर्गुण ब्रह्म (त्रिगुण—रज, सत्त्व और तम से) भिन्न है, कोई समझनेवाला इसको समझो॥ उस निर्गुण ब्रह्म की खोज में ब्रह्मा ने अपने जन्म को बिता दिया और मुनि लोग भी उसका अन्त नहीं पा सके। वह असीम तत्त्व ऐसा है कि उसकी खोज करते-करते शिवजी भी थक गये॥१॥ हजार मुखवाले शेषनाग दिन-रात एक समान लगातार खोजते रहे। ऋषि, मुनि, चौरासी सिद्ध और तैंतीस करोड़ देवता भी जी-तोड़ परिश्रम करके थक गये॥२॥ त्रिकुटी-महल में अनहद बाजे के शब्द झंकृत होते हैं। अन्तराकाश में सुषुम्ना की सेज (शय्या) झूल रही है और शून्य में हमारा सोहं पुरुष है॥३॥ वेद कहता है और निर्वाणी सन्त कहते हैं—हे श्रोता! विचारकर कहो। काम, क्रोध, अहं और डाह का परित्याग करो, ये सभी फैलाव झूठे हैं ॥४॥ यह सम्पूर्ण सृष्टि एक बूँद से बनी है। जिनकी यह समस्त रचना है, उनको जिन्होंने आत्म-दृष्टि से देखा है, वे ही हमारे गुरु हैं; **ऐसा सन्त श्रीसिंगाजी महाराज कहते हैं॥५॥**

॥ संत श्रीसिंगाजी की वाणी समाप्त ॥

बाबा कीनारामजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

मदिया मैं पियबौं बनाइ, मैं कलवारिन होयबौं ।।१।।
मन महुआ गुरुज्ञान जवर कर, तन को भठी बनइबौं।
ब्रह्म अगिन को प्रकट कियो है, मदुए नाम चुएबौं ।।२।।
यह तन बोतल नीके साफ करि, निर्मल ज्ञान भरैबौं।
प्रेम प्याला ढारि ढारि पियबौं, तब हरि के दास कहैबौं ।।३।।
ये मद पियले सुर नर माते, सन्त भये मतवाले।
शिव सनकादि आदि ब्रह्मा ले, पियते प्रेम पियाले ।।४।।
पियत पियत मन मगन भयो है, प्रगटे ज्ञान लखैबौं।
'किनाराम' गुरु के सत महिमा, फिर न यह तन पैबौं ।।५।।

पद्यार्थ—मैं मद्य बनाकर पिऊँगा, मैं कलवारिन बनूँगा॥१॥ मन-महुआ को गुरु-ज्ञान से मिलाकर तन की भट्ठी बनाऊँगा। ब्रह्म-अग्नि को मैंने प्रकट किया है, नाम-रूपी मद्य चुआऊँगा॥२॥ इस शरीर-रूप बोतल को अच्छी तरह साफ करके पवित्र ज्ञान से भराऊँगा। उस

नाम-रूप मद्य को प्रेम के प्याले में ढाल-ढालकर पिऊँगा, तब हरि का दास कहलाऊँगा॥३॥ इस मद्य को पीने से देवता और मनुष्य माते हैं और सन्त मतवाले हुए हैं। शिव, सनकादि और ब्रह्मा इस मद्य को प्रेम के प्याले में लेकर पीते हैं॥४॥ इस मद्य को पीकर मेरा मन मग्न हुआ है। अब प्रत्यक्ष में ही ज्ञान का प्रचार करूँगा। कीनारामजी महाराज कहते हैं कि यह गुरु की सत्य महिमा है, मैं फिर इस तन को नहीं पाऊँगा। तात्पर्य यह कि मैं जन्म-मरण से रहित हो गया हूँ, मुझे फिर दूसरा जन्म नहीं लेना पड़ेगा॥५॥

॥ बाबा कीनारामजी की वाणी समाप्त ॥

समर्थ स्वामी रामदासजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

रे भाई! गैबी मरद सो न्यारे, वे ही अल्ला के प्यारे ॥
देहरा तुटेगा मशीदी फुटेगा, लुटेगा सब हय सो।
लुटत नहीं फुटत नहीं, गैबी सो कैसो रे भाई ॥
हिन्दू मुसलमान महज्यब चले, येक सिरजन हारा।
साहब आलम कूँ चलावे, सो आलम थीं न्यारा ॥

अर्थ–अरे भाई! गैबी–अज्ञात–अव्यक्त पुरुष जो है, सो अनोखा वा विलक्षण है। हे ईश्वर के प्यारे भक्त! वे ही अर्थात् गैबी पुरुष ही स्थिर हैं। देव-मन्दिर और मस्जिद टूटेंगे–फूटेंगे। जो सब हैं, सब लुट जायँगे। जो लुटता नहीं–फूटता नहीं, सो गैबी पुरुष कैसा है? हिन्दू और मुसलमान के मजहब अलग-अलग चल पड़े हैं। परन्तु यह सिरजनहार ईश्वर गैबी पुरुष एक है, जो समस्त संसार को चलाता है, सो संसार से न्यारा है॥

॥ समर्थ स्वामी रामदासजी की वाणी समाप्त ॥

सन्त शाह फकीरजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

ध्यान लगावहु त्रिकुटी द्वार। गहि सुषमना बिहंगम सार ॥
पैठि पाताल में पश्चिम द्वार। चढ़ि सुमेरु भव उतरहु पार ॥
हफ्त कमल नीके हम बूझा। अठयें बिना एको नहिं बूझा ॥
'शाह फकीरा' यह सब धन्द। सुरति लगाउ जहाँ वह चन्द ॥

अनहद तानहिं मनहिं लगावै। सो भूला प्रभु-लोक सिधावै ॥
सुनतहिं अनहद लागै रंग। बरि उठै दीपक बरै पतंग ॥
'शाह फकीरा' तहाँ समावै। चिरुवा पानी नदी मिलावै ॥
मन कच्छी असि जोर है, मानत नाहीं धीर।
कड़ा लगाम दे के पकरु, सच्चे 'शाह फकीर' ॥

अर्थ–त्रिकुटी (इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का मिलन-स्थान) के द्वार पर ध्यान लगाओ। मध्यवर्त्ती धारा सुषुम्ना को पकड़कर पक्षी की उड़ान के असली रास्ते पर चलो॥ अन्दर में प्रवेश कर प्रकाश के द्वार से चलो और सबसे ऊँचाई पर चढ़कर संसार-सागर को पार कर जाओ॥ सात मण्डलों को वा कमलों (मूलाधार चक्र से सहस्त्रदल कमल तक) को हमने अच्छी तरह बूझा। आठवें मण्डल अर्थात् सहस्त्रदल कमल के ऊपर की त्रिकुटी में पहुँचे बिना, निचले मण्डल–आज्ञाचक्र और सहस्त्रदल कमल में दर्शित अनेके प्रकार की ज्योतियों के अतिरिक्त एक-ही-एक ज्योति अर्थात् सूर्य नहीं बूझने में आया॥ शाह फकीर कहते हैं कि कहे हुए स्थानों के प्रकाश, मलिन माया के ही तेज हैं; अतएव धुन्ध यानी अंधकार ही हैं। मलिन माया के धुन्द-पद से आगे निर्मल माया के चन्द्रपद में सुरत लगाओ। जो कोई अनहद तान में सुरत लगाता है, वह संसार को भूलकर प्रभु-परमात्मा के लोक को जाता है। अनहद के सुनते ही ईश्वर-प्रेम का रंग लगता है। दीपक जल उठता है और सूर्य दीप्तिमान होता है॥ फकीर शाह कहते हैं कि वहाँ समाइये, जहाँ चुल्लू के पानी को अर्थात् जीवात्मा को चेतन की धारा की नदी में मिलाते हैं॥ मन-रूपी कच्छी घोड़ा यानी कच्छ देश का घोड़ा बड़ा जोराबर है, धीर नहीं मानता है (विषयों की ओर जोर से भागता ही रहता है) हे सच्चे साधक! उस घोड़े को विचार और साधनाभ्यास की कड़ी लगाम देकर जोर से पकड़ो।

॥ सन्त शाह फकीरजी की वाणी समाप्त ॥

सन्त सेवग दासजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

सब दानव देव पुनंग कहा, यह धर्म है चारूँ बरण का रे।
पुंन नर अरु नार अंतज येहि, फिर मुसलमान हिन्दुन का रे ॥

तुम पड़ा पिंजर में पेश करो, नर यहि है राह रसूल का रे ।
कहै 'सेवग' रामहिं राम रटो, निज जानिये मूल मंत्र का रे ॥

अर्थ–दानव, देव और क्या नपुंसक (पुनंग=देवलोक के नपुंसक) यह चारो वर्णों का धर्म है। फिर नर, नारी, अन्त्यज, इस्लाम-धर्मी और वैदिक धर्मावलम्बी का भी यही धर्म है॥ तुम अपने को शरीर के अंदर के रास्ते में आगे करो। हे नर! यही रास्ता पैगम्बर का है। सेवग कहता है कि राम ही राम निज मूल मंत्र है, यह जानकर तुम इसी को रटा करो॥

॥ सन्त सेवग दासजी की वाणी समाप्त ॥

स्वामी निर्भयानंदजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

गोला मारै ज्ञान का, सन्त सिपाही कोय ।
उत्कट जिग्यासु बनै, अजब उजाला होय ॥
अजब उजाला होय, अँधेरा सब ही नासै ।
अन्तरमुख हो लखै, आत्मा अपनो भासै ॥
कहै 'निर्भयानन्द', होय जिग्यासु भोला ।
सन्त सिपाही कोय, ज्ञान का मारै गोला ॥

अर्थ–कोई संत-सिपाही ज्ञान का गोला मारते हैं। प्रचंड खोजी बनने पर आश्चर्यमय प्रकाश होता है। आश्चर्यमय प्रकाश के होने पर अंधकार निःशेष होकर नष्ट हो जाता है। जो कोई अंतर्मुख होकर देखता है, उसे अपने आत्मस्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। स्वामी निर्भयानन्दजी कहते हैं कि निष्कपट-सीधा स्वभाववाला जिज्ञासु होकर कोई संत-सिपाही ज्ञान का गोला मारते हैं॥

॥ स्वामी निर्भयानन्दजी की वाणी समाप्त ॥

सन्त स्वामी हरिदासजी (हरि पुरुषजी) की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

अब मैं हरि बिन और न जाँचू, भजि भगवंत मगन ह्वै नाचूँ ।
हरि मेरा करता हूँ हरि कीया, मैं मेरा मन हरि कूँ दीया ॥
ज्ञान ध्यान प्रेम हम पाया, जब पाया तब आप गमाया ।
राम नाम व्रत हिरदै धारूँ, परम उदार निमिख न विसारूँ ॥

गाय-गाय गावे था गाया, मन भया मगन गगन मठ छाया।
जन 'हरिदास' आस तजि पासा, हरि निरगुण निजपुरी निवासा॥

अर्थ—अब मैं हरि को छोड़ दूसरे को नहीं जाँचता हूँ। भगवंत को भजकर मग्न होकर नाचता हूँ। हरि मेरा बनानेवाला प्रभु है, मैं उनका दास हूँ। मैंने अपना मन प्रभु को दे दिया है॥ मैंने ज्ञान, ध्यान और प्रेम पाया है और जब पाया, तब अपने-आपको गँवा दिया है। राम-नाम का व्रत हृदय में धारण करता हूँ। वह राम परम उदार हैं, उनको मैं एक पल नहीं भूलता हूँ॥ गा-गाकर गाता था और गाया है, मन डूब गया है और गगन में मठ बनाया है। भक्त हरिदासजी कहते हैं कि पास की आशाओं को छोड़कर निर्गुण हरि की निज पुरी में निवास करता हूँ॥

॥ सन्त स्वामी हरिदासजी की वाणी समाप्त ॥

गुरु तेगबहादुरजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

जो नर दुःख में दुःख नहिं मानै।
सुख सनेहु अरु भय नहिं जाकै, कंचन माटी जानै॥
नहिं निंदिया नहिं उसतति जाकै, लोभु मोहु अभिमाना।
हरष सोग ते रहै निआरउ, नाहिं मान अपमाना॥
आसा मनसा सकल तिआगै, जग ते रहै निरासा।
काम क्रोध जिन्ह परसै नाहिन, तिह घट ब्रह्म निवासा॥
गुर कृपा जिउ नर कउ कीनी, तिह इह जुगति पछानी।
नानक लीन भइयो गोविन्द सिउ, जिअ पानी सँगि पानी॥

अर्थ—जो मनुष्य दुःख में दुःख नहीं मानता है, सुख, प्रीति और डर जिसको नहीं है, जो सोने को मिट्टी जानता है, जो निन्दा और स्तुति से परे है, जिसको लोभ, मोह और अभिमान नहीं है, जो हर्ष-शोक से न्यारा है, जिसको मान और अपमान नहीं है, जो सब आशा और इच्छा का त्यागी है और संसार में आशा-रहित रहता है, जिसको काम-क्रोध नहीं छूते हैं, उसी के घट में ब्रह्म के वास की प्रत्यक्षता होती है॥ जिस मनुष्य पर गुरु ने कृपा की है, वही इस युक्ति को पहचानता है। वह ईश्वर में लीन हो जाता है, जैसे पानी में पानी—यह गुरु नानकदेवजी कहते हैं।

॥ गुरु तेगबहादुरजी की वाणी समाप्त ॥

संत बखनाजी की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

सोई जागै रे सोई जागै रे। राम नाम ल्यो लागै रे॥
आप अलंवण नीन्द अयाणा। जागत सूता होय सयाणा॥
तिंहि बिरिया गुरु आया। जिंनि सूता जीव जगाया॥
थी तो रैणि घणेरी। नीन्द गई तब मेरी॥
डरताँ पलक न लाऊँ। हूँ जग्यो और जगाऊँ॥
सोवत सुपना माहीं। जागूँ तो कछु नाहीं॥
सुरति की सुरति विचारी। तब नेहा नीन्द निवारी॥
एक सबद गुरु दीया। तिहि सोवत बैठा कीया॥
'बखना' साथ सभागा। जे अपने पहरे जागा॥

व्याख्या—जो राम-नाम (वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक दोनों) में लौ लगाता है, वही जगता है—वही जगता है (जगना दो प्रकार का है—बुद्धि अर्थात् विचार-द्वारा अध्यात्म-पक्ष में सचेत होना और ध्यानयोग-द्वारा तुरीय अवस्था में पहुँचकर अध्यात्म-पक्ष की अनुभूतियों को प्राप्त करते रहना)॥ अज्ञानी पुरुष अहंकार के अवलम्ब से नींद में रहता है। (न वह विचार-द्वारा अध्यात्म-पक्ष में जाग्रत रहता है और न तुरीयावस्था की अनुभूतियों को पाता है।) अध्यात्म-पक्ष में चेता हुआ पुरुष जागता हुआ सोता है॥

(वह अध्यात्म-पक्ष में जागा हुआ संसार की ओर से सोता रहता है—'सकल दृस्य निज उदर मेलि सोवइ निद्रा तजि योगी।') उस समय में, जबकि जीव को जगाना चाहिए, गुरु आये, जिन्होंने सोये हुए जीव को जगाया॥ रात तो बहुत थी अर्थात् अज्ञानता बहुत थी; परन्तु गुरु के जगाने से मेरी नींद तब चली गई॥ अब डरता हुआ रहकर नहीं सोता हूँ। अपने जगा हुआ हूँ और दूसरों को जगाता हूँ॥ जब सोता हूँ अर्थात् अज्ञानता में रहता हूँ, तो संसार-रूप स्वप्न देखने के अन्दर रहता हूँ। जब जग जाता हूँ, तो यह संसार-रूप स्वप्न कुछ नहीं रहता॥ जब चेतन आत्मा के स्वरूप का विचार किया, तब सांसारिक प्रीति की नींद का निवारण किया॥ गुरु ने एक शब्द दिया, उन्हीं ने सोते से जगाकर, सचेत कर बैठा दिया॥ सन्त बखनाजी कहते हैं कि जिसने गुरु का साथ

किया और अपने समय में अपने को जगाया, वह भाग्यवान हुआ॥

॥ सन्त बखनाजी की वाणी समाप्त ॥

परम भक्तिन मीराबाई की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

लागी मोहि राम खुमारी हो॥
रमझम बरसै मेहड़ा, भीजै तन सारी हो।
चहुँ दिस चमकै दामिणी, गरजै घन भारी हो॥
सतगुरु भेद बताइया, खोली भरम किवारी हो।
सब घट दीसै आतमा, सब ही सूँ न्यारी हो॥
दीपक जोऊँ ज्ञान का, चढ़ूँ अगम अटारी हो।
'मीराँ' दासी राम की, इमरत बलिहारी हो॥

अर्थ—मुझे राम की मादकता लग गई है॥ रिमझिम मेघ बरसता है और सारा शरीर भींजता है अर्थात् ध्यान के अन्तर-साधन में अन्तराकाश के अन्दर चेतन-ज्योति की झड़ी लगी हुई है, जिसके असर से सारा शरीर सराबोर है। चारो ओर बिजली चमक रही है और मेघ का भारी गर्जन हो रहा है। मतलब यह कि दृष्टियोग व शब्द-योग के साधन से अंदर में उपर्युक्त अनुभूतियाँ हो रही हैं॥ इसका भेद सद्गुरु ने बताया है, जिसके साधनाभ्यास से माया का किवाड़ जो बन्द था, वह खुल गया। सब शरीरों में सब मायिक तत्त्वों से भिन्न आत्म-तत्त्व का दर्शन हो रहा है॥ ज्ञान का दीपक देख रही हूँ और अगम अटारी चढ़ रही हूँ। राम की दासी मीरा कहती है कि इस अगम अटारी में के अमृत की बलिहारी है।

॥ मूल पद्य ॥

ऊँची अटरिया लाल किवड़िया, निरगुण सेज बिछी॥
पचरंगी झालर शुभ सोहै, फूलन फूल कली।
बाजूबन्द कड़ूला सोहै, मांग सिन्दूर भरी॥
सुमिरण थाल हाथ में लीन्हा, शोभा अधिक भली।
सेज सुखमणाँ 'मीरा' सोवै, शुभ है आज घड़ी॥

अर्थ—('ब्रह्माण्डलक्षणं सर्वदेहमध्ये व्यवस्थितम्।')

—ज्ञानसंकलिनी तंत्र

अर्थात् देह में सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड है। 'जो पिण्डे सो ब्रह्माण्डे।'

'बूँद समानी समुँद में, यह जाने सब कोय।
समुँद समाना बूँद में, बूझै बिरला कोय॥'

—कबीर साहब

'सागर महिं बूँद, बूँद महि सागरु,
कवणु बुझै विधि जाणै।'

—गुरु नानकदेव

पिण्ड और ब्रह्माण्ड के प्रसाद की छत के ऊपर की अटारी या ऊँचे भवन में लाल किवाड़ी अर्थात् ज्योतिर्मय आवरण लगा है। उसमें पाँच तत्त्वों के पीले, नीले, उजले, काले और लाल रंग के झालर-युक्त परदे लगे हुए हैं, जो शुभ और शोभित हैं और फूलों की कलियाँ खिल गई हैं अर्थात् अन्दर दिव्य मंडल खुल गये हैं और उस अटारी के अंदर निर्गुण सेज अर्थात् शान्ति-सुखदायक निर्गुण तत्त्व विद्यमान है॥

[हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥१५॥

—ईशावास्योपनिषद्

अर्थात् आदित्य-मण्डलस्थ ब्रह्म का मुख ज्योतिर्मय पात्र से ढका हुआ है। हे पूषन्! मुझ सत्यधर्मा को आत्मा की उपलब्धि कराने के लिए तू उसे उघाड़ दे॥१५॥]

मन-भुजा पर दम-रूपी कड़ा और शम-रूपी बाजूबंद शोभा पा रहे हैं तथा मूर्द्धा में ज्योति का लाल सिन्दूर विकसित है॥ आरती उतारने के लिए सुमिरण का थाल मन-रूप भुजा के हाथ में ले लिया है।

[जप तप संयम साधना, सब सुमिरन के माहिं।
कबीर जाने भक्त जन, सुमिरन सम कछु नाहिं॥
सुमिरन सुरत लगाय के, मुख थैं कछू न बोल।
बाहर के पट देइ के, अन्तर के पट खोल॥

—संत कबीर साहब]

यह बहुत अच्छी शोभा हो रही है। सुषुम्ना की सेज पर मीरा चैन पा रही है, आज का समय बहुत शुभ है॥

॥ मूल पद्य ॥

फागण के दिन चार, होरी खेल मना रे ॥
बिन करताल पखावज बाजै, अनहद की झनकार रे ॥
बिन सुर राग छतीसूँ गावै, रोम-रोम रणकार रे ॥
सील संतोष की केसर घोली, प्रेम प्रीत पिचकार रे ॥
उड़त गुलाल लाल भयो अंबर, बरसत रंग अपार रे ॥
घट के सब पट खोल दिये हैं, लोक लाज सब डार रे ॥
होरी खेल पीव घर आये, सोई प्यारी पिय प्यार रे ॥
'मीराँ' के प्रभु गिरिधर नागर, चरण कँवल बलिहार रे ॥

अर्थ—अच्छे दिन बहुत अल्प होते हैं, इसलिए रे मन! जीवन-रूपी होली पर्व में तू प्रसन्नता मनाओ॥ बिना हाथ के पखावज बजता है और अनहद शब्द की झनकार होती है। बिना लय और स्वर के छत्तीसों राग गाता है और रोम-रोम में वह शब्द गूँजता है॥ शील अर्थात् सचाई और नम्रता के साथ व्यवहार और संतोष की केशर घोलकर प्रेम-प्रीति की पिचकारी बना ले॥ गुलाल के उड़ने से आकाश लाल* हो गया और अनेक प्रकार के रंग बरसते हैं॥ सभी लोक-लज्जा को फेंककर घट के सभी आवरण (स्थूल, सूक्ष्म, कारण आदि) खोल दिये हैं॥ (इस तरह) होली खेलकर (जो) पीव-परमात्मा के घर जाते हैं, वही जीव-रूप स्त्री परमात्म-रूप पति से प्यार की जाती है॥ मीराबाई कहती हैं कि मेरे सर्वश्रेष्ठ प्रभु तो कृष्ण-परमात्मा हैं, उनके चरणकमल में मैं अपने को न्योछावर करती हूँ॥

॥ मूल पद्य ॥

गली तो चारों बंद हुई, मैं हरि से मिलूँ कैसे जाय ॥
ऊँची नीची राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय ॥
सोच-सोच पग धरूँ जतन से, बार-बार डिग जाय ॥
ऊँचा नीचा महल पिया का, म्हाँसूँ चढ्यो न जाय ॥

---

* साधक को अन्तराकाश में कई प्रकार के रंगों की ज्योतियाँ दरसती हैं।

स्याही सुरख सफेदी होई। जरद जाति जंगाली सोई।।—संत तुलसी साहब

इसी सुरख—लाल ज्योति को देखकर मीराजी कहती हैं कि आकाश लाल हो गया है, मानो गुलाल या अबीर उड़ रहा हो।

पिया दूर पंथ म्हारो झीणो, सुरत झकोला खाय॥
कोस-कोस पर पहरा बैठ्या, पैंड-पैंड बटमार॥
हे विधना कैसी रच दीनी, दूर बसायो म्हारो गाँव॥
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, सतगुरु दई बताय॥
जुगन-जुगन की बिछड़ी मीरा, घर में लीनी लाय॥

अर्थ—परम भक्तिन मीराबाईजी कहती हैं कि मेरी चारों गलियाँ* बंद हो गईं, मैं परम प्रभु परमात्मा से जाकर कैसे मिलूँगी? उस प्रभु के पास जाने की राह ऊँची-नीची और फिसलनेवाली है, जिसपर सुरत-रूपी पाँव स्थिर नहीं हो पाता॥ सोच-विचारकर यत्नपूर्वक पैर (सुरत) रखती हूँ; किन्तु बारंबार पिछड़ जाता है—स्थिर नहीं रह पाता॥ सब ऊँचा-नीचा सर्वव्यापक प्रभु का महल है, मुझसे चढ़ा नहीं जाता है। प्रभु सुदूर हैं, रास्ता सूक्ष्म है और हमारी सुरत डगमगाती है॥ उस मार्ग के स्थान-स्थान पर ऋद्धि-सिद्धि-रूप रोकनेवाला और पद-पद पर षट् विकार बटमार हैं। हे विधाता! तूने कैसी रचना की है कि मेरे निवास-स्थान को दूर में बसाया है॥ मीराबाई कहती हैं कि मेरे गिरिधर नागर को सद्गुरु ने मुझे बता दिया, जिससे युगों की बिछड़ी हुई मीरा ने अपने को शरीर-गृह में लाकर प्रभु को प्राप्त किया॥

॥ परम भक्तिन मीराबाईजी की वाणी समाप्त ॥

महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज की वाणी

॥ मूल पद्य ॥

सब क्षेत्र क्षर अपरा परा पर, औरु अक्षर पार में।
निर्गुण सगुण के पार में, सत् असत् हू के पार में॥१॥
सब नाम-रूप के पार में, मन बुद्धि वच के पार में।
गो गुण विषय पँच पार में, गति भाँति के हू पार में॥२॥

---

*स्थूल भौतिक जगत् से सूक्ष्म भौतिक जगत्—जिसमें जुगनू, दीपक, तारे और चन्द्रादि का प्रकाश है, में जाने की पहली गली है। सूक्ष्म भौतिक जगत् के रात्रि-प्रकाश-से सूक्ष्म तथा कारण भौतिक जगत् के दिन के प्रकाश में जाने की दूसरी गली है। उक्त दिन के प्रकाश से महाकारण और चिन्मय जगत् (अभौतिक आत्म-ज्योति-सह अन्तर्नाद) में प्रवेश करने की तीसरी गली है और उस अन्तर्नाद से अनाहत ध्वन्यात्मक आदिनाद ग्रहण करने की चौथी गली है अर्थात् चिन्मय पद से सत्शब्द के द्वारा उस पद को पार कर शब्दातीत (अनाम) पद में लीन होने की गली को चौथी गली कहते हैं।

सुरत निरत के पार में, सब द्वन्द्व द्वैतन्ह पार में।
आहत अनाहत पार में, सारे प्रपञ्चन्ह पार में ।।३।।
सापेक्षता के पार में, त्रिपुटी कुटी के पार में।
सब कर्म काल के पार में, सारे जञ्जालन्ह पार में ।।४।।
अद्वय अनामय अमल अति, आधेयता गुण पार में।
सत्ता-स्वरूप अपार सर्वाधार, मैं-तू पार में ।।५।।
पुनि ओऽम् सोऽहम् पार में, अरु सच्चिदानंद पार में।
हैं अनंत व्यापक व्याप्य जो, पुनि व्याप्य व्यापक पार में ।। ६।।
हैं हिरण्यगर्भहु खर्व जासों, जो हैं सान्तन्ह पार में।
सर्वेश हैं अखिलेश हैं, विश्वेश हैं सब पार में ।।७।।
सत् शब्द धरकर चल मिलन, आवरण सारे पार में।
सद्गुरु करुण कर तर ठहर, धर 'मँहीँ' जावे पार में ।।८।।

शब्दार्थ–क्षेत्र=शरीर। क्षर=नाशवान। अपरा=अपरा प्रकृति। परा=परा प्रकृति। अक्षर=अविनाशी। (भगवद्गीता के अनुसार तीन पुरुष हैं–क्षर पुरुष, अक्षर पुरुष और पुरुषोत्तम–गीता, अध्याय १५, श्लोक १६ तथा १७)। सत्=अपरिवर्त्तनशील पदार्थ, परा प्रकृति, अक्षर पुरुष, निर्गुण। असत्= परिवर्त्तनशील पदार्थ, अपरा प्रकृति, क्षर पुरुष, सगुण। सापेक्षता= ऐसे दो शब्द, जो अत्यन्त संबंधित हों; परन्तु उनके अर्थ एक-दूसरे से विपरीत हों, जैसे–दिन-रात, अच्छा-बुरा, हर्ष-शोक आदि; इस तरह के शब्दों से नहीं वर्णित होनेयोग्य गुणवाले 'सापेक्षता के पार में' कहलाते हैं। त्रिपुटी=अत्यन्त संबंधित तीन-तीन शब्द; जैसे–भक्ति-भक्त-भगवंत, ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय, ध्यान-ध्याता-ध्येय इत्यादि। कुटी=स्थान। त्रिपुटी कुटी=त्रिपुटी से संबंधित स्थान। आधेयता=अवलम्बित होने का गुण। ओऽम्=अनाहत आदिनाद, प्रणव ध्वनि, सत्शब्द। सोऽहम्=वह शब्द, जिसके मिलने से परमात्मा और अपने में एक तत्त्व होने का ज्ञान होता है। व्यापक=सबमें प्रविष्ट और फैलकर रहनेवाला। व्याप्य जिसमें व्यापक हुआ जाय, प्रकृति। हिरण्यगर्भ=ज्योतिर्मय ब्रह्म, व्यावहारिक सत्ता, ब्रह्मा।

पद्यार्थ–जो सब शरीरों यानी स्थूल, सूक्ष्म, कारण, महाकारण तथा कैवल्य (जड़-विहीन चेतन), सभी नाशवानों, अपरा प्रकृति–

निम्नकोटि की प्रकृति–परिवर्त्तनशील दशावाली जड़ प्रकृति–असत्; परा प्रकृति–उच्च कोटि की प्रकृति–अपरिवर्त्तनशील● दशा वाली जीव-रूपा* चेतन प्रकृति–सत्; इन उभय प्रकृतियों और परिवर्त्तनशील दशा-रहित अविनाशी तत्त्व के परे है। जो त्रिगुण-रहित परा प्रकृति तथा त्रिगुण-सहित अपरा प्रकृति के परे और सत्-असत् के भी परे है॥१॥ जो समस्त नाम-रूपों के परे, मन, बुद्धि और वचन के परे है, जो पञ्चेन्द्रिय और पंच विषयों (रूप, रस, गंध, स्पर्श और शब्द) के परे है, चलने वा हिलने-डोलने और किसी प्रकार कहे जाने के भी परे है॥२॥ जो सुरत की संलग्नता से परे है, सभी द्वैत (प्रपञ्च) के झगड़ों से परे है, जो ठोकर से और बिना ठोकर से होनेवाले शब्दों के परे और सारी सृष्टि के परे है॥३॥ जो सापेक्षता और त्रिपुटी स्थान के परे है, जो सब कर्म और समय के परे है और सभी उलझन-झंझटों के परे है॥४॥ जो अद्वितीय, रोग-रहित, अत्यन्त पवित्र और अवलम्बित रहने के गुण के परे है, जो स्वरूप से स्थितिवान, असीम, सबका आधार और मैं-तू के परे है॥५॥ पुनः जो ॐ-सोऽहम् के परे है और सच्चिदानंद ब्रह्म ✱ के परे है, जो अनंत, व्यापक और व्याप्य है, फिर व्याप्य और व्यापक के परे भी है॥६॥ जिससे हिरण्यगर्भ–ज्योतिर्ब्रह्म भी निम्न कोटि का है, जो अंत-सहितों के परे है, (वही) सबका ईश्वर-प्रभु, सम्पूर्ण जगदादि का ईश्वर, विश्व का स्वामी सबके परे है॥७॥ महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज कहते हैं कि उस परम प्रभु सर्वेश्वर से मिलने के लिए सत्शब्द यानी चेतन शब्द–प्रणव-ध्वनि को ग्रहण कर (स्थूल, सूक्ष्मादि) सारे (मायिक) आवरणों के पार में चलो। सद्गुरु के दयामय हस्त के नीचे ठहरकर और उसे धरकर या उसका सहारा लेकर कथित सब आवरणों के पार में जाओगे॥८॥

● महाभारत, शान्ति पर्व, उत्तरार्द्ध, मोक्ष-धर्म, अध्याय १०४

* श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ७, श्लोक ५।

✱ सच्चिदानंद ब्रह्म और व्यावहारिक सत्ता के विषय में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक महोदय कृत गीता-रहस्य, पृष्ठ २११ तथा 'कल्याण' के वेदान्त अंक, संवत् १९९३ वि०, पृष्ठ १८७ में देखिये। और पंचम संस्करण सत्संग-योग, द्वितीय भाग का पृष्ठ २३६ और तृतीय भाग का २८० देखिये।

॥ मूल पद्य ॥

अव्यक्त अनादि अनंत अजय, अज आदि मूल परमातम जो।
ध्वनि प्रथम स्फुटित परा धारा, जिनसे कहिये स्फोट है सो ॥१॥
है स्फोट वही उद्गीथ वही, ब्रह्मनाद शब्द ब्रह्म ॐ वही।
अति मधुर प्रणव ध्वनि धार वही, है परमातम प्रतीक वही ॥२॥
प्रभु का ध्वन्यात्मक नाम वही, है सारशब्द सत्शब्द वही।
है सत् चेतन अव्यक्त वही, व्यक्तों में व्यापक नाम वही ॥३॥
है सर्वव्यापिनि ध्वनि राम वही, सर्व-कर्षक हरि कृष्ण नाम वही।
है परम प्रचण्डिनि शक्ति वही, है शिव शंकर हर नाम वही ॥४॥
पुनि राम-नाम है अगुण वही, अकथ अगम पूर्णकाम वही।
स्वर-व्यंजन-रहित अघोष वही, चेतन ध्वनि-सिन्धु अदोष वही ॥५॥
है एक ॐ सत्नाम वही, ऋषि-सेवित प्रभु का नाम वही।
X X X X मुनि-सेवित गुरु का नाम वही।
भजो ॐ ॐ प्रभु नाम यही, भजो ॐ ॐ मेँहीँ नाम यही ॥६॥

पद्यार्थ–जो परमात्मा इन्द्रियों को अप्रत्यक्ष, आदि-अन्त-रहित, अजेय, अजन्मा और सारी सृष्टि का आदिमूल है, उस (परमात्मा) से जो धारा सर्वप्रथम प्रस्फुटित हुई यानी फूटकर निकली, उस अपरा–जड़ प्रकृति से श्रेष्ठ धारा को स्फोट कहते हैं॥१॥ वही स्फोट है, वही उद्गीथ* है, वही ब्रह्म-ध्वनि, शब्दब्रह्म और ओऽम् भी वही है। वही अत्यन्त मीठी सुरीली प्रणव-ध्वनि की धारा है और वही परमात्मा की प्रतिमूर्त्ति है॥२॥ वह परम प्रभु सर्वेश्वर का ध्वन्यात्मक नाम, सारशब्द और सत्शब्द है। वह सत्, चेतन तथा अप्रत्यक्ष (इन्द्रियों से नहीं जानने योग्य) है और वही इन्द्रियों से जानने योग्य सब (पदार्थों) में व्यापक

---

* उद्गीतमेतत्परमं तु ब्रह्म तस्मिंस्त्रयं सुप्रतिष्ठाक्षरं च।
अत्रान्तरं ब्रह्मविदो विदित्वा लीना ब्रह्मणि तत्परा योनिमुक्ताः॥७॥
–श्वेताश्वतरोपनिषद्, अध्याय १

अर्थ–उद्गीत (उद्गीथ अर्थात् ॐ) परब्रह्म है। उसमें तीन सुप्रतिष्ठित अक्षर (अ, उ, म्) हैं। ब्रह्मज्ञानी लोग भीतरी हालत (रहस्य या गुप्त भेद) जानकर ब्रह्म में लीन होते हैं अर्थात् ॐ (उद्गीत) में लीन हो जाते हैं॥७॥

(प्रभु का) नाम है।।३।। वही सबमें रमण करनेवाली, सर्वव्यापिनी राम-ध्वनि है तथा वही सबको आकृष्ट करनेवाला हरि और कृष्ण नाम है। वही परम प्रचण्डिनी शक्ति है। कल्याणकारक, क्लेशों को हरनेवाला नाम भी वही है।।४।। फिर निर्गुण राम-नाम भी वही है और अनिर्वचनीय, बुद्धि के परे, सभी कामनाओं को पूर्ण करनेवाला नाम वही है। वही स्वर-व्यंजन-विहीन, घोषित नहीं किए जाने योग्य है* और वही निर्दोष–दोष-रहित चेतन-ध्वनि का समुद्र है।।५।। वही एक 'ॐ' सत् नाम है और वही ऋषियों-द्वारा सेवित प्रभु का नाम है। महर्षि मेँहीँ परमहंसजी महाराज कहते हैं कि यही 'ॐ' शब्द प्रभु का नाम है, इसी का भजन करो।।

---

* अघोषम् अव्यञ्जनम् अस्वरं च अकण्ठताल्वोष्ठम् अनासिकं च।
अरेफ जातम् उभयोष्ठ वर्जितं यदक्षरं न क्षरते कदाचित्।।

–अमृतनादोपनिषद्

अर्थ–जो नाद-रहित, व्यञ्जन-रहित, स्वर-रहित, तालुकंठ प्रभृति उच्चारण-स्थान-रहित रेखा-रहित और दोनों ओष्ठों से नहीं उच्चरित होनेयोग्य है, उसी को अक्षर कहकर जानो। उसका कभी भी नाश नहीं होता है।

ॐ, स्फोट वा उद्गीथ के विषय में सत्संग-योग, भाग २, पंचम संस्करण, पृष्ठ २५९ में स्वामी विवेकानंदजी महाराज के तथा भाग ३, पृष्ठ २९१ में स्वामी भूमानंदजी के वचन पढ़कर देखिये।

* संतवाणी सटीक समाप्त *